जैन दर्शन और संस्कृति

(अजमेर विश्वविद्यालय द्वारा बी.ए. के पाठ्यक्रम के अन्तर्गत
जीवन विज्ञान और जैन विद्या विषय के लिए स्वीकृत)

निदेशन :
आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती संस्थान
(डीम्ड यूनिवर्सिटी)
तुलसीग्राम, लाडनूं-३४१३०६ (राजस्थान)

समाकलन : **मुनि महेन्द्रकुमार**
डॉ. भंवरलाल जोशी

प्रकाशक : जैन विश्व भारती, संस्थान

© : जैन विश्व भारती, लाडनूं

चतुर्थ संस्करण : १९९८

मूल्य : ४०.००

IBS No. 81-7195-000-0

लेजर टाइप सेटिंग :
वी एडवरटाइजर्स
मेहता चैम्बर्स, चौड़ा रास्ता, जयपुर

मुद्रक : **अग्रवाल प्रिन्टर्स एण्ड स्टेशनर्स**
जयपुर, फोन-572201

JAIN DARSHAN AUR SANSKRITI
By Acharya Mahaprajna Rs. 40/-

सम्बोध

'जैन-विद्या' भारत की प्राचीनतम विद्या-शाखाओं में से एक प्रतिष्ठित विद्या-शाखा है। किसी भी विद्या-शाखा का संबंध संप्रदाय से नहीं होता। विद्या सदा संप्रदायातीत होती है। पूजा-पाठ का संबंध संप्रदाय विशेष से होता है। विद्या कोई पूजा-पाठ नहीं है। वह चिन्तन, मनन और अनुभव से निष्पन्न एक बोध-धारा है।

जैन-विद्या ने नयवाद और अनेकांतवाद का समन्वयकारी सूत्र दिया है। उससे दार्शनिक धाराओं के बीच दूरियाँ कम की जा सकती हैं, खाइयाँ पाटी जा सकती हैं, तटस्थ दृष्टि से विचार-प्रवाह के आकलन का अवसर मिल सकता है। अजमेर विश्वविद्यालय के कुलपति तथा कुल-समिति ने जैन विद्या के विषय को विद्यार्थी के लिए सुलभ बनाकर एक आवश्यकता की सम्पूर्ति की है।

प्रस्तुत पुस्तक के संकलन और सम्पादन में मुनि महेन्द्रकुमार और डॉ. भंवरलाल जोशी ने काफी श्रम किया है, विद्यार्थी के लिए इसे सहज सुगम बनाने का यत्न किया है। मुझे विश्वास है इससे विद्यार्थीगण लाभान्वित होगा। जीवन-विज्ञान और जैन-विद्या इन दोनों का योग अध्यात्म और दर्शन का योग है। यह योग भौतिकता-प्रधान वातावरण में एक नए प्राण के संचार जैसा होगा। भौतिकता और अध्यात्म तथा अध्यात्म और विज्ञान के प्रति एक सामंजस्यपूर्ण दर्शन की आवश्यकता है। प्रस्तुत प्रयत्न से उसकी सम्पूर्ति हो सकेगी।

दि. ११.७.९०
पाली (राजस्थान)

आचार्य तुलसी

प्राक् कथन

सम्प्रदाय-निरपेक्षता (secularism) को सुरक्षित रखते हुए धर्म, दर्शन, संस्कृति आदि की विभिन्न परम्पराओं का विशुद्ध शैक्षणिक पठन-पाठन (purely academic studies) विश्वविद्यालीय पाठ्यक्रम (syllabus) का अंग बने, यह बहुत अपेक्षित है। यदि भारतीय विद्यार्थी भारतीय संस्कृति, भारतीय दर्शन, भारतीय धर्म-परम्परा, भारतीय साहित्य, भारतीय कला आदि के सैद्धान्तिक एवं यथासंभव प्रायोगिक बोध से वंचित रहेगा, तो यह कैसे माना जा सकता है कि भावी पीढ़ी भारत के गौरवशाली अतीत पर नाज करेगी या उसकी सामयिक प्रासंगिकता या संगति (relevence) की मीमांसा कर सकेगी? सचमुच, शिक्षा के क्षेत्र में उक्त विषय की सुविधा देना भारत के इतिहास को जानने के लिए ही नहीं अपितु नया इतिहास गढ़ने के लिए एक साहसिक कदम है। इसके लिए अजमेर विश्वविद्यालय की शैक्षणिक परिषद् तथा उसके कुलपति डॉ. उपाध्याय शत-शत साधुवाद के पात्र हैं। विश्वविद्यालय के बी. ए. के पाठ्यक्रम में 'जैन-विद्या' और 'जीवन-विज्ञान' के संक्षिप्त विषयों का समावेश कर विद्यार्थियों को जीवन-निर्माण के लिए एक अमूल्य अवसर प्रदान किया है।

प्रस्तुत पुस्तक उसी पाठ्यक्रम में प्रथम वर्ष के द्वितीय पत्र के पाठ्यक्रम के लिए निर्मित पाठ्यपुस्तक है। **जैन दर्शन और संस्कृति** के विशाल विषय को संक्षिप्त, सरल और रोचक रूप में प्रस्तुत करने का एक विनम्र प्रयत्न इसमें किया गया है।

'जैन-दर्शन' भारतीय दर्शनों की विभिन्न धाराओं में से एक महत्त्वपूर्ण धारा है, जिसने प्रागैतिहासिक काल से लेकर वर्तमान युग तक अपना अस्तित्व बनाये रखा है। यह उसकी प्राचीनता एवं दीर्घजीविता का साक्ष्य है।

जैन-दर्शन के तत्त्व जहाँ आध्यात्मिक अनुभूति के आधार पर स्थित हैं, वहाँ उन्हें बुद्धिगम्य बनाने के लिए हेतुवाद तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण को काम में लिया गया है।

जैन-दर्शन के इतिहास को जानने के लिए भगवान ऋषभ से लेकर वर्तमान युग तक की लम्बी यात्रा तय करनी आवश्यक है। साथ ही विशाल जैन वाङ्मय का सिंहावलोकन अपेक्षित है, जो प्राकृत और संस्कृत भाषा में तथा अनेक प्रादेशिक भाषाओं में भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

जैन संस्कृति श्रमण-संस्कृति की सशक्त धारा है जिसने संयम, अहिंसा, व्रत आदि से जन-जीवन को अप्लावित किया है, चित्रकला, शिल्पकला, स्थापत्यकला

आदि से कला-जगत् को महिमा-मंडित किया है और व्यापक भौगोलिक प्रसार-क्षेत्र से जुड़कर विश्व के विस्तृत भू-भाग को प्रभावित किया है।

प्रस्तुत पुस्तक युवाचार्य महाप्रज्ञ जैसे महान् दार्शनिक, जैन दर्शन एवं संस्कृति के मर्मज्ञ विद्वान् तथा जैन-दर्शन के प्रायोगिक क्षेत्र के प्रथम पुरस्कर्ता के निदेशन में उनकी महत्त्वपूर्ण कृति 'जैन दर्शन : मनन और मीमांसा' के आधार पर तैयार की गई है। यह ध्यान रखा गया है कि पुस्तक में प्रचुर रूप में तुलनात्मक अध्ययन के लिए सामग्री दी जाये। वैदिक, बौद्ध, सांख्य आदि अन्य भारतीय दर्शन और आधुनिक भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान, जीव विज्ञान आदि के परिप्रेक्ष्य में प्रत्येक विषय की प्रस्तुति की गई है।

पुस्तक का समाकलन युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी के मंगल आशीर्वाद एवं प्रेरक सम्बोध से ही सफलतापूर्वक हो सका है। इसके लिए हम उनके पावन चरणों में श्रद्धावनत हैं। युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ का सशक्त निदेशन स्वयं पुस्तक के कण-कण में मुखर हो रहा है। उनके प्रति भावपूर्ण समर्पण अभिव्यक्त करते हुए हमें अन्तस्तोष उपलब्ध हो रहा है।

जैन दर्शन : मनन और मीमांसा के सम्पादक विद्वद्वर मुनिश्री दुलहराजजी के प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं, जिनकी बदौलत हमारा श्रम काफी सरल हो गया है।

पुस्तक के समाकलन में जैन विश्व भारती के प्राध्यापक-गण का प्रेमपूर्ण सहयोग मिला है जिनमें पं. विश्वनाथ मिश्र, डॉ. परमेश्वर सोलंकी, श्री रामस्वरूप सोनी, श्री बच्छराज दूगड़ आदि के प्रति धन्यवाद-ज्ञापन करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता हो रही है।

अजमेर के श्री मांगीलाल जैन की सामयिक सलाहें पुस्तक को विद्यार्थी के लिए उपयुक्त बनाने में कार्यकारी रही हैं। उनके प्रति हार्दिक आभार। हमें आशा है कि जैन दर्शन और संस्कृति के अध्ययन के लिए विद्यार्थी-वर्ग को यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

दिनांक ३० जुलाई, १९९०
लाडनूं (राजस्थान)

मुनि महेन्द्र कुमार
भंवरलाल जोशी

प्रकाशकीय

विश्वविद्यालयों में स्नातकोत्तर (M.A.) कक्षाओं में 'जैन दर्शन' का विषय अनेक वर्षों से मान्य रहा है, पर स्नातक (B.A.) कक्षाओं में इस विषय का पठन-पाठन दुर्लभ है। अजमेर विश्वविद्यालय द्वारा यह नया कदम जैन दर्शन अध्ययन के क्षेत्र को एक नया विस्तार देगा। जैन विश्व भारती और ब्राह्मी विद्यापीठ, लाडनूं में जैन विद्या के अध्ययन एवं अनुसन्धान का व्यवस्थित क्रम वर्षों से चल रहा है, उसे इससे बल मिलेगा। हमारे लिए यह परम प्रसन्नता का विषय है कि "जैन दर्शन और संस्कृति" बी. ए. के छात्रों के हाथों तक पहुंचा सके हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में तीन खण्ड हैं—

१. दर्शन

२. इतिहास

३. संस्कृति

प्रथम खण्ड की सामग्री में जैन दर्शन के मौलिक एवं तात्विक सिद्धान्तों का समावेश किया गया है, जो जैन दर्शन के प्राथमिक ज्ञान के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

द्वितीय खण्ड में जैन साहित्य के प्रमुख घटना-प्रसंग, चरित्र एवं साहित्य की संक्षिप्त रूपरेखा कलात्मक रूप में प्रस्तुत है।

तृतीय खण्ड में जैन संस्कृति, जैन कला और जैन धर्म के प्रसार-क्षेत्र का संक्षिप्त विवरण की प्रस्तुति है।

प्रस्तुत कृति के प्रेरणा-स्रोत हैं—युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी, जिनके आशीर्वाद ने हमारे प्रति चरण के लिए पथ प्रशस्त किया है। श्रद्धेय युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ के निदेशन में उनकी अनेक वृत्तियों के संदोहन से इस पुस्तक का निर्माण संभव हुआ है। इन महान् पथ-दर्शकों के प्रति अनन्त श्रद्धाएं समर्पित करते हैं।

समाकलकों के रूप में मुनि श्री महेन्द्र कुमार एवं डॉ. भंवरलाल जोशी का प्रखर परिश्रम इस पाठ्य-पुस्तक के प्रत्येक पाठ में स्वयं मुखर है। पारिभाषिक शब्द-कोष विद्यार्थी के लिए एक मार्गदर्शिका (guide) का कार्य करेगा। हम इनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता के भाव अभिव्यक्त कर रहे हैं।

पाण्डुलिपि-निर्माण से लेकर मुद्रित होने तक एक-एक अक्षर की छान-बीन का परिश्रम-साध्य कार्य मुनि श्री महेन्द्र कुमार ने किया है, जिसके लिए उनके प्रति विशेष कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

प्रूफ संशोधन के कार्य में हमारे शोध विभाग के श्री रामस्वरूप सोनी, डॉ. परमेश्वर सोलंकी आदि का सक्रिय सहयोग रहा, इसके लिए हम उनके प्रति हार्दिक आभार अभिव्यक्त करते हैं।

हम आशा करते हैं विश्वविद्यालय के छात्रों को प्रस्तुत पाठ्यपुस्तक से नया आलोक और नई प्रेरणाएं मिलेंगी जो उनके जीवन-पथ को उजागर करने में प्रमुख भूमिका निभाएगी।

श्रीचन्द बैंगानी
कुलपति
जैन विश्व भारती

लाडनूं (राजस्थान)
अगस्त, १९९०

अनुक्रम

दर्शन

१. दर्शन है सत्यं शिवं सुन्दरं की त्रिवेणी १-२०

दर्शन की परिभाषा १; मूल्य-निर्णय की दृष्टियाँ ३; दर्शन की प्रणाली ५; आस्तिक दर्शन की भित्ति-आत्मवाद ५; धर्म-दर्शन ६; मोक्ष ७; सत्य की परिभाषा ८; दर्शन की उत्पत्ति ९; आगम तर्क की कसौटी पर ११; तर्क का दुरुपयोग ११; दर्शन का मूल ११; दर्शन की धाराएँ १४; जैन दर्शन की आस्तिकता १४; श्रद्धा और युक्ति का समन्वय १५; मोक्ष दर्शन १५; जैन दर्शन का आरम्भ १५; जैन दर्शन का ध्येय १६; पलायनवाद १७

२. आओ चलें अमूर्त विश्व की यात्रा पर २१-३८

विश्व का वर्गीकरण २२; अस्तिकाय २२; द्रव्य २३; आकाश और दिक् २६; दिक् २८; धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय २९; धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य का यौक्तिक आधार ३१; काल ३४; विज्ञान की दृष्टि में आकाश और काल ३४; अस्तिकाय और काल ३५; काल के विभाग ३६

३. अब निहारें परमाणु-जगत् का ताण्डव-नृत्य ३९-५५

पुद्गल ३९; परमाणु का स्वरूप ४०; पुद्गल के गुण ४१; परमाणु की अतीन्द्रयता ४२; परमाणु-समुदाय और पारमाणविक जगत् ४३; स्कन्ध-भेद की प्रक्रिया के कुछ उदाहरण ४३; पुद्गल में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ४४; पुद्गल की द्विविध परिणति ४४; पुद्गल के प्रकार ४४; पुद्गल कब से कब तक? ४५; पुद्गल का अप्रदेशित्व और सप्रदेशित्व ४५; परिणमन के तीन हेतु ४६; पुद्गलों का श्रेणी विभाग ४६; प्राणी और पुद्गल का सम्बन्ध ४८; पुद्गल की गति ४९; पुद्गल की अवस्थाएँ ४९; शब्द ५०; बन्ध ५०; सूक्ष्मता और स्थूलता ५२; छाया ५२; प्रतिबिम्ब-प्रक्रिया और उसका दर्शन ५३; प्राणी जगत् के प्रति पुद्गल का उपकार ५३; एक द्रव्य : अनेक द्रव्य ५४; सादृश्य-वैसदृश्य ५४

४. पहले अण्डा या पहले मुर्गी? ५६-६७

विश्व के आदि-बिन्दु की जिज्ञासा ५६; लोक-आलोक का परिमाण ५६; लोक-आलोक का संस्थापन ५६; लोक-स्थिति ५८; सृष्टिवाद ५८; परिवर्तन और विकास ५९; शुद्ध आत्मा का स्वरूप ६२; परिवर्तन और विकास की मर्यादा ६४; असम्भाव्य-कार्य ६४; समस्या और समाधान ६४

५. विश्व : विकास और ह्रास ६८-८१

विश्व-स्थिति का मूल सूत्र ६८; विकास और ह्रास ६९; विकास और ह्रास के कारण ७१; प्राणि-विभाग ७२; उत्पत्ति-स्थान ७३; स्थावर जगत् ७३; संघीय जीवन ७६; साधारण-वनस्पति जीवों का परिमाण ७७; प्रत्येक वनस्पति ७७; प्रत्येक वनस्पति जीवों का परिमाण ७७; इन्द्रिय-विकास की अपेक्षा से जीवों के भेद ७७; शारीरिक परिवर्तन का ह्रास या उलटा क्रम ७९; प्रभाव के निमित्त ७९

६. जन्म-मृत्यु का चक्रव्यूह ८२-८९

संसार का सेतु ८२; जन्म ८२; गर्भ ८३; गर्भ-प्रवेश की स्थिति ८४; बाहरी स्थिति का प्रभाव ८४; प्राण और पर्याप्ति ८४; इन्द्रिय-ज्ञान और पाँच जातियाँ ८६; मानस-ज्ञान और संज्ञी-असंज्ञी ८६; इन्द्रिय और मन ८७; जाति-स्मृति ८८; अतीन्द्रिय ज्ञान-योगीज्ञान ८८

७. मैं कौन हूँ? ९०-१२६

दो प्रवाह : आत्मवाद और अनात्मवाद ९०; आत्मा क्यों? ९३; भारतीय दर्शन में आत्मा के साधक तर्क ९४; जैन-दृष्टि से आत्मा का स्वरूप ९७; भारतीय दर्शन में आत्मा का स्वरूप ९९; औपनिषदिक दृष्टि और जैन दृष्टि की तुलना १०१; सजीव और निर्जीव पदार्थ का पृथक्करण १०२; जीव के व्यावहारिक लक्षण १०४; जीव के नैश्चयिक लक्षण १०५; मध्यम और विराट् परिमाण १०५; बद्ध और मुक्त १०७; शरीर और आत्मा १०८; मानसिक क्रिया का शरीर पर प्रभाव ११०; दो विसदृश पदार्थों (अरूप और सरूप) का सम्बन्ध ११०; विज्ञान और आत्मा (भौतिकवादी वैज्ञानिक की समीक्षा) १११; आत्मा पर विज्ञान के प्रयोग ११४; चेतना का पूर्वरूप क्या है? ११५; इन्द्रिय और मस्तिष्क आत्मा नहीं ११७; कृत्रिम मस्तिष्क चेतन नहीं ११८; आत्मा के प्रदेश और जीवकोष ११९; अस्तित्व-सिद्धि के दो प्रकार ११९; स्वतन्त्र सत्ता का हेतु १२१; पुनर्जन्म १२१; अन्तर-काल १२४; स्व-नियमन १२५

८. मैं हूँ भाग्य का निर्माता १२७-१४८

जगत्वैचित्र्य का हेतु १२७; आत्मा का आन्तरिक वातावरण १२८; परिस्थिति १२८; कर्म की पौद्गलिकता १२९; आत्मा और कर्म का सम्बन्ध १३०; बंध के हेतु १३०; कर्म : स्वरूप और कार्य १३१; बंध की प्रक्रिया १३३; कर्म कौन बाँधता है? १३४; कर्म-बन्ध कैसे? १३४; फल-विपाक १३४; कर्म के उदय से क्या होता है? १३५; फल की प्रक्रिया १३६; उदय १३७; अपने आप उदय में आने वाले कर्म के हेतु १३७; दूसरों द्वारा उदय में आने वाले कर्म-हेतु १३८; पुण्य-पाप १३८; मिश्रण नहीं होता है १४०; धर्म और पुण्य १४०; पुरुषार्थ भाग्य

को बदल सकता है १४०; आत्मा स्वतंत्र है या कर्म के अधीन? १४२; उदीरणा १४३; उदीरणा का हेतु १४३; निर्जरा १४३; कर्म-मुक्ति की प्रक्रिया १४४; अनादि का अन्त कैसे? १४५; लेश्या १४६; कर्मों का संयोग और वियोग : आध्यात्मिक विकास और ह्रास १४८

९. जैन दर्शन का सापेक्षवाद : स्याद्वाद **१४९-१५६**

स्याद्वाद १४९; स्याद्वाद : स्वरूप १४९; स्यतभंगी १५१; अहिंसा विकास में अनेकांत दृष्टि का योग १५३; तत्त्व और आचार पर अनेकांत-दृष्टि १५५

१०. समन्वय का राजमार्ग : नयवाद **१५७-१६१**

सापेक्ष दृष्टि १५७; भगवान महावीर की अपेक्षा-दृष्टियाँ १५८; समन्वय की दिशा १६०; समन्वय के दो स्तम्भ १६०; नय १६०; सत्य का व्याख्या-द्वार १६१

इतिहास और साहित्य

१. भगवान् ऋषभ से पार्श्व तक **१६५-१८०**

कालचक्र १६५; कुलकर व्यवस्था १६७; तीन दंड नीतियाँ १६८; खाद्य-समस्या का समाधान १६९; शिल्प और व्यवसाय १७०; सामाजिक और सांस्कृतिक परम्राओं का सूत्रपात १७०; साम्राज्य-लिप्सा १७१; युद्ध का पहला चरण १७३; भरत का अनासक्त योग १७५; श्रामण्य की ओर १७६; तीर्थंकर अरिष्टनेमि १७६; तीर्थंकर पार्श्व १७८

२. भगवान् महावीर और उनकी शिक्षाएँ **१८१-२०२**

जन्म और परिवार १८१; नाम और गोत्र १८१; यौवन और विवाह १८२; महाभिनिष्क्रमण १८२; साधना और सिद्धि १८२; धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन १८५; संघ-व्यवस्था १८७; मुनि की दिनचर्या १८७; श्रावक १८८; श्रावक के गुण १८८; शिष्टाचार १८९; भगवान महावीर के समकालीन धर्म-सम्प्रदाय १८९; महावीर के सिद्धान्त १९१; मनुष्य की ईश्वरीय सत्ता का संगान १९२; नमस्कार महामंत्र १९३; चतुःशरण सूत्र १९४; धर्म की व्यापक धारणा १९४; तप और ध्यान का समन्वय १९५; संप्रदाय-विहीन धर्म १९७; नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा १९९; निर्वाण २००

३. उत्तरकालीन परम्परा **२०३-२०६**

गणधर गौतम २०३; गणधर सुधर्मा २०३; आर्य जंबूकुमार २०४; संप्रदाय-भेद २०४; श्वेताम्बर-दिगम्बर २०५; चैत्यवास परम्परा २०५; स्थानकवासी २०५; तेरापंथ २०६

४. जैन साहित्य : संक्षिप्त परिचय **२०७-२१७**

आगमों का रचना-क्रम २०७; आगम-विभाग २०८; आगम-वाचनाएँ २०८; आगम का मौलिक रूप २०९; लेखन और लेख-सामग्री २१०; आगम के भेद-प्रभेद २१२; आगम का व्याख्यात्मक साहित्य २१३; परवर्ती प्राकृत साहित्य २१३; संस्कृत साहित्य २१४; प्रादेशिक-साहित्य २१५; हिन्दी साहित्य २१७

संस्कृति

१. जैन संस्कृति : मूल आधार **२२१-२२७**

त्याग और तप २२१; कला २२४; चित्रकला २२४; लिपि-कला २२५; जैन स्तूप २२५; मूर्तिकला और स्थापत्य कला २२५; पर्व और त्यौहार २२६

२. जैन धर्म का प्रसार **२२८-२४३**

जैन धर्म का प्रभुत्व २२८; जैन-धर्म भारत के विभिन्न अंचलों में २३१; विदेशों में जैन-धर्म २३६; जैनों के कुछ विशिष्ट तीर्थ-स्थल २३८; जैन-धर्म : विकास और ह्रास २४१

३. चिनतन के विकास में जैन आचार्यों का योग **२४४-२५६**

श्रद्धावाद-हेतुवाद २४४; प्राचीनता और नवीनता २४७; काल-हेतुक अवरोध और उनके फलित २४९; अध्यात्म का उन्मेष २५०; साधन-शुद्धि २५३; हृदय-परिवर्तन २५४; नैतिकता २५५; सर्वधर्म-समभाव और शास्त्रज्ञ २५५;

परिशिष्ट (परिभाषिक शब्दकोश) **२५७-२७२**

□□□

खण्ड १
दर्शन

१

दर्शन है सत्यं शिवं सुन्दरं की त्रिवेणी

यह संसार अनादि अनन्त है। इसमें संयोग-वियोगजन्य सुख-दुःख की अविरल धारा बह रही है। उसमें गोता मारते-मारते जब प्राणी थक जाता है, तब वह शाश्वत आनन्द की शोध में निकलता है। वहाँ जो हेय और उपादेय की मीमांसा होती है, वही दर्शन बन जाता है।

दर्शन की परिभाषा

दर्शन का अर्थ है—तत्त्व का साक्षात्कार या उपलब्धि। दर्शन की तीन विधियाँ सम्मत हैं—

(१) आलोचनात्मक ज्ञान के द्वारा प्रत्यय का अवधारण

(२) कार्य-कारण की मीमांसा के द्वारा प्रत्यय का अवधारण

(३) अनुभव के आधार पर प्रत्यय का समाकलन और अन्तर्दृष्टि के द्वारा निष्कर्ष पर पहुँचना।

वैदिक ऋषियों ने नदी, पर्वत, आकाश, वृक्ष आदि प्राकृतिक पदार्थों को देखा, एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ, दर्शन की एक धारा विकसित हो गई।

'घट' एक कार्य है। व्यवहार नय (स्थूल सत्य) की दृष्टि से वह मिट्टी से बना है और निश्चय नय (सूक्ष्म सत्य या वास्तविक सत्य) की दृष्टि से वह परमाणु-समुदय से बना है। भगवान् महावीर ने वस्तु-जगत् को समझने के लिए कार्य-कारणात्मक दृष्टिकोण दिया, दर्शन की दूसरी धारा विकसित हो गई।

भगवान् बुद्ध ने मृत, रोगी और वृद्ध व्यक्ति को देखा; मन व्याकुल हो उठा, अनुभव की भूमिका पर गए और उन्होंने दुःख का साक्षात्कार कर लिया। दर्शन की अनुभव-परक तीसरी धारा विकसित हुई।

दर्शन में बुद्धिवाद और तर्कवाद का स्थान है, पर उसमें बुद्धि और तर्क का एकाधिपत्य नहीं है। उसमें अन्तर्दृष्टि और अनुभव का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय दर्शन मूलतः अध्यात्म-विद्या अथवा योगविद्या से जुड़ा हुआ है।

पाश्चात्य दर्शन के साथ अध्यात्म-विद्या अथवा योग-विद्या की अनिवार्यता नहीं रही। चार्वाक दर्शन का उसमें विश्वास ही नहीं है। नैयायिक और वैशेषिक दर्शन मुख्यतया बुद्धि अथवा तर्क-विद्या-प्रधान है।

सब तत्त्वों में सबसे प्रमुख तत्त्व आत्मा है। जो "आत्मा को जान लेता है, वह सबको जान लेता है।"

अस्तित्व की दृष्टि से सब तत्त्व समान हैं, किन्तु मूल्य की दृष्टि से आत्मा सबसे अधिक मूल्यवान् तत्त्व है। मूल्य का निर्णय आत्मा पर ही निर्भर है। वस्तु का अस्तित्व स्वयंजात होता है, किन्तु उसका मूल्य चेतना से सम्बद्ध हुए बिना नहीं होता। 'गुलाब का फूल लाल है'—कोई जाने या न जाने, किन्तु 'गुलाब का फूल मन हरने वाला है'—यह बिना जाने नहीं होता। वह तब तक मनोहर नहीं, जब तक किसी आत्मा को वैसा न लगे। 'दूध सफेद है'—इसके लिए चेतना से सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं, किन्तु 'वह उपयोगी है'—यह मूल्य-विषयक निर्णय चेतना से सम्बन्ध स्थापित हुए बिना नहीं होता। तात्पर्य यह है कि मनोहारी, उपयोगी, प्रिय-अप्रिय आदि 'मूल्यांकन' पर निर्भर है। आत्मा द्वारा अज्ञात वस्तु-वृत्त अस्तित्व के जगत् में रहते हैं। उनका अस्तित्व-निर्णय और मूल्य-निर्णय—ये दोनों आत्मा द्वारा ज्ञात होने पर होते हैं। 'वस्तु का अस्तित्व है'—इसमें चेतना की कोई अपेक्षा नहीं, किन्तु वस्तु जब ज्ञेय बनती है तब चेतना द्वारा उसके अस्तित्व का निर्णय होता है। यह चेतना के साथ वस्तु के सम्बन्ध की पहली कोटि है। दूसरी कोटि में उसका मूल्यांकन होता है तब वह हेय या उपादेय बनती है। उक्त विवेचन के अनुसार दर्शन के दो कार्य हैं—

१. वस्तुवृत्त-विषयक निर्णय।

२. मूल्य-विषयक निर्णय।

ज्ञेय, हेय और उपादेय—इस त्रिपुटी से इसी तत्त्व का निर्देशन मिलता है। जैन दर्शन में यथार्थ ज्ञान ही प्रमाण माना जाता है। कारण यही है कि वस्तुवृत्त के निर्णय (प्रिय वस्तु के स्वीकार और अप्रिय वस्तु के अस्वीकार) में वही क्षम है।

एक विचार आ रहा है—दर्शन को यदि उपयोगी बनना हो तो उसे वस्तु-वृत्तों को खोजने की अपेक्षा उनके प्रयोजन अथवा मूल्य को खोजना चाहिए।

भारतीय दर्शन इन दोनों शाखाओं को छूता रहा है। उसने जैसे अस्तित्व-विषयक समस्या पर विचार किया है, वैसे ही अस्तित्व से संबंध रखने वाली मूल्यों की समस्या पर भी विचार किया है। ज्ञेय, हेय और उपादेय का ज्ञान उसी का फल है।

मूल्य-निर्णय की दृष्टियाँ

मूल्य-निर्णय की तीन दृष्टियाँ हैं—

१. सैद्धान्तिक (theoretical) या बौद्धिक (intellectual)

२. व्यावहारिक (pragmatic) या नैतिक (moral)

३. आध्यात्मिक (spiritual), धार्मिक (religious) या पारमार्थिक (transcendental)

इन तीन दृष्टियों से 'सत्य', 'शिव' और 'सुन्दर' का मूल्यांकन किया जा सकता है।

वस्तुमात्र ज्ञेय है और अस्तित्व की दृष्टि से ज्ञेयमात्र सत्य है। पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा की अनुभूति ही सत्य है। शिव का अर्थ है—कल्याण। पारमार्थिक दृष्टि से आत्म-विकास शिव है।

व्याहारिक दृष्टि से भौतिक (पौद्गलिक) साज-सज्जा सौन्दर्य है। सौन्दर्य की कल्पना दृश्य वस्तु में होती है। दृश्य वस्तु रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन चार गुणों से युक्त होती है। ये वर्ण आदि चार गुण किसी वस्तु में मनोज्ञ (मनपसंद) रूप में होते हैं, तो किसी में अमनोज्ञ। इनके आधार पर वस्तु सुन्दर या असुन्दर मानी जाती है।

पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा ही सुन्दर है।

पारमार्थिक दृष्टि से सत्य, शिव और सुन्दर आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि से व्यक्ति सुन्दर नहीं होता, किन्तु आत्म विकास-प्राप्त होने के कारण यह शिव होता है। इसके विपरीत जो शिव नहीं होता, वह कदाचित् व्यावहारिक दृष्टि से सुन्दर हो सकता है।

मूल्य-निर्णय की उपर्युक्त तीनों दृष्टियाँ स्थूल नियम हैं। व्यापक दृष्टि से व्यक्तियों की जितनी अपेक्षाएँ होती हैं, उतनी ही मूल्यांकन की दृष्टियाँ हैं। कहा भी है—

"न रम्यं नाऽरम्यं प्रकृतिगुणतो वस्तु किमपि,
प्रियत्वं वस्तूनां भवति च खलु ग्राहकवशात्।"

प्रियत्व और अप्रियत्व ग्राहक की इच्छा के अधीन हैं, वस्तु में नहीं। निश्चय-दृष्टि से न कोई वस्तु इष्ट है और न कोई अनिष्ट।

"तानेवार्थान् द्विषतः, तानेवार्थान् प्रलीयमानस्य।
निश्चयतोऽस्यानिष्टं, न विद्यते किंचिदिष्टं वा।"

—एक व्यक्ति एक समय जिस वस्तु से द्वेष करता है, वही दूसरे समय उसी में लीन हो जाता है, इसलिए इष्ट-अनिष्ट किसे माना जाए?

व्यवहार की दृष्टि में भोग-विलास जीवन का मूल्य है। अध्यात्म की दृष्टि में काम-भोग, दुःख हैं।

सौन्दर्य-असौन्दर्य, अच्छाई-बुराई, प्रियता-अप्रियता, उपादेयता-हेयता आदि के निर्णय में वस्तु की योग्यता निमित्त बनती है। वस्तु के शुभ-अशुभ परमाणु मन के परमाणुओं को प्रभावित करते हैं। जिस व्यक्ति के शारीरिक व्यक्ति उस वस्तु के प्रति आकृष्ट हो जाता है। दोनों का वैषम्य हो तो आकर्षक नहीं बनता। यह साम्य और वैषम्य देश, काल और परिस्थिति आदि पर निर्भर है। एक देश, काल और परिस्थिति में जिस व्यक्ति के लिए जो वस्तु हेय होती है, वही दूसरे देश, काल और परिस्थिति में उपादेय बन जाती है। यह व्यावहारिक दृष्टि है।

मूल्य के प्रत्येक निर्णय में आत्मा की संतुष्टि या असंतुष्टि अन्तर्निहित होती है। अशुद्ध दशा में आत्मा का संतोष या असंतोष भी अशुद्ध है इसलिए इस दशा में होने वाला मूल्यांकन नितांत बौद्धिक या नितांत व्यावहारिक होता है। वह शिवत्व के अनुकूल नहीं होता। शिवत्व के साधन तीन हैं—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। यह श्रद्धा, ज्ञान और आचार की त्रिवेणी ही शिवत्व के अनुकूल है। यह आत्मा की परिक्रमा किये चलती है—

दर्शन आत्मा का निश्चय है।

ज्ञान आत्मा का बोध है।

चारित्र आत्मा की स्थिति या रमण है।

यह आध्यात्मिक रत्नत्रयी है। इसी के आधार पर जैन दर्शन कहता है—आस्रव हेय है और संवर उपादेय।

यही तत्त्व आद्य शंकराचार्य (ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य) में मिलता है—

"ब्रह्म की अवगति ही परमपुरुषार्थ है, क्योंकि ब्रह्म-ज्ञान से सम्पूर्ण संसार के कारणभूत अविद्या आदि अनर्थ का नशा होना है इसलिए ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए।"

बौद्ध दर्शन के अनुसार दुःख हेय है और मार्ग उपादेय।

वेदांत के अनुसार अविद्या हेय है और विद्या उपादेय। इसी प्रकार सभी दर्शन हेय और उपादेय की सूची लिये हुए चलते हैं।

हेय और उपादेय की जो अनुभूति है, वह दर्शन है। अगम्य को गम्य बनाने वाली विचार-पद्धति भी दर्शन है। इस परिभाषा के अनुसार महापुरुषों

(आप्तजनों) की विचार-पद्धति भी दर्शन है। तत्त्व-उपलब्धि की दृष्टि से दर्शन एक है। विचार-पद्धतियों की दृष्टि से वे (दर्शन) अनेक हैं।

इस विषय में ऋग्वेद का यह सूक्त मननीय है—**"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।"**

शिवत्व के साधन की अवधारणा में कुछ दर्शनों के विचार निम्न प्रकार हैं—

सांख्य दर्शन—प्रकृति और पुरुष का विवेक

वेदान्त दर्शन—विद्या

बौद्ध दर्शन—अष्टांग मार्ग

अष्टांग हैं—

(१) सम्यक् दृष्टि (२) सम्यक् संकल्प (३) सम्यक् वचन (४) सम्यक् कर्म (५) सम्यक् आजीव (६) सम्यक् प्रधान (७) सम्यक् स्मृति (८) सम्यक् समाधि।

दर्शन की प्रणाली

दर्शन की प्रणाली युक्ति पर आधारित होती है। दर्शन तत्त्व (अस्तित्व अथवा द्रव्य और पर्याय) ये संबंध रखता है इसीलिए उसे तत्त्व का विज्ञान (Metaphysics) कहना चाहिए। तत्त्व पर विचार करने के लिए युक्ति या तर्क का सहारा अपेक्षित होता है। दर्शन के क्षेत्र में तार्किक प्रणाली के द्वारा पदार्थ, आत्मा, अनात्मा, गति, स्थिति, समय, अवकाश, पुद्गल, जीवन, मस्तिष्क, जगत्, ईश्वर आदि तथ्यों की व्याख्या, आलोचना, स्पष्टीकरण या परीक्षा की जाती है इसीलिए एकांगी दृष्टि से दर्शन की अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं :

१. जीवन की बौद्धिक मीमांसा दर्शन है।

२. जीवन की आलोचना दर्शन है।

इनमें पूर्णता नहीं, किन्तु अपूर्णता में भी सत्यांश अवश्य है।

आस्तिक दर्शन की भित्ति—आत्मवाद

अनेक व्यक्ति यह नहीं जानते कि "मैं कहां से आया हूँ? मेरा पुनर्जन्म होगा या नहीं? मैं कौन हूँ? यहाँ से फिर कहाँ जाऊँगा?"

इस जिज्ञासा से दर्शन का जन्म होता है। धर्म-दर्शन की मूल भित्ति आत्मा है। यदि आत्मा है तो वह है, नहीं तो नहीं। यहीं से आत्म-तत्त्व आस्तिकों का आत्मवाद बन जाता है। वाद की स्थापना के लिए दर्शन और उसकी सच्चाई के लिए धर्म का विस्तार होता है।

"अज्ञानी क्या करेगा जबकि उसे श्रेय और पाप का ज्ञान भी नहीं होता इसलिए पहले सत्य को जानो और बाद में उसे जीवन में उतारो।"

भारतीय दार्शनिक पाश्चात्य दार्शनिक की तरह केवल सत्य का ज्ञान ही नहीं चाहता, वह चाहता है—मोक्ष। उपनिषद् के एक प्रसंग में मैत्रेयी याज्ञवल्क्य से कहती है—"जिससे मैं अमृत नहीं बनती, उसे लेकर क्या करूँ? जो अमृतत्त्व का साधन हो, वही मुझे बताओ।" जैन आगम उत्तराध्ययन सूत्र के एक प्रसंग में कमलावती इषुकार को सावधान करती है—"हे नरदेव! धर्म के सिवाय अन्य कोई भी वस्तु त्राण नहीं है।" मैत्रेयी अपने पति से मोक्ष के साधनभूत अध्यात्म-ज्ञान की याचना करती है और कमलावती अपने पति को धर्म का महत्त्व बताती है। इस प्रकार धर्म की आत्मा में प्रविष्ट होकर वह आत्मवाद अध्यात्मवाद बन जाता है। यही स्वर उपनिषद् के ऋषियों की वाणी में से निकला—"आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किए जाने योग्य है।" तत्त्व यही है कि दर्शन का प्रारम्भ आत्मा से होता है और अन्त मोक्ष में। सत्य का ज्ञान उसका शरीर है और सत्य का आचरण उसकी आत्मा।

धर्म-दर्शन

धर्म-दर्शन की चिंतन-धारा चार बिन्दुओं पर आधारित है :

१. बंध।

२. बंध-हेतु (आश्रव)।

३. मोक्ष।

४. मोक्ष-हेतु (संवर-निर्जरा)।

संक्षेप में तत्त्व दो हैं—आस्रव और संवर, इसलिए काल-क्रम के प्रवाह में बार-बार यह वाणी मुखरित हुई है :

"आस्रवो भवहेतुः स्यात्, संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपंचनम्॥"

"भव (संसार-दशा मे आत्मा की अवस्थिति) का हेतु है—आस्रव और मोक्ष का कारण है—संवर। संक्षेप में यही है आर्हती दृष्टि (जैन दर्शन)। शेष सब इसी का विस्तार है।"

यही तत्त्व वेदांत में अविद्या और विद्या शब्द के द्वारा कहा गया है :

"अविद्या बन्धहेतुः स्यात्, विद्या स्यात् मोक्षकारणम्।
ममेति बध्यते जन्तुः न ममेति विमुच्यते॥"

अविद्या बंध का हेतु है, विद्या मोक्ष का कारण है। 'मेरा है' ऐसा मानता है, वह प्राणी बंधता है, 'मेरा नहीं' ऐसा मानता है वह प्राणी मुक्त हो जाता है।

बौद्ध दर्शन के चार आर्य-सत्य और क्या हैं? यही ते हैं :

१. दुःख—हेय।

२. समुदय—हेय हेतु।

३. मार्ग—हानोपाय या मोक्ष-उपाय।

४. निरोध—हान या मोक्ष।

यही तत्त्व हमें पातंजलि-योगसूत्र और व्यास-भाष्य में मिलता है। योगदर्शन भी यही कहता है—"विवेकी के लिए यह संयोग दुःख है और दुःख हेय है। त्रिविध दुःख के थपेड़ों से थका हुआ मनुष्य उसके नाश के लिए जिज्ञासु बनता है।"

शिवमहिम्नस्तोत्र में कहा गया है—

"रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषाम्,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥"

—जैसे सारे जल का गम्य है—"समुद्र, वैसे सभी लोगों का गम्य (मंजिल) एक तू (शिव) ही है, रुचि-विचित्रता के कारण मार्ग अनेक हैं—कोई सीधा है, कोई वक्र।" सत्य एक है, शोध-पद्धतियां अनेक। सत्य की शोध और सत्य का आचरण धर्म है। सम्प्रदाय या समाज सत्य-शोध की संस्थाएँ हैं; वे धर्म नहीं हैं। सम्प्रदाय अनेक बन गए, पर सत्य अनेक नहीं बना। सत्य शुद्ध, नित्य और शाश्वत (सदा रहने वाला) होता है। साधन के रूप में वह है अहिंसा और साध्य के रूप में वह है मोक्ष।

मोक्ष

मोक्ष और क्या है? दुःख से सुख की ओर प्रस्थान और दुःख से मुक्ति। "निर्जरा—कर्मों के दूर होने से होने वाली जो आत्मा की विशुद्धि है, वह सुख है। पापकर्म दुःख है।" भगवान महावीर की दृष्टि पाप के फल पर नहीं, पाप की जड़ पर प्रहार करती है। वे कहते हैं—"मूल का छेद करो।"

"काम-भोग क्षण मात्र के लिए सुख है, बहुत काल तक दुःख देने वाले हैं। ये संसार से मुक्त होने में बाधक हैं; इसलिए ये सुख नहीं हैं।"

"दुःख सबको अप्रिय है। संसार दुःखमय है।"

"जन्म दुःख है, बुढ़ापा दुःख है और मृत्यु दुःख है।" आत्म-विकास की जो पूर्ण दशा—मोक्ष है, वहाँ न जन्म है, न मृत्यु है, न रोग और न जरा।

आत्मा का अपना रूप सत्, चित् और आनंदघन है। आत्मा के साथ जो विजातीय सम्बन्ध है, वह हेय है। हेय नहीं छूटता, तब तक आत्मा छोड़ने-लेने की उलझन में फंसा रहता है। हेय छूटते ही वह अपने रूप में आ जाता है। फिर बाहर से न कुछ लेता है और न कुछ लेने की उसे अपेक्षा होती है; शरीर छूट जाता है, शरीर के धर्म छूट जाते हैं।

शरीर के मुख्य धर्म चार हैं—

१. आहार। २. श्वास-उच्छ्वास।

३. वाणी। ४. चिंतन।

ये रहते हैं, तब तक संसार चलता है।

सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति का वियोग होना ही मोक्ष है।

नैयायिक दर्शन के अनुसार जीवात्मा के दुःख और उसके कारणों से आत्यन्तिकी निवृत्ति मोक्ष है।

शैवदर्शन (परमार्थसार) में कहा गया है—

मोक्षस्य नैव किन्चिद् धामास्ति, न चापि गमनमन्यत्र।
अज्ञानग्रंथिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः॥"

—"मोक्ष न कोई धाम है और न कहीं गमन है! जिसने अज्ञान-ग्रंथि को तोड़ डाला है उसके लिए अपनी शक्ति की अभिव्यक्ति ही मोक्ष है।"

अद्वैत दर्शन में आत्मा की अविद्या से निवृत्ति, अनवच्छिन्न आनन्द की प्राप्ति एवं अशरीरी अवस्था को मोक्ष कहा गया है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार दुःख-निरोध ही निर्वाण (मोक्ष) है।

सत्य की परिभाषा

प्रश्न है कि सत्य क्या है? जैन आगम कहते हैं—"वही सत्य है जो जिन (आप्त और वीतराग) ने कहा है।" वैदिक सिद्धान्त में भी यही लिखा है—"आत्मा जैसे गूढ़ तत्त्व का क्षीणदोषयति (वीतराग) ही साक्षात्कार करते हैं।" उनकी वाणी अध्यात्मवादी के लिए प्रमाण है क्योंकि वीतराग अन्यथाभाषी नहीं होते। जैसे कहा है—"असत्य बोलने के मूल कारण तीन हैं—राग, द्वेष और मोह।" जो व्यक्ति क्षीणदोष है—दोषचर्या से मुक्त हो चुका, वह फिर कभी असत्य नहीं बोलता।

वीतराग अन्यथाभाषी नहीं होते—यह हमारे प्रतिपाद्य का दूसरा पहलू है। इससे पहले उन्हें पदार्थ समूह का यथार्थ ज्ञान होना आवश्यक है। यथार्थ ज्ञान

उसी को होता है जो निरावरण (ज्ञान का आवरण करने वाले कर्मों से मुक्त) हो। निरावरण यानी यथार्थद्रष्टा। वीतराग-वाक्य यानी यथार्थ-वक्तृत्व। ये दो मूल अवधारणाएँ हमारी सत्यमूलक धारणा की समानान्तर रेखाएँ हैं। इन्हीं के आधार पर हमने आप्त के उपदेश को आगम—सिद्धांत माना है। फलितार्थ यह हुआ कि यथार्थज्ञाता एवं यथार्थवक्ता से हमें जो कुछ मिला, वही सत्य है।

स्वतंत्र विचारकों का ख्याल है कि दार्शनिक परम्परा के आधार पर भारत में अंधविश्वास जन्मा। प्रत्येक मनुष्य के पास बुद्धि है, तर्क है, अनुभव है, फिर वह क्यों ऐसा स्वीकार करे कि यह अमुक व्यक्ति या अमूक शास्त्र की वाणी है, इसलिए सत्य ही है। वह क्यों न अपनी ज्ञान-शक्ति का लाभ उठाए?

महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा—"किसी ग्रंथ को स्वतः प्रमाण मत मानना, अन्यथा बुद्धि और अनुभव की प्रामाणिकता समाप्त हो जाएगी।" इस उलझन को पार करने के लिए हमें दर्शन-विकास के इतिहास पर विहंगम दृष्टि डालनी होगी।

दर्शन की उत्पत्ति

वैदिकों का दार्शनिक युग उपनिषद्काल से शुरू होता है। आधुनिक अन्वेषकों के मतानुसार लगभग चार हजार वर्ष पूर्व उपनिषदों का निर्माण होने लग गया था। लोकमान्य तिलक ने मैत्र्युपनिषद् का रचनाकाल ईसा से पूर्व १८८० से १६८० के बीच माना है।

बौद्धों का दार्शनिक युग ईसा से पूर्व पांचवीं शताब्दी में शुरू होता है।

जैनों के उपलब्ध दर्शन का युग भी यही है, यदि हम भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा को इससे न जोड़ें।

यहाँ हमने जिस दार्शनिक युग का उल्लेख किया है, उसका दर्शन की उत्पत्ति से सम्बन्ध है। वस्तुवृत्या वह निर्दिष्ट काल आगम-प्रणयनकाल है, किन्तु दर्शन की उत्पत्ति आगमों से हुई है, इस पर थोड़ा आगे चलकर कुछ विशद रूप में बताया जाएगा इसलिए प्रस्तुत विषय में उस युग को दर्शनिक युग की संज्ञा दी गई है।

दार्शनिक ग्रंथों की रचना तथा पुष्ट प्रामाणिक परम्पराओं के अनुसार तो वैदिक, जैन और बौद्ध प्रायः सभी का दर्शन-युग लगभग विक्रम की पहली शताब्दी या उससे एक शती पूर्व प्रारम्भ होता है। उससे पहले का युग आगम-युग ठहरता है। उसमें ऋषि उपदेश देते गए और उनके वे उपदेश 'आगम' बनते गये। अपने मत के प्रवर्तक ऋषि को सत्य-दृष्टा कहकर उनके

अनुयायियों द्वारा उनका समर्थन किया जाता रहा। ऋषि अपनी स्वतंत्र वाणी में बोलते हैं—"मैं यों कहता हूँ।" दार्शनिक युग में यह बदल गया। दार्शनिक बोलता है—"इसलिए यह यों है।" आगम-युग श्रद्धा प्रधान था और दर्शन-युग परीक्षा-प्रधान। आगम-युग में परीक्षा की और दर्शन-युग में श्रद्धा की अत्यंत उपेक्षा नहीं हुई। हो भी नहीं सकती। इस बात की सूचना के लिए ही यहाँ श्रद्धा और परीक्षा के आगे 'प्रधान' शब्द का प्रयोग किया गया है। आगम में प्रमाण के लिए पर्याप्त स्थान सुरक्षित है इसलिए यह व्याप्ति बन सकती है कि आगम में दर्शन है और दर्शन में आगम। तात्पर्य की दृष्टि से देखें तो अल्पबुद्धि व्यक्ति के लिए आज भी आगम-युग है और विशदबुद्धि व्यक्ति के लिए पहले भी दर्शन-युग था किन्तु एकान्ततः यों मान लेना भी संगत नहीं होता। चाहे कितना ही अल्पबुद्धि व्यक्ति हो, कुछ-कुछ तो परीक्षा का भाव उसमें होगा ही। दूसरी ओर विशुद्ध-बुद्धि के लिए भी श्रद्धा आवश्यक होगी ही इसीलिए आचार्यों ने बताया है कि आगम और प्रमाण, दूसरे शब्दों में श्रद्धा और युक्ति—इन दोनों के समन्वय से ही दृष्टि में पूर्णता आती है, अन्यथा सत्य-दर्शन की दृष्टि अधूरी ही रहेगी।

विश्व में दो प्रकार के पदार्थ हैं—इन्द्रिय-गम्य पदार्थ यानी इन्द्रियों के द्वारा जिन्हें जाना जा सकता है; अतीन्द्रिय गम्य पदार्थ—इन्द्रियों से परे किसी विशिष्ट ज्ञान से जिन्हें जाना जा सकता है। इन्द्रिय-गम्य पदार्थों को जानने के लिए युक्ति और अतीन्द्रिय-गम्य पदार्थों को जानने के लिए आगम—ये दोनों मिलकर हमारी सत्योन्मुख-दृष्टि को पूर्ण बनाते हैं। यहाँ हमें अतीन्द्रिय को अहेतुगम्य पदार्थ के अर्थ में लेना होगा, अन्यथा विषय की संगति नहीं होती, क्योंकि युक्ति के द्वारा भी बहुत सारे अतीन्द्रिय पदार्थ जाने जाते हैं। सिर्फ अहेतुगम्य पदार्थ ही ऐसे हैं, जहाँ कि युक्ति कोई काम नहीं करती। ज्ञेयत्व की अपेक्षा से पदार्थ दो भागों में विभक्त होते हैं—हेतुगम्य और अहेतुगम्य। जीव का अस्तित्व हेतुगम्य है—स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से उसकी सिद्धि होती है। रूप को देखकर रस का अनुमान, सघन बादलों को देखकर वर्षा का अनुमान होता है, यह हेतुगम्य है। पृथ्वीकायिक जीव श्वास लेते हैं, यह अहेतुगम्य है। अभव्य जीव मोक्ष नहीं जाते किन्तु क्यों नहीं जाते, इसका युक्ति में भी कहा जाता है—"स्वभावे तार्किकाः भग्नाः"—स्वभाव के सामने कोई प्रश्न नहीं होता। अग्नि जलती है, आकाश नहीं—यह तर्क के लिए स्थान नहीं है।

आगम और तर्क का जो पृथक्-पृथक् क्षेत्र बतलाया है, उसको मानकर चले बिना हमें सत्य का दर्शन नहीं हो सकता। वैदिक साहित्य ने भी सम्पूर्ण दृष्टि के

लिए उपदेश और तर्क-पूर्ण मनन तथा निदिध्यासन (गहन ध्यान या चिंतन) की आवश्यकता बतलाई है। जहाँ तर्क का अतिरंजन होता है, वहाँ एकांतिकता (एकपक्षीय आग्रह) आ जाती है। उससे अभिनिवेश, आग्रह या मिथ्यात्व पनपता है।

आगम : तर्क की कसौटी पर

यदि कोई एक ही दृष्टा ऋषि होता या सारे आगम एक ही प्रकार के होते तो आगमों को तर्क की कसौटी पर चढ़ने की घड़ी न आती किन्तु अनेक मतवाद हैं, अनेक ऋषि; किसकी बातें मानें, किसकी नहीं, यह प्रश्न लोगों के सामने आया। धार्मिक मतवादों के इस पारस्परिक संघर्ष से दर्शन का विकास हुआ।

भगवान् महावीर के समय में ३६३ मतवादों का उल्लेख मिलता है। बाद में उनकी शाखा-प्रशाखाओं का विस्तार होता गया। स्थिति ऐसी बनी कि आगम की साक्षी से अपने सिद्धान्तों की सचाई बनाये रखना कठिन हो गया। तब प्रायः सभी प्रमुख मतवादों ने अपने तत्त्वों को व्यवस्थित करने के लिये युक्ति का सहारा लिया। आगमों की सत्यता का भाग्य तर्क के हाथ में आ गया। चारों ओर **'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः'**—यह उक्ति गूंजने लगी। वही धर्म सत्य माना जाने लगा जो कष, छेद और ताप सह सके। परीक्षा के सामने अमुक व्यक्ति की वाणी का आधार नहीं रहा, वहाँ व्यक्ति के आगे युक्ति की उपाधि लगानी पड़ी—

"युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः"

—"जिसका वचन युक्तियुक्त हो, उसे ही ग्रहण करना चाहिये।'

भगवान् महावीर, भगवान् बुद्ध या महर्षि व्यास की वाणी है, इसलिए सत्य है या इसलिए मानो, यह बात गौण हो गई। 'हमारा सिद्धांत युक्तियुक्त है, इसलिये सत्य है'—इसका प्राधान्य हो गया।

तर्क का दुरुपयोग

ज्यों-ज्यों धार्मिकों में मत-विस्तार की भावना बढ़ती गई, त्यों-त्यों तर्क का क्षेत्र व्यापक बनता चला गया। न्यायसूत्रकार ने वाद, जल्प और वितण्डा को तत्त्व बताया। वाद को तो प्रायः सभी दर्शनों में स्थान मिला। जय-पराजय की व्यवस्था भी मान्य हुई, भले ही उसके उद्देश्य में कुछ अन्तर रहा हो। आचार्य और शिष्य के बीच होने वाली तत्त्वचर्चा के क्षेत्र में वाद फिर भी विशुद्ध रहा किन्तु दो विरोधी मतानुयायियों में चर्चा होती, वहाँ वाद अधर्मवाद से भी अधिक

विकृत बन जाता। मण्डनमिश्र और शंकराचार्य के बीच हुए वाद का वर्णन इसका ज्वलंत प्रमाण है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने महान् तार्किक होते हुए भी शुष्क वाद के विषय में विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि "श्रेयस् और वाद की दिशाएँ भिन्न हैं।"

भारत में पारस्परिक विरोध बढ़ने में शुष्क तर्कवाद का प्रमुख हाथ है—

"तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः, नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।"

—अर्थात् "तर्क पुष्ट आधार वाला नहीं है और श्रुतियाँ (वेद आदि ग्रंथ) भिन्न-भिन्न (प्रतिपादन कर रहे) हैं। ऐसा एक भी मुनि (ज्ञानी) नहीं है जिसका वचन प्रमाण माना जाए।"—युधिष्ठिर के ये उद्‌गार तर्क की अस्थिरता और मतवादों की बहुलता से उत्पन्न हुई जटिलता के सूचक हैं। मध्यस्थवृत्ति वाले आचार्य जहाँ तर्क की उपयोगिता मानते थे, वहाँ शुष्क तर्कवाद के विरोधी भी थे।

प्रस्तुत विषय का उपसंहार करने से पूर्व हमें उन पर दृष्टि डालनी होगी जो सत्य के दो रूप हमें इस विवरण में मिलते हैं—

१. आगम को प्रमाण मानने वालों के मतानुसार जो सर्वज्ञ ने कहा है वह तथा जो सर्वज्ञ कथित और युक्ति द्वारा समर्थित है वही सत्य है।

२. आगम को प्रमाण न मानने वालों के मतानुसार जो तर्कसिद्ध है, वही सत्य है।

किन्तु सूक्ष्म, व्यवहित, अतीन्द्रिय तथा स्वभाव-सिद्ध पदार्थों की जानकारी के लिए युक्ति कहाँ तक कार्य कर सकती है, यह श्रद्धा को सर्वथा अस्वीकार करने वालों के लिए चिंतनीय है। हम तर्क की एकांतिकता को दूर कर दें तो वह सत्य-संधानात्मक प्रवृत्ति के लिए दिव्य-चक्षु है। धर्म-दर्शन आत्म-शुद्धि और तत्त्व-व्यवस्था के लिए है, आत्मवंचना या दूसरों को जाल में फंसाने के लिए नहीं; इसलिए दर्शन के क्षेत्र में सत्य का अन्वेषण होना चाहिए। भगवान् महावीर के शब्दों में "सत्य ही लोक में सारभूत है।"

उपनिषद्‌कार के शब्दों में "सत्य ही ब्रह्मविद्या का अधिष्ठान और परम लक्ष्य है।"

"आत्म-हितेच्छु पुरुष असत्य, चाहे वह कहीं हो, को छोड़, सत्य को ग्रहण करे।"—कवि भोज यति की यह माध्यस्थ्यपूर्ण उक्ति प्रत्येक तार्किक के लिए माननीय है।

दर्शन का मूल

तार्किक विचार-पद्धति, तत्त्वज्ञान, विचारप्रयोजक ज्ञान अथवा परीक्षा विधि का नाम दर्शन है। उसका मूल उद्‌गम कोई एक वस्तु या सिद्धान्त होता है। जिस

वस्तु या सिद्धान्त को लेकर यौक्तिक विचार किया जाये, वह (विचार) दर्शन बन जाता है, जैसे—राजनीति-दर्शन, समाज-दर्शन, आत्म-दर्शन, धर्म-दर्शन आदि-आदि।

यह सामान्य स्थिति या आधुनिक स्थिति है। पुरानी परिभाषा इतनी व्यापक नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दर्शन शब्द का प्रयोग सबसे पहले 'आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले विचार' के अर्थ में हुआ है। दर्शन यानी वह तत्त्व-ज्ञान जो आत्मा, कर्म, धर्म, स्वर्ग, नरक आदि का विचार करे।

आगे चलकर बृहस्पति के लोकायत मत और अजित केशकम्बली के उच्छेदवाद तथा तज्जीव-तच्छरीरवाद जैसी नास्तिक विचारधाराएँ सामने आयीं। तब दर्शन का अर्थ कुछ व्यापक हो गया। वह सिर्फ आत्मा से ही सम्बद्ध नहीं रहा। व्यापक संदर्भ में दर्शन की परिभाषा हुई—

दर्शन-अर्थात् विश्व की मीमांसा, अस्तित्व या नास्तित्व का विचार अथवा सत्य-शोध का साधन।

पाश्चात्य दार्शनिकों की, विशेषतः कार्ल मार्क्स की विचारधारा के आविर्भाव ने दर्शन का क्षेत्र और अधिक व्यापक बना दिया। जैसा कि मार्क्स ने कहा है—"दार्शनिक ने जगत् को समझने की चेष्टा की है। प्रश्न यह है कि उसका परिवर्तन कैसे किया जाए।" मार्क्स-दर्शन विश्व और समाज दोनों तत्त्वों का विचार करता है। वह विश्व को समझने की अपेक्षा समाज को बदलने में दर्शन की अधिक सफलता मानता है। आस्तिकों ने समाज पर कुछ भी विचार नहीं किया ऐसा तो नहीं; फिर भी उनका अन्तिम लक्ष्य निःश्रेयस् (मोक्ष) रहा किन्तु निःश्रेयस् के साथ अभ्युदय (इह-लौकिक लाभ) सर्वथा उपेक्षित नहीं हुआ। कहा भी है—

यदाभ्युदयिकञ्चैव, नैश्रेयसिकमेव च।
सुखं साधयितुं मार्गं, दर्शयेत् तद् हि दर्शनम्॥"

जो अभ्युदय और निःश्रेयस्—दोनों से सम्बन्धित सुख को साधने का मार्ग दिखाए, वही दर्शन है।

नास्तिक धर्म-कर्म पर तो नहीं रुके, किन्तु फिर भी उन्हें समाज-परिवर्तन की बात नहीं सूझी। उनका पक्ष प्रायः खण्डनात्मक ही रहा। मार्क्स ने समाज को बदलने के लिए ही समाज को देखा। आस्तिकों का दर्शन समाज से आगे चलता है। उनका लक्ष्य है शरीर-मुक्ति—पूर्ण स्वतन्त्रता—मोक्ष।

नास्तिकों का दर्शन ऐहिक सुख-सुविधाओं के उपयोग में कोई खामी न रहे, इसलिए आत्मा का उच्छेद साधकर रुक जाता है। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

का लक्ष्य है—समाज की वर्तमान अवस्था का सुधार। अब हम देखते हैं कि दर्शन शब्द जिस अर्थ में चला, अब वह अर्थ उसमें नहीं रहा।

हरिभद्र सूरि ने वैकल्पिक दशा में चार्वाक मत को छह दर्शनों में स्थान दिया है। मार्क्स-दर्शन भी आज लब्धप्रतिष्ठ है; इसलिए इसको दर्शन न मानने का आग्रह करना सत्य से आंखें मूंदने जैसा है।

दर्शन की धाराएँ

दर्शनों की विविधता या विविध-विषयता के कारण 'दर्शन' का प्रयोग एक-मात्र आत्मविचार-सम्बन्धी नहीं रहा इसलिये अच्छा है कि विषय की सूचना के लिये उसके साथ मुख्यतया स्वविषयक विशेषण रहे। आत्मा को मूल मानकर चलने वाले दर्शन का मुख्यतया प्रतिपाद्य विषय धर्म है इसलिए आत्ममूलक दर्शन की 'धर्म-दर्शन' संज्ञा रखकर चलें तो विषय के प्रतिपादन में बहुत सुविधा होगी।

धर्म-दर्शन का उत्स (मूल स्रोत) आप्तवाणी (आगम) है। ठीक भी है। आधारशून्य विचार-पद्धति किसका विचार करे? सामने कोई तत्त्व नहीं तब किसकी परीक्षा करे? प्रत्येक दर्शन अपने मान्य तत्त्वों की व्याख्या से शुरू होता है। सांख्य या जैन दर्शन, नैयायिक या वैशेषिक दर्शन, किसी को भी लें, सब में स्वाभिमत तत्त्वों की ही परीक्षा है। उन्होंने अमुक-अमुक संख्याबद्ध तत्त्व क्यों माने, इसका उत्तर देना दर्शन का विषय नहीं, क्योंकि वह सत्यदृष्टा तपस्वियों के साक्षात्-दर्शन का परिणाम है। माने हुए तत्त्व सत्य हैं या नहीं, उनकी संख्या संगत है या नहीं, यह बताना दर्शन का काम है। दार्शनिकों ने ठीक यही किया है इसलिए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि दर्शन का मूल आधार आगम है।

वैदिक निरुक्तकार इस तथ्य को एक घटना के रूप में व्यक्त करते हैं। ऋषियों के उत्क्रमण करने पर मनुष्यों ने देवताओं से पूछा—"अब हमारा ऋषि कौन-होगा?" तब देवताओं ने उन्हें 'तर्क' नामक ऋषि प्रदान किया।

संक्षेप में सार इतना ही है कि ऋषियों के समय में आगम का प्राधान्य रहा। उनके अभाव में उन्हीं की वाणी के आधार पर दर्शनशास्त्र का विकास हुआ।

जैन दर्शन की आस्तिकता

जैन दर्शन परम अस्तिवादी है। इसका प्रमाण है—अस्तिवाद के चार अंगों की स्वीकृति। उसके चार विश्वास हैं—आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और

क्रियावाद। भगवान् महावीर ने कहा—"लोक-अलोक, जीव-अजीव, धर्म-अधर्म, बन्धन-मोक्ष, पुण्य-पाप, क्रिया-अक्रिया नहीं हैं, ऐसी संज्ञा मत रखो किन्तु ये सब हैं, ऐसी संज्ञा रखो।"

श्रद्धा और युक्ति का समन्वय

यह निर्ग्रंथ-प्रवचन (जैन धर्म या भगवान् महावीर के सिद्धान्त) श्रद्धालु के लिए जितना आप्तवचन है, उतना ही एक बुद्धिवादी के लिए युक्तिवचन। इसीलिए आगम-साहित्य में अनेक स्थानों पर प्रमाण की चर्चा की गई है। भगवान् महावीर ने जहाँ श्रद्धावान् को 'मेधावी' कहा है, वहाँ "मतिमन्! देख, विचार"—इस प्रकार स्वतंत्रतापूर्वक सोचने-समझने का अवसर भी दिया है। यह संकेत उत्तरवर्ती आचार्यों की वाणी में यों पुनरावर्तित हुआ—

"परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो, न तु गौरवात्।"

मोक्ष-दर्शन

"एयं पासगस्य दंसणं"—"यह दृष्टा का दर्शन है।"

सही अर्थ में जैन दर्शन कोई वादविवाद लेकर नहीं चलता। वह आत्म-मुक्ति का मार्ग है, अपने आपकी खोज और अपने-आपको पाने का रास्ता है। इसका मूल मंत्र है—'सत्य की एषणा करो,' 'सत्य को ग्रहण करो', 'सत्य में धैर्य रखो', 'सत्य ही लोक में सारभूत है।'

जैन दर्शन का आरम्भ

यूनानी दर्शन का आरम्भ आश्चर्य से हुआ माना जाता है। यूनानी दार्शनिक अफलातून (प्लेटो) का प्रसिद्ध वाक्य है—"दर्शन का उद्भव आश्चर्य से होता है।"

पश्चिमी दर्शन का उद्गम संशय (doubt) से हुआ—ऐसी मान्यता है।

भारतीय दर्शन का स्रोत है—दुःख निवृत्ति के उपाय की जिज्ञासा।

जैन दर्शन इसका अपवाद नहीं है। यह संसार अध्रुव (अनित्य) और दुःखबहुल है। वह कौन-सा कर्म है, जिसे स्वीकार कर मैं दुर्गति से बचूं, दुःख—परम्परा से मुक्ति पा सकूं—इस चिंतन का फल है—आत्मवाद।

"सुचीर्ण कर्म का फल सत् (अच्छा) होता है और दुश्चीर्ण कर्म का फल असत् (बुरा)।"—यह कर्मवाद है।

"आत्मा पर नियंत्रण कर, यह दुःख-मुक्ति का उपाय है।"—इस दुःख निवृत्ति के उपाय ने क्रियावाद को जन्म दिया। इसकी शोध के साथ-साथ दूसरे अनेक तत्त्वों का विकास हुआ।

आश्चर्य और संशय भी दर्शन-विकास के निमित्त बनते हैं। जैन-सूत्रों में भगवान् महावीर और उनके ज्येष्ठ शिष्य गौतम के प्रश्नोत्तर प्रचुर मात्रा में हैं। गौतम स्वामी ने प्रश्न पूछे, उनके कई कारण बताए हैं। उनमें दो कारण ये हैं—संशय और कौतूहल (यानी जिज्ञासा)। गौतम को जब संशय और कौतूहल हुआ तब वे भगवान् महावीर के पास आए और उनसे समाधान माँगा। भगवान् महावीर ने उनके प्रश्नों को समाहित किया। ये प्रश्नोत्तर जैन तत्त्वज्ञान की अमूल्य निधि हैं।

जैन दर्शन का ध्येय

जैन दर्शन का ध्येय है—आध्यात्मिक अनुभव। आध्यात्मिक अनुभव का अर्थ स्वतंत्र आत्मा का एकत्व में मिल जाना नहीं, किन्तु अपने स्वतंत्र अस्तित्व का अनुभव करना है। जैन दर्शन को वेदान्त का यह मंतव्य स्वीकार्य नहीं है कि मुक्त-दशा प्राप्त आत्मा किसी परम अस्तित्व या सत्ता में विलीन हो जाती है। जैन दर्शन को बौद्ध दर्शन का यह मत भी मान्य नहीं है कि निर्वाण प्राप्त होने का अर्थ है—शून्य में विलीन हो जाना या ज्योति का सदा-सदा के लिए बुझ जाना।

प्रत्येक आत्मा की स्वतंत्र सत्ता है और प्रत्येक आत्मा अनंत शक्ति-सम्पन्न है। आत्मा और परमात्मा, ये सर्वथा भिन्न सत्तात्मक तत्त्व नहीं हैं। अशुद्ध दशा में जो आत्मा होती है, वही शुद्ध दशा में परमात्मा बन जाती है। अशुद्ध दशा में आत्मा के ज्ञान और शक्ति जो आवृत होते हैं, वे शुद्ध दशा में पूर्ण विकसित हो जाते हैं। शुद्ध आत्माओं की संख्यात्मक भिन्नता बनी रहती है।

'सत्य की शोध' यह भी जैन दर्शन का ध्येय है किन्तु केवल सत्य की शोध ही नहीं, उसकी प्राप्ति ध्येय के साथ जुड़ी हुई है। आध्यात्मिक दृष्टि से वही सत्य सत्य है, जो आत्मा को अशुद्ध या अनुन्नत दशा से शुद्ध या उन्नत दशा में परिवर्तित करने के लिए उपयुक्त होता है। मार्क्स ने जो कहा "दार्शनिकों ने जगत् को विविध प्रकार से समझने का प्रयत्न किया है, किन्तु उसे बदलने का नहीं", यह सर्वांग सुन्दर नहीं है। परिवर्तन के प्रति दृष्टि-बिन्दु हैं—बाह्य और आन्तरिक।

भारतीय दर्शन आंतरिक परिवर्तन को मुख्य मानकर चले हैं। उनका अभिमत यह रहा है कि आध्यात्मिक परिवर्तन होने पर बाहरी परिवर्तन अपने

आप हो जाता है। अभ्युदय उनका साध्य नहीं, केवल जीवन-निर्वाह का साधन मात्र रहा है। मार्क्स जैसे व्यक्ति, जो केवल बाहरी परिवर्तन को ही साध्य मानकर चले, उनका परिवर्तन-सम्बन्धी दृष्टिकोण भिन्न है। जन दृष्टि के अनुसार बाहरी परिवर्तन से क्वचित् आंतरिक परिवर्तन सुलभ हो सकता है, किन्तु उससे आत्म-मुक्ति का द्वार नहीं खुलता, इसलिए वह मोक्ष के लिए मूल्यवान् नहीं है।

पलायनवाद

कुछ पश्चिमी विचारकों ने भारतीय दर्शन पर यह आरोप लगाया है कि वह पलायनवादी है। कुछ वैदिक विद्वानों ने श्रमण दर्शन (जैन और बौद्ध) को इस आरोप से समारोपित किया है कि वह पलायनवादी है। इस आरोप को अस्वीकार करें या स्वीकार? आरोप लगाने वालों का अपना दृष्टिकोण है और वह निराधार नहीं है। जीवन की तुला के दो पलड़े हैं। पश्चिमी विचारकों ने वर्तमान के पलड़े को अधिक मूल्य दिया है, इसलिए भविष्य के पलड़े को अधिक मूल्य देने वाले भारतीय दर्शन उनकी दृष्टि में पलायनवादी हैं। वैदिक विद्वानों ने गृहस्थाश्रम को अधिक मूल्य दिया है, इसलिए संन्यास को अधिक महत्त्व देने वाले श्रमण दर्शन उनकी दृष्टि में पलायनवादी हैं।

पलायन के दो कोण हैं—एक निराशा और दूसरा उत्कर्ष की उपलब्धि का प्रयत्न। भारतीय दर्शन निराशावादी नहीं हैं। वर्तमान जीवन के प्रति उनमें उत्कट आस्था है। इसके साक्ष्य हैं वे वैदिक सूक्त, जिनमें कामना की वेदी पर बैठा हुआ वर्तमान दसों अंगुलियों से समृद्धि को बटोर रहा है। वैदिक ऋषि के लिए संसार असार नहीं है। उसके मन में चिरायु होने की कामना है। वह गाता है—**"जीवेम शरदः शतम्"**—हम सौ वर्ष तक जिएँ। वह जीवन को मंगलमय जीना चाहता है इसलिए उसकी कामना है—**"श्रृणुयाम शरदः शतं, प्रब्रवाम शरदः शतं, अदीनाः स्याम शरदः शतम्।"**

—"हम जीवन के अन्तिम क्षण तक सुनते रहें, बोलते रहें और पराक्रम की शिक्षा को प्रदीप्त करते रहें।" उसकी सफलता की प्रार्थना का स्वर बहुत विराट् है। वह कहता है—**"मह्यं नमंतां प्रदिशा चतस्रः"**—"मेरे लिए सभी दिशाएँ झुक जाएँ।" उसकी भाषा असीम है। वह अल्प से तोष का अनुभव नहीं करता। उसका स्वर आशातीत है—

"सत्यन्च मे श्रद्धा च मे जगच्च मे धनन्च मे, विश्वन्च मे महश्च मे क्रीड़ा च मे जातन्च मे जनिष्यमाणन्च मे सूक्तन्च मे सुकृतन्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।"

—"सत्य, श्रद्धा, जगत्, धन, विश्व, दीप्ति, क्रीड़ा, मोद, पुत्र, होने वाला अपत्य, सूक्त, पुण्य, ये सब मेरे लिये हों।"

वैदिक दर्शन के आशावादी मंच पर श्रमण-दर्शन को प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसमें कामना का स्वर मुखर नहीं है। उसका स्वर देशातीत और कालातीत अस्तित्व को अनावृत करने की दिशा में मुखर है। वह जीवन के प्रति निराश नहीं है, किन्तु जीवन-विकास की अन्तिम रेखा तक पहुँचने के लिए समर्पित है। उसका अन्तिम लक्ष्य है—मोक्ष। उसका अंतिम लक्ष्य है—निर्वाण।[१]

---

१. उपनिषदों का मंतव्य वैदिक ऋषियों की उपर्युक्त मान्यताओं से भिन्न, पर श्रमण-दर्शन के सदृश रूप में उपलब्ध होता है। "भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में इतिहास" में बताया गया है—"उपनिषदों में आत्मा एवं ब्रह्म अभिन्न हैं जबकि ब्राह्मण एवं आरण्यक में दोनों को पूर्णतः भिन्न बताया गया है। उपनिषदों में आत्मा अथवा ब्रह्म को विशिष्ट स्थान प्रदान किया गया है जबकि ब्राह्मण और आरण्यक ग्रंथों में देवताओं को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। इस प्रकार इन ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न विषयों का प्रतिपादन है।

उपनिषदों में अनेक स्थलों पर हमें वैदिक कर्मकांड के विरुद्ध विद्रोह की भावना दिखाई देती है। जगह-जगह पर ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड की कटु आलोचना की गई है। यज्ञों और कर्मकांडों को **"मुण्डक उपनिषद्"** में सारहीन और हास्यास्पद बताया गया है, पुरोहितों के व्यक्तित्व को ठुकराया गया है, उनके अस्तित्व को चुनौती दी गई है। इस तरह उपनिषदों में कर्म के स्थान पर ज्ञान को विशेष महत्त्व दिया गया है। यज्ञ, उपासना और बाह्य प्रकृति के प्रति अनुराग प्रकट करने के स्थान पर आत्मा के ज्ञान की ओर अधिक ध्यान दिया है। सरल शब्दों में हम कह सकते हैं कि उपनिषद् यज्ञ और उपासना पर बल न देकर आध्यात्मिकता की ओर प्रेरित करते हैं।

उपनिषदों के अनुसार मनुष्य का सच्चा ध्येय मोक्ष प्राप्त करना है। मोक्ष का अभिप्राय है जन्म तथा मृत्यु के बन्धनों से मुक्ति। मनुष्य को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि उसे फिर से जन्म न लेना पड़े क्योंकि जन्म लेने से ही जीव को अनेक क्लेश भोगने पड़ते हैं। श्री दिनकर के अनुसार—"उपनिषदों ने सच्चे सुख की जो कल्पना की, वह मोक्ष का सुख था, वह जीवन और मृत्यु से छुटकारा पाने का सुख था। इस सुख के सामने स्वर्ग-सुख को उपनिषदों ने हीन बताया और इसी प्रकार लोग स्वर्ग के सामने लौकिक जीवन को हीन मानने लगे हैं। अतएव भारतीय दर्शन में निराशावाद की एक हलकी परम्परा का आरम्भ क्रमशः.....

मोक्ष जीवन की वह अवस्था है जहाँ सब बन्धन निर्बंध हो जाते हैं। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, भौतिक और धार्मिक—इन सब बंधनों से मुक्ति, पूर्ण स्वतंत्रता का अर्थ है मोक्ष।

निर्वाण जीवन की वह अवस्था है जहाँ दैहिक, वाचिक और मानसिक सब दोष निःशेष हो जाते हैं। जहाँ समग्र वासनाओं और क्लेशों की शांति से निरपेक्ष शान्ति प्राप्त होती है। अपूर्णता से पूर्णता की ओर जाने के लिए उठा हुआ पग निराशावादी नहीं हो सकता।

द्वितीय महायुद्ध के मध्य मित्रराष्ट्रों की सेना पीछे हटती जा रही थी। दर्शक उसे निराश और पराजित मान रहे थे। रणविशेषज्ञ उसे अपनी रणनीति (strategy) बता रहे थे। विजय के क्षणों ने इसी बात की पुष्टि की कि वह उनकी रणनीति थी।

हमारा समूचा जीवन समरांगण है। हम जीवन-समर में आगे भी बढ़ते हैं, पीछे भी हटते हैं। पीछे हटना निराशा नहीं है, पलायन नहीं है, वह हमारी समर-नीति है। 'संसार असार है'—श्रमण दर्शन ने यह उद्घोषणा की है। यह

क्रमश :..... उपनिषदों से ही हुआ और यही परम्परा उपनिषदों के पूर्ण विकास के युग में आकर पुष्ट और जैन तथा बौद्ध दर्शन में जाकर प्रचण्ड हो उठी।"

उपनिषदों में स्पष्ट किया गया है कि आत्म-तत्त्व को पहचाने बिना मोक्ष संभव नहीं है, इसलिए अहंकार को एकदम हटा देना परम आवश्यक है। अहंकार के कारण ही मनुष्य संसार रूपी गर्त में गिरता है। उपनिषदों का संदेश है कि मनुष्य को पाश्विक मनोवृत्ति से पृथक् रहना चाहिए। पाश्विक मनोवृत्ति के निरोध से सब कुछ साधा जा सकता है इसलिए आत्म-निग्रह आवश्यक है। कुत्सित इच्छाओं का अन्त करने से सब प्रकार की साधना सरल हो जाती है। इन सब तैयारियों से मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग सरल हो जाता है। मोक्ष एक आनन्द-मय अवस्था है। जो जीव इस अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकते, उनके लिए कर्म-सिद्धान्त के अनुसार पुनर्जन्म का बंध होता है। जो जीव अपने पुण्यकृत्यों द्वारा आत्म-तत्त्व पहचान लेता है वह उस ब्रह्मलोक या सत्य लोक को प्राप्त कर लेता है, जहाँ से वापस नहीं आना पड़ता। उपनिषदों में उल्लेख है कि अपने पुण्यों द्वारा आत्म-तत्त्व को पहचान लेने वाले जीव देवयान या अर्चि-मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक को जाते हैं। इसके विपरीत साधारण पुण्य वाले जीव पितृयान या धूप-मार्ग द्वारा चंद्रलोक जाते हैं, वहाँ से पुण्य फल के क्षीण होने पर उन्हें वापस आना पड़ता है। मोक्ष प्राप्त कर लेने वाले जीवों को किसी भी मार्ग का अनुसरण नहीं करना पड़ता।"

निराशा का स्वर नहीं है किन्तु भौतिकता के निर्बाध आक्रमण के सामने उनकी सामरिक व्यूह-रचना है। यह उनका पलायन नहीं है, किन्तु इन्द्रियों के उच्छृंखल निमंत्रण के सामने उन्मुक्त विद्रोह है।

श्रमण दार्शनिक गाता है—"जीवन की आशंसा (आकांक्षा) मत करो, मृत्यु की आशंसा मत करो। वह जीवन आशंसनीय नहीं है, जो भौतिकता से आक्रांत और ऐन्द्रियक उच्छृंखलता से संत्रस्त है।"

"वह मृत्यु अभिलषणीय नहीं है, जो निराशा से अभिभूत (पराजित) और जीवन-निर्वाह की अक्षमता से संकुल है।"

"तुम वैसा जीवन जियो, जिसमें चेतना का प्रतिबिम्ब और स्वतंत्रता की प्रतिध्वनि हो। तुम वैसी मृत्यु से मरो, जिसकी खिड़की से जीवन की सफलता झांक रही हो और जिसे चैतसिक प्रसन्नता आप्लावित कर रही हो।"

अभ्यास

१. दर्शन की परिभाषा के संबंध में मुख्य मतभेद क्या हैं?
२. विभिन्न भारतीय दर्शनों में बन्ध और मोक्ष के सम्बन्ध में मुख्य धारणाओं में क्या समानता है?
३. क्या श्रद्धा और तर्क का समन्वय किया जा सकता है? कैसे?
४. क्या जैन दर्शन पलायनवादी है?

□□□

२

आओ चलें अमूर्त्त विश्व की यात्रा पर

प्रत्येक क्रिया के पीछे कर्ता का कर्तृत्व होता है। यह तर्कशास्त्र का सामान्य नियम है कि कर्ता के बिना क्रिया नहीं हो सकती। व्याकरण-शास्त्र के अनुसार सब कारकों में पहला कारक कर्ता होता है। कर्म, साधन आदि के कारक उसके होने पर ही होते हैं, उसके अभाव में नहीं होते। व्याकरणाचार्यों ने इसी प्रधानता के आधार पर इस सिद्धान्त की स्थापना की—कर्ता स्वतंत्र होता है और कर्म आदि कारक उसके अधीन होते हैं।

कर्ता, क्रिया और उसका परिणाम यह एक घटनाक्रम है। कुछ घटनाओं में ये तीनों हमारे सामने होते हैं इसलिए वहाँ कर्तृत्व का प्रश्न उपस्थित नहीं होता। वे घटनाएँ हमारे सामने कर्तृत्व का प्रश्न उपस्थित करती हैं, जहाँ परिणाम हमारे सामने होता है, किन्तु उसका कर्ता हमारे सामने नहीं होता। इसका उदाहरण हमारा विश्व है जिसमें हम रहते हैं और जिसे निरन्तर अपनी आँखों से तैरता-डूबता देखते हैं। यह विशाल भू-खंड किसके कुशल और सशक्त हाथों की कृति है? ये उत्तुंग शिखर वाले पर्वत किसके हाथों द्वारा निष्पन्न हुए हैं? यह आकाश किसके कौशल का परिचय दे रहा है? ये असंख्य नीहारिकाएँ किसके कर्तृत्व का गीत गा रही हैं? यह चमकते हुए सूर्य और शांति बरसाते हुए चांद का आदि कर्ता कौन है? ये भूखण्ड को आवेष्टित किए हुए समुद्र किसकी सृष्टि हैं? प्रकृति के कण-कण का भाग्यविधाता एवं इस मनुष्य का भाग्यविधाता कौन है? ये प्रश्न शाश्वत प्रश्न हैं। ये आदिकाल से ही मनुष्य के मन में कौतूहल उत्पन्न किए हुए हैं। उन्हीं का समाधान पाने के लिए मनुष्य ने दर्शन की रेखाएँ खींची हैं।

क्या हमने इन प्रश्नों का समाधान पा लिया? क्या हमारे दर्शन इन प्रश्नों का उत्तर देने में सक्षम हैं? इस प्रश्न का उत्तर हाँ में नहीं मिल रहा है। इस विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि हमने आलोच्य प्रश्नों का उत्तर पाने का प्रयत्न किया है। हमारे दर्शन इस दिशा में आगे बढ़े हैं किन्तु वह समाधान अन्तिम है, वह समाधान सार्वजनीन (universal) है यह कहना कठिन है।

विश्व का वर्गीकरण

जैन दर्शन में विश्व या ब्रह्माण्ड के लिए 'लोक' शब्द प्रयुक्त हुआ है। लोक का व्युत्पत्तिजनक अर्थ है **"यो लोक्यते स लोकः।"**—जो देखा जाता है, वह लोक है। लोक की व्याख्यात्मक परिभाषा करते हुए कहा गया है—**"षड्द्रव्यात्मको लोकः।"**—जो षड्-द्रव्यात्मक है, वह लोक है। ये छह द्रव्य (substances) हैं—

१. धर्मास्तिकाय : गति-सहायक द्रव्य
२. अधर्मास्तिकाय : स्थिति-सहायक द्रव्य
३. आकाशास्तिकाय : आश्रय देने वाला द्रव्य
४. काल : समय
५. पुद्गलास्तिकाय : भौतिक द्रव्य (Physical substance)—जड़ पदार्थ (matter) और ऊर्जा (energy)
६. जीवास्तिकाय : आत्मा—चैतन्यशील द्रव्य (Psychical substance)

इन छह द्रव्यों में से काल को छोड़कर शेष पांच द्रव्य अस्तिकाय कहे गए हैं। अस्तिकाय का तात्पर्य है कि ये द्रव्य सप्रदेशी यानी सावयवी हैं। (किसी भी द्रव्य का निरंश अंश या अविभाज्य विभाग 'प्रदेश' कहलाता है।) काल द्रव्य अप्रदेशी है, अतः उसे अस्तिकाय नहीं कहा गया है। इस कारण से लोक की चर्चा के प्रसंग में कहीं-कहीं इसे 'पंचास्तिकायरूप' भी बताया गया है। संक्षेप में कहा जाय तो जिसे हम विश्व (ब्रह्माण्ड या universe) की संज्ञा देते हैं, वह लोक है।

अस्तिकाय

अस्तिकाय का शाब्दिक अर्थ है—प्रदेश-समूह या अवयव समुदाय। (**अस्तिकायः प्रदेशप्रचयः**)। प्रत्येक द्रव्य का सबसे छोटा परमाणु जितना भाग जो स्वयं अविभाज्य होता है और जो द्रव्य से संलग्न है, वह 'प्रदेश' कहलाता है। 'अस्ति' शब्द 'प्रदेश' का वाचक और 'काय' शब्द 'समूह' का वाचक है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय—ये चारों द्रव्य अखण्ड और अविभागी हैं, इनका विघटन नहीं हो सकता। ये अवयवी इस दृष्टि से कहलाते हैं कि इनके परमाणु-तुल्य खण्डों की कल्पना की जाए तो वे असंख्यात होते हैं अर्थात् ये असंख्यातप्रदेशी द्रव्य हैं इसलिए अस्तिकाय हैं।

पुद्गलास्तिकाय विभागी द्रव्य है। उसका विभाजन या खण्डन किया जा सकता है इसलिए यह स्पष्ट रूप से सावयवी है। पुद्गल का अविभाज्य खण्ड परमाणु है, जो स्वयं यद्यपि निरंश (निरवयवी) होता है, अर्थात् अप्रदेशी होता है, फिर भी उसमें संयोजन-वियोजन स्वभाव होता है; अतः इनके स्कन्ध (परमाणुओं के एकीभूत होने से बनने वाले पिण्ड) बनते हैं, जिनका पुनः विघटन होता है। कोई भी स्कन्ध शाश्वत नहीं होता। इसी दृष्टि से पुद्गल द्रव्य विभागी है।

द्रव्य

भूत और भविष्य का संकलन करने वाला (जोड़ने वाला) वर्तमान है। वर्तमान के बिना भूत और भविष्य का कोई मूल्य नहीं रहता। इसका अर्थ यह है कि हम जिस वस्तु का जब कभी एक बार अस्तित्व स्वीकार करते हैं तब हमें यह मानना पड़ता है कि उससे वस्तु पहले भी थी और बाद में भी रहेगी। वह एक ही अवस्था में रहती आयी है या रहेगी—ऐसा नहीं होता, किन्तु उसका अस्तित्व कभी नहीं मिटता, यह निश्चित है। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में परिवर्तित होते हुए भी उसके मौलिक रूप और शक्ति का नाश नहीं होता।

दार्शनिक परिभाषा में द्रव्य वही है जिसमें गुण और पर्याय होते हैं। प्रत्येक द्रव्य में दो प्रकार के धर्म रहते हैं—एक तो सहभावी धर्म (गुण), जो द्रव्य में नित्य रूप से रहता है, दूसरा क्रमभावी धर्म (पर्याय), जो परिवर्तनशील होता है। गुण भी दो प्रकार के हैं—सामान्य गुण और विशेष गुण। सामान्य गुण वे हैं, जो किसी भी द्रव्य में निश्चित रूप से होते हैं। जैसे अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशवत्त्व और अगुरुलघुत्व। ये छह गुण सामान्य गुण हैं, अतः प्रत्येक द्रव्य में ये गुण होते ही हैं। अस्तित्व गुण उसे कहते हैं, जिस गुण के कारण द्रव्य का कभी विनाश न हो अर्थात् द्रव्य सदा विद्यमान रहे—कभी नष्ट न हो। वस्तुत्व का अर्थ होता है—द्रव्य का सदा किसी-न-किसी प्रकार की अर्थक्रिया करते रहतना। प्रत्येक द्रव्य अन्य पदार्थ के साथ अनेक प्रकार के संबंधों से जुड़ता है और अन्य पदार्थों के द्वारा प्रभावित भी होता रहता है किन्तु इन क्रिया-प्रतिक्रियाओं में भी द्रव्य 'वस्तुत्व' गुण के कारण अपनेपन को नहीं छोड़ता। 'द्रव्यत्व' गुण वह है, जिसके कारण द्रव्य गुण और पर्यायों को धारण करता है। प्रतिक्षण प्रत्येक द्रव्य की अवस्था बदलती रहती है। इन अवस्थाओं के परिवर्तन से द्रव्य में 'उत्पत्ति और विनाश' का क्रम चलता रहता है। 'प्रमेयत्व' गुण के कारण द्रव्य ज्ञान द्वारा जाना जा सकता है। जो प्रमाण (यथार्थ ज्ञान) का विषय बन सकता है, वह 'प्रमेय' है। प्रदेशवत्त्व गुण के कारण द्रव्य के प्रदेशों का माप होता है। प्रत्येक द्रव्य का विस्तार उसके प्रदेशवान् होने के कारण होता

है। अगुरुलघुत्व गुण के कारण द्रव्य में अनन्त धर्म एकीभूत होकर रहते हैं—बिखर कर अलग-अलग नहीं हो जाते। इसी गुण के कारण प्रत्येक द्रव्य के 'स्वरूप' की अविचलता होती है।

इस प्रकार से छह 'सामान्य गुण' प्रत्येक द्रव्य में होते हैं। विशेष गुण प्रत्येक द्रव्य में अपने-अपने होते हैं, जिनकी चर्चा स्वतंत्र रूप से न करते हुए द्रव्यों के वर्णनान्तर्गत करना उपयुक्त होगा।

द्रव्य शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है—

'अद्रुवत्, द्रवति, द्रोष्यति, तांस्तान् पर्यायान् इति द्रव्यम्'

जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त हुआ, हो रहा है और होगा, वह द्रव्य है। इसका फलित अर्थ यह है—अवस्थाओं का उत्पाद (उत्पत्ति) और व्यय (विनाश) होते रहने पर भी जो ध्रुव (स्थायी) रहता है, वही द्रव्य है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि अवस्थाएँ उसी में उत्पन्न एवं नष्ट होती हैं जो ध्रुव रहता है, क्योंकि ध्रौव्य (स्थावित्व) के बिना पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओं का सम्बन्ध नहीं रह सकता। द्रव्य की ये दो परिभाषाएँ की जा सकती हैं—

१. पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओं में जो व्याप्त रहता है, वह द्रव्य है।

२. जो सत् (real) है, वह द्रव्य है।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इस त्रयात्मक स्थिति का नाम सत् है। द्रव्य में परिणमन होता है—उत्पाद और व्यय होता है, फिर भी उसकी स्वरूप-हानि नहीं होती। द्रव्य के प्रत्येक अंश में प्रति समय जो परिवर्तन होता है, वह सर्वथा विलक्षण नहीं होता। परिवर्तन में कुछ समानता मिलती है और कुछ असमानता। पूर्व-परिणाम और उत्तर-परिणाम में समानता है, वही द्रव्य है। उस रूप में द्रव्य न उत्पन्न होता है और न नष्ट। जैसे माला के प्रत्येक मोती में धागा अनुस्यूत रहता है, वैसे ही द्रव्य वस्तु की प्रत्येक अवस्था में प्रभावित रहता है। पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती परिणमन में जो असमानता होती है, वह पर्याय है। उस रूप में द्रव्य उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। इस प्रकार द्रव्य प्रति समय उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और स्थिर भी रहता है। द्रव्य रूप से वस्तु स्थिर रहती है और पर्याय रूप से उत्पन्न और नष्ट होती है। इससे यह फलित होता है कि कोई भी वस्तु न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य किन्तु परिणामी नित्य है।

बौद्ध दर्शन सत् (द्रव्य) को एकान्त अनित्य (नरन्वय क्षणिक—केवल उत्पाद-विनाश-स्वभाव) मानता है, जबकि वेदान्त दर्शन सत्पदार्थ—ब्रह्म को एकांत नित्य। पहला परिवर्तनवाद है तो दूसरा नित्यसत्तावाद। जैन-दर्शन इन दोनों का समन्वय कर परिणामी नित्यवाद स्थापित करता है, जिसका आशय यह है कि

सत्ता भी है और परिवर्तन भी—द्रव्य उत्पन्न भी होता है और नष्ट भी। इस परिवर्तन में भी उसका अस्तित्व नहीं मिटता। उत्पाद और विनाश के बीच यदि कोई स्थिर आधार न हो तो हमें सजातीयता—'यह वही है' का अनुभव नहीं हो सकता। यदि द्रव्य निर्विकार ही हो, तो विश्व की विविधता संगत नहीं हो सकती इसलिए 'परिणामी नित्यत्ववाद' जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है।

इसकी तुलना रासायनिक विज्ञान के 'द्रव्याक्षरत्ववाद' से की जा सकती है। द्रव्याक्षरत्ववाद की स्थापना सन् १७८९ में लेवायजर नामक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने की थी। संक्षेप में इस सिद्धान्त का आशय यह है, कि इस अनंत विश्व में द्रव्य का परिमाण सदा समान रहता है, उसमें कोई न्यूनाधिकता नहीं होती। न किसी वर्तमान द्रव्य का सर्वथा नाश होता है और न किसी सर्वथा नये द्रव्य की उत्पत्ति होती है। साधारण दृष्टि से जिसे द्रव्य का नाश होना समझा जाता है, वह उसका रूपान्तरण मात्र है। उदाहरण के लिए कोयला जलकर राख हो जाता है, उसे साधारणतः नष्ट हो गया कहा जाता है परन्तु वस्तुतः वह नष्ट नहीं होता, वायुमण्डल के ऑक्सीजन अंश के साथ मिलकर कार्बोनिक एसिड गैस के रूप में परिवर्तित होता है। यूं ही शक्कर या नमक पानी में घुलकर नष्ट नहीं होते, किन्तु ठोस से वे सिर्फ द्रव रूप में परिणत होते हैं। इसी प्रकार जहाँ कहीं कोई नवीन वस्तु उत्पन्न होती प्रतीत होती है, वह भी वस्तुतः किसी पूर्ववर्ती वस्तु का रूपान्तरण-मात्र है। घर में अव्यवस्थित रूप से पड़ी रहने वाली कड़ाही में जंग लग जाता है, यह क्या है? यहाँ भी जंग नामक कोई नया द्रव्य उत्पन्न नहीं हुआ, अपितु धातु की ऊपरी सतह जल और वायुमण्डल के ऑक्सीजन के संयोग से लोहे के ऑक्सी-हाइड्रेट के रूप में परिणत हो गयी।

भौतिक विज्ञान में जब तक जड़ पदार्थ और ऊर्जा को नितान्त भिन्न समझा जाता था, तब तक दो अलग-अलग 'संरक्षण-नियम' (conservation laws) थे—'पदार्थ या संहति (mass) के संरक्षण का नियम' और 'ऊर्जा के संरक्षण का नियम' (ये क्रमशः principle of Conservation of Mass और principle of Conservation of Energy कहलाते हैं)। आइन्स्टीन के द्वारा प्रतिपादित संहति-ऊर्जा-समानता के सिद्धान्त के पश्चात् अब दोनों का एकीकरण होकर संयुक्त नियम बन गया जिसे 'संहति और ऊर्जा के संरक्षण-नियम' की संज्ञा दी गई है। इसके अनुसार विश्व में स्थित संहति-ऊर्जा की कुल राशि सदा अचल रहती है। प्रकाश, ऊष्मा, चुम्बकीय ऊर्जा, विद्युत ऊर्जा, यांत्रिक ऊर्जा, ध्वनि-ऊर्जा आदि ऊर्जा के विभिन्न रूप माने जाते हैं। ये एक-दूसरे में परिवर्तित होते हैं। इतना ही नहीं, ऊर्जा का परिवर्तन पदार्थ में और पदार्थ का परिवर्तन ऊर्जा में हो सकता है, जिसे आइन्स्टीन के प्रसिद्ध एकीकरण $E = mc^2$

(यहाँ E = ऊर्जा m = संहति और c = प्रकाश का वेग है) द्वारा अभिव्यक्त किया गया है।

जैन-दर्शन में मातृपदिका[1] का सिद्धान्त भी यही है—

उत्पादध्रुवविनाशैः परिणामः क्षणे क्षणे।
द्रव्याणामविरोधश्च, प्रत्यक्षादिह दृश्यते॥

—"उत्पाद, ध्रुव और विनाश—द्रव्यों का यह त्रिविध-लक्षण परिणमन प्रतिक्षण बिना विरोध प्रत्यक्ष होता रहता है।" इस श्लोक में प्रयुक्त—"उत्पाद ध्रुव और व्यय—द्रव्यों का यह त्रिविध लक्षण परिणमन प्रतिक्षण होता रहता है"—इन शब्दों में और "जिसे द्रव्य का नाश हो जाना समझा जाता है, वह उसका रूपान्तरण-मात्र है"—इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। वस्तुदृष्ट्या संसार में जितने द्रव्य हैं, उतने ही थे और उतने ही रहेंगे। उनमें से न कोई घटता है और न कोई बढ़ता है। अपनी-अपनी सत्ता की परिधि में सब द्रव्य जन्म और मृत्यु, उत्पाद और नाश पाते रहते हैं। आत्मा की भी सापेक्ष मृत्यु होती है। तन्तुओं से पट या दूध से दही—ये सापेक्ष उत्पन्न होते हैं। जन्म और मृत्यु दोनों सापेक्ष हैं—ध्रुव द्रव्य की पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओं के सूचक हैं। सूक्ष्मदृष्ट्या पहला क्षण सापेक्ष-उत्पाद और दूसरा क्षण सापेक्ष-नाश का हेतु है। स्थूलदृष्ट्या पहला क्षण सापेक्ष-उत्पाद और दूसरा क्षण सापेक्ष-नाश का हेतु है। स्थूलदृष्ट्या स्थूल पर्याय का पहला क्षण जन्म और अन्तिम क्षण मृत्यु के व्यपदेश (संज्ञा या नामकरण) का हेतु है।

"पुरुष (आत्मा) नित्य है और प्रकृति (जड़) परिणामी नित्य है"—इस प्रकार सांख्य भी नित्यानित्यत्ववाद स्वीकार करता है। नैयायिक और वैशेषिक परमाणु, आत्मा आदि को नित्य मानते हैं तथा घट, पट आदि को अनित्य। समूहापेक्षा से ये भी परिणामी नित्यत्ववाद को स्वीकार करते हैं, किन्तु जैन दर्शन की तरह द्रव्य-मात्र को परिणामी नित्य नहीं मानते। महर्षि पतंजलि, कुमारिल भट्ट, पार्थसार मिश्र आदि ने 'परिणामी नित्यत्ववाद' को एक स्पष्ट सिद्धांत के रूप में स्वीकार नहीं किया, फिर भी उन्होंने इसका प्रकारान्तर से पूर्ण समर्थन किया।

आकाश और दिक्

ऊपर बताए गए छह द्रव्यों में तीसरा द्रव्य आकाशास्तिकाय है। समझने में सुविधा हो, इस दृष्टि से हम पहले आकाश की चर्चा करते हैं, बाद में धर्म-द्रव्य अधर्म-द्रव्य की चर्चा करेंगे।

---

१. उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को मातृपदिका कहते हैं।

आकाशास्तिकाय 'आकाश' (space) का सूचक है। संक्षेप में इसे 'आकाश' कह सकते हैं। इसकी परिभाषा है—वह द्रव्य जो अन्य सभी द्रव्यों को अवगाह/आश्रय देता है, उसको 'आकाश' कहते हैं।

आकाश का गुण अवगाहन है। वह स्वयं अनालम्ब है, शेष सब द्रव्यों का आलम्बन है। स्वरूप की दृष्टि से सभी द्रव्य स्व-प्रतिष्ठ हैं, किन्तु क्षेत्र या आयतन की दृष्टि से वे आकाश-प्रतिष्ठ होते हैं इसीलिए आकाश को सब द्रव्यों का भाजन कहते हैं।

गौतम ने पूछा—भगवान्! आकाश तत्व से जीवों और अजीवों को क्या लाभ होता है?

भगवान् ने कहा—गौतम! आकाश नहीं होता तो ये जीव कहाँ होते? ये धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कहाँ व्याप्त होते? काल कहाँ बरतता? पुद्गल का रंगमंच कहाँ बनता? यह विश्व निराधार ही होता।

जैन दर्शन में आकाश के समग्र स्वरूप को बहुत विस्तार के साथ निरूपित किया गया है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव (स्वरूप) और गुण—इन पाँच सन्दर्भ-बिन्दुओं के परिप्रेक्ष्य में जैन दर्शन प्रत्येक द्रव्य के स्वरूप पर विचार करता है। आकाश पर भी इन पाँच सन्दर्भ-बिन्दुओं की दृष्टि से प्रकाश डाला गया है—

१. **द्रव्य की दृष्टि से**—आकाशास्तिकाय एक, अखण्ड, स्वतंत्र, वस्तुनिष्ठ (objective) वास्तविकता (सत्) (reality) है।

२. **क्षेत्र की दृष्टि से**—आकाश अनन्त और असीम है। उसकी रचना समरूप सातत्यक (homogeneous continuum) के रूप में है। उसके प्रदेशों की संख्या अनन्त है। आकाश सर्वव्यापी है; इसलिए लोक से परे (अलोक में) भी उसका अस्तित्व है। लोक-आकाश के प्रदेश असंख्यात और अलोक-आकाश के प्रदेश अनन्त हैं।

३. **काल की दृष्टि से**—इसका अस्तित्व आदि (beginningless) और अनन्त (endless) है अर्थात् शाश्वत है।

४. **भाव (स्वरूप) की दृष्टि से**—आकाश अमूर्त है अर्थात् वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि गुण-रहित हैं; अभौतिक हैं—भौतिक द्रव्य या जड़ द्रव्य (पुद्गल) से भिन्न है; चैतन्य-रहित होने से अजीव है; गति-रहित होने से अगतिशील है।

५. **गुण की दृष्टि से**—भाजन-गुण अर्थात् अन्य द्रव्यों को अवगाहन के लिए स्थान प्रदान करता है।

समस्त आकाश-द्रव्य अन्य द्रव्यों के द्वारा अवगाहित नहीं हैं, अतः एक होने पर भी, अन्य द्रव्यों के अस्तित्व के कारण वह दो भागों में विभाजित हो जाता है—

१. लोकाकाश।

२. अलोकाकाश।

आकाश का भाग, जो धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय—इन पाँच द्रव्यों द्वारा अवगाहित है, वह लोकाकाश है। शेष भाग, जहाँ आकाश के अतिरिक्त और कोई द्रव्य नहीं होता, वह अलोकाकाश है। लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या असंख्यात है, अलोकाकाश के प्रदेशों की संख्या अनन्त है। लोकाकाश एक, अखण्ड, शान्त और असीम है। उसकी सीमा से परे अलोकाकाश एक और अखण्ड है तथा असीम-अनन्त तक फैला हुआ है। ससीम लोक चारों ओर से अनन्त अलोक से घिरा हुआ है।

जब महावीर से उनके प्रमुख शिष्य गौतम द्वारा पूछा गया कि "भगवान्! अलोक का संस्थान (आकार) कैसा है?", भगवान् महावीर ने उत्तर दिया, "हे गौतम! शुषिर (खाली) गोले में रही हुई पोलाई (रिक्तता) जैसा उसका आकार है।" अर्थात् अलोक एक विशाल गोले के समान है, जिसकी त्रिज्या अनन्त है। इस कथन से यही अर्थ निकलता है कि धर्म, अधर्म आदि पाँच द्रव्यों को धारण करने वाला यह विश्व (लोकाकाश) अनन्त आकाश-समुद्र में एक द्वीप के समान है। यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि आकाश—लोक और अलोक—एक और अखण्ड द्रव्य है। अन्य द्रव्यों के अस्तित्व के कारण ही हम आकाश के दो विभाग करते हैं। अलोकाकाश का अस्तित्व तर्क के आधार पर निम्न प्रकार से सिद्ध किया जा सकता है—लोकाकाश अथवा सक्रिय विश्व के अस्तित्व के विषय में कोई सन्देह नहीं करता, क्योंकि वह इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्षतया जाना जाता है और सबके द्वारा ग्राह्य है किन्तु यदि लोकाकाश का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है, तो अलोकाकाश का अस्तित्व स्वतः प्रमाणित हो जाता है, क्योंकि तर्कशास्त्र के अनुसार जिसका वाचक पद व्युत्पत्तिमान और शुद्ध होता है, वह पदार्थ सत् प्रतिपक्ष होता है। उदाहरणार्थ—जैसे अघट घट का प्रतिपक्ष है। 'घट' शब्द विधि-वाचक है, अघट निषेधवाचक है। इसी तरह अलोकाकाश लोकाकाश का निषेध-वाचक है, अतः अलोकाकाश का अस्तित्व लोकाकाश के साथ स्वीकृत हो ही जाता है।

दिक्

जैन दर्शन के अनुसार दिक् कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है, अपितु आकाश का ही एक भाग है। आकाश के जिस भाग से वस्तु का व्यपदेश या निरूपण किया जाता है, वह दिक् कहलाता है।

दिशा और अनुदिशा की उत्पत्ति तिर्यग् लोक (लोक के मध्य भाग) से होती है।

दिशा का प्रारम्भ आकाश के दो प्रदेशों से शुरू होता है और उनमें दो-दो प्रदेशों की वृद्धि होते-होते वे असंख्यात प्रदेशात्मक बन जाती हैं। अनुदिशा केवल एक-प्रदेशात्मक होती है। ऊर्ध्व और अधोदिशा का प्रारम्भ चार प्रदेशों से होता है, फिर उनमें वृद्धि नहीं होती। यह दिशा का आगमिक स्वरूप है।

जिस व्यक्ति के जिस ओर सूर्योदय होता है, वह उसके लिए पूर्व और जिस ओर सूर्यास्त होता है, वह पश्चिम तथा दाहिने हाथ की ओर दक्षिण और बाएँ हाथ की ओर उत्तर दिशा होती है। उन्हें ताप-दिशा कहा जाता है।

निमित्त-कथन आदि प्रयोजन के लिए दिशा का एक प्रकार और होता है। प्रज्ञापक जिस ओर मुंह किए होता है वह पूर्व, उसका पृष्ठ भाग पश्चिम, दोनों पार्श्व दक्षिण और उत्तर होते हैं। इन्हें प्रज्ञापक-दिशा कहा जाता है।

आकाश और दिक् के बारे में अन्य दर्शनों में अनेक विचार प्रचलित हैं। कुछ दार्शनिक आकाश और दिक् को पृथक् द्रव्य मानते हैं। कुछ दिक् को आकाश से पृथक् नहीं मानते। कुछ दार्शनिक शब्द को आकाश का गुण मानते हैं। जैन दर्शन के अनुसार शब्द आकाश का गुण नहीं है। शब्द पौद्गलिक हैं। वह पुद्गलों के संघात और भेद की निष्पत्ति है, कार्य है। विज्ञान ने भी शब्द को भौतिक ऊर्जा के रूप में स्वीकार किया है।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय

जैन दर्शन में जहाँ धर्म, अधर्म शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक दृष्टि से क्रमशः आत्मा को विशुद्ध और मलिन बनाने वाले तत्त्वों के रूप में किया गया है, वहाँ तत्व-मीमांसा (Metaphysics) में इनका अर्थ बिलकुल भिन्न है। धर्मास्तिकाय या धर्म-द्रव्य की परिभाषा है—जो द्रव्य लोक में गतिशील सभी द्रव्यों (जीव और पुद्गलों) की गति में अनन्य सहायक होता है, वह धर्म-द्रव्य है। दूसरे शब्दों में वह गति का अनिवार्य माध्यम (medium) है, जिसके बिना किसी भी प्रकार की गति (motion) सम्भव नहीं है। वैज्ञानिक शब्दावली में इसे 'गति-माध्यम' (medium of motion) कहा जा सकता है। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय की परिभाषा है—जो द्रव्य लोक में स्थितिअशील सभी द्रव्यों (जीव और पुद्गलों) की स्थिति (स्थिर रहना या अ-गति) में अनन्य सहायक होता है, वह अधर्म-द्रव्य है। इसके बिना किसी भी प्रकार की स्थिति (स्थिर रहना) सम्भव नहीं है। वैज्ञानिक शब्दावली में इसे 'स्थिति-माध्यम' (medium of rest) कहा जा सकता है।

यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि धर्म-द्रव्य और अधर्म-द्रव्य दोनों केवल उदासीन सहायक हैं। न धर्म-द्रव्य किसी द्रव्य को गति में प्रवृत्त करता है और न अधर्म-द्रव्य किसी को स्थिति में प्रवृत्त करता है। यदि कोई जीव या पुद्गल गति या स्थिति करता है, तो ये क्रमशः उसमें सहायक बनते हैं। जैसे मछलियों की गति में जल सहायक होता है या पथिकों को विश्राम करने के लिए वृक्ष की छाया सहायक होती है, वैसे धर्म-अधर्म द्रव्य समस्त गति-स्थिति में अनन्य सहायक होते हैं। गति और स्थिति दोनों सापेक्ष हैं। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व संभव नहीं है।

धर्म-अधर्म की तार्किक मीमांसा करने से पूर्व इनका स्वरूप समझ लेना अनुपयुक्त नहीं होगा। वह इस प्रकार है—

द्रव्य की दृष्टि से—ये दोनों द्रव्य एक, अखण्ड, स्वतन्त्र, वस्तुनिष्ठ सत् (objective reality) हैं।

क्षेत्र की दृष्टि से—ये दोनों समस्त लोक में व्याप्त समरूप सातत्यक (homogeneous continuum) के रूप में हैं। इनका अस्तित्व केवल लोक-आकाश तक सीमित है; अलोक-आकाश में इनका अभाव है। लोक-आकाश के जितने प्रदेश हैं, उतने ही प्रदेश इनके हैं। संख्या की दृष्टि से ये प्रदेश असंख्यात हैं।

काल की दृष्टि से—इनका अस्तित्व अनादि (beginningless) और अनन्त (endless) है अर्थात् शाश्वत (eternal) हैं।

भाव अर्थात् स्वरूप की दृष्टि से—ये अमूर्त (वर्ण आदि गुणों से रहित), अभौतिक और चैतन्य-रहित (अजीव) तथा स्वयं अगतिशील हैं।

गुण (या लक्षण) की दृष्टि से—धर्म-द्रव्य गति-सहायक तथा अधर्म-द्रव्य स्थिति-सहायक है।

इन द्रव्यों के विषय में गौतम की जिज्ञासा का समाधान भगवान् महावीर ने इस प्रकार किया था—

गौतम ने पूछा—भगवान्! गति-सहायक तत्त्व (धर्मास्तिकाय) जीवों को क्या लाभ होता है?

भगवान् ने कहा—गौतम! गति का सहारा नहीं होता तो कौन आता और कौन जाता? शब्द की तरंगें कैसे फैलतीं? आंखें कैसे खुलतीं? कौन मनन करता? कौन बोलता? कौन हिलता-डुलता? यह विश्व अचल ही होता। जो चल हैं, उन सबका आलम्बन गति-सहायक तत्त्व ही है।

गौतम—भगवान्! स्थिति-सहायक तत्व (अधर्मास्तिकाय) से जीवों को क्या लाभ होता है?

भगवान्—गौतम ! स्थिति का सहारा नहीं होता तो खड़ा कौन रहता ? कौन बैठता ? सोना कैसे होता ? कौन मन को एकाग्र करता ? मौन कौन करता ? कौन निस्पन्द बनता ? निमेष कैसे होता ? यह विश्व चल ही होता। जो स्थिर हैं, उन सबका आलम्बन स्थिति-सहायक तत्त्व ही है।

सिद्धसेन दिवाकर धर्म-अधर्म के स्वतन्त्र द्रव्यत्व को आवश्यक नहीं मानते। वे इन्हें द्रव्य के पर्याय-मात्र मानते हैं।

दार्शनिक जगत् में जैन दर्शन के सिवाय किसी भी दर्शन ने इन दो द्रव्यों के अस्तित्व की कोई चर्चा नहीं की है। वैज्ञानिक जगत् में न्यूटन ने ईथर नामक गति-माध्यम (medium of motion) को स्वीकार किया था, पर उसका स्वरूप अभौतिक नहीं था। न्यूटन-कालीन भौतिक विज्ञान, जिसे प्राचीन (classical) कहा जाता है, में प्रकाश-तरंगों के प्रसार के माध्यम के रूप में ईथर का अस्तित्व माना गया था। ईथर एक ऐसा भौतिक तत्त्व माना गया जो समग्र आकाश में व्याप्त है और जो प्रकाश-तरंगों के प्रसार में उसी तरह सहायक होता है, जिस तरह समुद्र की तरंगों के प्रसार में पानी अथवा ध्वनि-तरंगों के प्रसार में हवा होती है। बाद में जब भ्रमणशील पृथ्वी के साथ गतिशील ईथर का प्रकाश के वेग पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसे मापने के लिए माइकलशन और मोर्ले ने अतिसूक्ष्मग्राही यंत्रों द्वारा प्रयोग किया, तो पता चला कि ईथर का कोई प्रभाव प्रकाश की गति पर नहीं पड़ता है। इस प्रयोग के परिणामों के आधार पर बाद में आपेक्षिकता के सिद्धान्त में आइन्स्टीन ने ईथर नामक भौतिक गति-माध्यम के अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया। आधुनिक भौतिक विज्ञान में अब इस 'ईथर' का अस्तित्व समाप्त हो गया है पर इससे अभौतिक ईथर (गति-माध्यम) के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक सर आर्थर एडिंग्टन ने ईथर-सम्बन्धी एक नया सिद्धान्त उपस्थित किया है। उनके अभिमत में आपेक्षिकता के सिद्धान्त ने भौतिक ईथर का अस्तित्व मिटा दिया है, किन्तु तब भी अभौतिक ईथर का अस्तित्व तो सम्भव हो सकता है। एडिंग्टन ने आकाश और ईथर में अविच्छिन्न सम्बन्ध की कल्पना की है और माना है कि आकाश, ईथर और क्षेत्र (field) तीनों ही एक है।"

धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य का यौक्तिक आधार

धर्म-द्रव्य और अधर्म-द्रव्य को मानने के लिए हमारे सामने मुख्यतया दो यौक्तिक दृष्टियाँ हैं—

१. गति-स्थिति-निमित्तक द्रव्य,

२. लोक-अलोक की विभाजक शक्ति।

कार्य-कारणवाद के अनुसार प्रत्येक कार्य के लिए दो प्रकार के कारण आवश्यक हैं—उपादान और निमित्त। उपादान कारण वह है, जो स्वयं कार्य रूप में परिणत हो जाए। निमित्त कारण वह है, जो कार्य के निष्पन्न होने में सहायक हो। यदि किसी पदार्थ की गति होती है, तो उसमें उपादान कारण तो वह पदार्थ स्वयं है किन्तु निमित्त कारण क्या है? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए हमें कोई ऐसे पदार्थ की आवश्कयता हो जाती है, जिसकी सहायता पदार्थ की गति में अनिवार्य हो। यदि हवा आदि को निमित्त कारण माना जाये, तो यह एक नया प्रश्न उत्पन्न हो जाता है कि उनकी (हवा आदि की) गति में कौन-सा निमित्त कारण है? यदि इसी प्रकार किसी अन्य द्रव्य को निमित्त माना जाए, तो ऐसे कारणों की परम्परा चलती ही जाती है और "अनवस्था दोष" (regresus ad infinitum) की उत्पत्ति हो जाती है इसलिए ऐसे पदार्थ की आवश्यकता हो जाती है, जो स्वयं गतिमान न हो।

यदि पृथ्वी, जल आदि स्थिर द्रव्यों को निमित्त कारण के रूप में माना जाता है, तो भी यह युक्त नहीं होता है, क्योंकि ये पदार्थ समस्त लोकव्यापी नहीं हैं। यह आवश्यक है कि गति-माध्यम के रूप में जिस पदार्थ को माना जाता है, वह सर्वव्यापी हो। इस प्रकार किसी ऐसे द्रव्य की कल्पना करनी पड़ती है, जो—

१. स्वयं गतिशून्य हो,

२. समस्त लोक में व्याप्त हो,

३. दूसरे पदार्थों की गति में सहायक हो सके।

ऐसा द्रव्य धर्मास्तिकाय ही है। यहाँ यदि धर्मास्तिकाय का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार न करके आकाश-द्रव्य को ही इन लक्षणों से युक्त माना जाए, तो भी एक बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। क्योंकि यदि आकाश-द्रव्य ही पदार्थों की गति में सहायक हो, तो आकाश असीम और अनन्त होने के कारण गतिमान पदार्थों की गति भी अनन्त आकाश में शक्य हो जाती है—उनकी गति अबाधित हो जाती है। परिणामस्वरूप अनन्त आत्माएँ और अनन्त जड़ पदार्थ अनन्त आकाश में निरंकुशतया गति करने लग जाते हैं और उनका परस्पर संयोग होना और व्यवस्थित, सान्त और निवासित विश्व के रूप में लोकाकाश का होना, असम्भव हो जाता है किन्तु इस विश्व का रूप व्यवस्थित है, विश्व एक क्रमबद्ध संसार (Cosmos) के रूप में दिखाई देता है, न कि अव्यवस्थित ढेर (Chaos) की तरह। ये तथ्य हमें इस निर्णय पर ले जाते हैं कि विश्व की व्यवस्था का आधार किसी स्वतन्त्र नियम पर है, परिणामस्वरूप हमें यह निर्णय करना पड़ता है कि पदार्थों की गति-अगति में सहायक आकाश नहीं, अपितु धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय नामक स्वतन्त्र द्रव्य हैं।

जिस प्रकार गति-स्थिति के निमित्त के रूप में धर्म और अधर्म-द्रव्यों की उपधारणा (पोस्च्यूलेशन) आवश्यक है, उसी प्रकार लोक-अलोक के विभाजन में भी इनको माने बिना तर्क-सम्मत समाधान नहीं मिलता। जैसे कुन्दकुन्दाचार्य ने लिखा है : "लोक सीमित है और उससे आगे अलोक-आकाश असीम है इसलिए पदार्थों की और प्राणियों की व्यवस्थित रूपरेखा को बनाए रखने के लिए आकाश के अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व होना चाहिए—यदि गति और अगति का माध्यम आकाश ही है, तो फिर अलोक-आकाश का अस्तित्व ही नहीं रहेगा और लोक-व्यवस्था का भी लोप हो जाएगा।" लोक और अलोक का विभाजन एक शाश्वत तथ्य है, अतः इसके विभाजक तत्त्व भी शाश्वत होने चाहिए। कृत्रिम वस्तु से शाश्वत आकाश का विभाजन नहीं हो सकता, अतः ऊपर बताये गए छह द्रव्यों में से ही विभाजक तत्त्व हो सकते हैं। यदि हम आकाश को ही विभाजक मानें, तो यह उपयुक्त नहीं होगा, क्योंकि आकाश स्वयं विभज्यमान है, अतः वह विभाजन का हेतु नहीं बन सकता। यदि काल को विभाजक तत्त्व माना जाए तो तर्क-संगत नहीं होता, क्योंकि काल वस्तुतः (निश्चय दृष्टि से) तो जीव और अजीव का पर्याय-मात्र है। यह केवल औपचारिक द्रव्य है। व्यावहारिक काल लोक के सीमित क्षेत्र में ही विद्यमान है, जबकि नैश्चयिक काल लोक और अलोक दोनों में है। जीव और पुद्गल गतिशील द्रव्य हैं, अतः ये विभाजक तत्त्व के योग्य नहीं हैं। इस प्रकार छह द्रव्यों में से केवल दो द्रव्य शेष रह जाते हैं, जो लोक-अलोक का विभाजन कर सकें। अतः धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय—ये दो द्रव्य ही आकाश का विभाजन करते हैं। जहाँ-जहाँ ये दो विद्यमान हैं, वहाँ-वहाँ जीव और पुद्गल गति करते हैं और स्थिर रहते हैं। जहाँ इनका अस्तित्व नहीं है, वहाँ किसी भी द्रव्य की गति और स्थिति सम्भव नहीं है। इस प्रकार लोकाकाश और अलोकाकाश का विभाजन हो जाता है। इसलिए कहा गया है—"धर्म और धर्म को लोक तथा अलोक का परिच्छेदक मानना युक्तियुक्त है। यदि ऐसा न हो, तो उनके विभाग का आधार ही क्या बने?"

इस प्रकार धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय गति-स्थिति निमित्तिक और लोक-अलोक विभाजक द्रव्यों के रूप में स्वीकार किए गए हैं। उक्त समग्र विवेचन को संक्षिप्त में इस प्रकार कहा जा सकता है : धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय—इन छह द्रव्यों से बना हुआ लोक परिमित है। इस लोक से परे आकाश-द्रव्य का अनन्त समुद्र है, जिसमें गति-स्थिति-माध्यमों के अभाव के कारण कोई भी जड़ पदार्थ या जीव गति करने में या ठहरने में समर्थ नहीं है।

काल

श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार काल औपचारिक द्रव्य है। वस्तुवृत्त्या वह जीव और जीव का पर्याय है। जहाँ इसके जीव-अजीव के पर्याय होने का उल्लेख है, वहाँ इसे द्रव्य भी कहा गया है। ये दोनों कथन विरोधी नहीं किन्तु सापेक्ष हैं। निश्चय-दृष्टि से काल जीव-अजीव का पर्याय है और व्यवहार दृष्टि से यह द्रव्य है। उसे द्रव्य मानने का कारण उसकी उपयोगिता है—'**उपकारकं द्रव्यम्**'। वर्तना, परिणमन, क्रिया, परत्व, अपरत्व आदि काल के उपकार हैं। इन्हीं के कारण यह द्रव्य माना जाता है। पदार्थों की स्थिति आदि के लिए जिसका व्यवहार होता है, वह आवलिका आदिरूप काल जीव-अजीव से भिन्न नहीं है, उन्हीं का पर्याय है।

दिगम्बर आचार्य काल को अणुरूप मानते हैं। वैदिक दर्शनों में सभी काल के सम्बन्ध में नैश्चयिक और व्यावहारिक दोनों पक्ष मिलते हैं। नैयायिक और वैशेषिक काल को सर्वव्यापी और स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं। योग, सांख्य आदि दर्शन काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते।

विज्ञान की दृष्टि से आकाश और काल

आइन्स्टीन के अनुसार आकाश और काल कोई स्वतन्त्र तथ्य नहीं है। वे द्रव्य या पदार्थ के धर्म-मात्र हैं।

किसी भी वस्तु का अस्तित्व पहले तीन आयामों (dimensions) लम्बाई, चौड़ाई और गहराई या ऊँचाई में माना जाता था। आइन्स्टीन ने वस्तु का अस्तित्व चार आयामों में माना—तीन आयाम आकाश के और एक काल का।

वस्तु का रेखागणित (ऊँचाई, लम्बाई, चौड़ाई) में प्रसार आकाश है और उसका क्रमानुगत प्रसार काल है। काल और आकाश दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं।

आइन्स्टीन के "आपेक्षिकता के सिद्धान्त" के अनुसार निरपेक्ष आकाश और निरपेक्ष काल का कोई अस्तित्व नहीं है। उनके अभिमतानुसार जिस प्रकार रंग, आकार तथा परिमाण (size) हमारी चेतना से उत्पन्न विचार हैं, उसी प्रकार आकाश और काल भी हमारी आंतरिक कल्पना के ही रूप हैं। जिन वस्तुओं को हम आकाश में देखते हैं, उनके 'क्रम' (order) के अतिरिक्त आकाश की कोई वस्तुनिष्ठ वास्तविकता (objective reality) नहीं है। उसी प्रकार जिन घटनाओं के द्वारा हम काल को मापते हैं, उन घटनाओं के 'क्रम' (sequence) के अतिरिक्त काल का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।

अस्तिकाय और काल

धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव—ये पांच अस्तिकाय हैं। ये तिर्यक-प्रचय-स्कन्ध के रूप में हैं, इसलिए उन्हें अस्तिकाय कहा जाता है। धर्म, अधर्म, आकाश और एक जीव एक स्कंध हैं। इनके देश या प्रदेश ये विभाग काल्पनिक हैं। मूलतः वे अविभागी हैं। पुद्गल विभागी है। उसके स्कंध और परमाणु—ये दो मुख्य विभाग हैं। परमाणु उसका अविभाज्य भाग है। दो परमाणु मिलते हैं—द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है। जितने परमाणु मिलते हैं, उतने प्रदेशों का स्कन्ध बन जाता है। प्रदेश का अर्थ है—पदार्थ के परमाणु जितना अवयव या भाग। धर्म, अधर्म, आकाश और जीव के स्कंधों के परमाणु जितने विभाग किए जाएँ तो आकाश के अनन्त और शेष तीनों के असंख्यात होते हैं, इसलिए आकाश को अनन्त-प्रदेशी और शेष तीनों को असंख्य-प्रदेशी कहा गया है। 'देश' बुद्धि-कल्पित होता है, उसका कोई निश्चित परिमाण नहीं बताया जा सकता।

अस्तिकाय के स्कन्ध, देश और प्रदेश इस प्रकार है :

अस्तिकाय	स्कन्ध	देश	प्रदेश
धर्म	एक	अनियत	असंख्यात
अधर्म	एक	अनियत	असंख्यात
आकाश	एक	अनियत	अनन्त
पुद्गल (स्कन्ध)	अनन्त (द्विप्रदेशी यावत् अनन्त-प्रदेशी)	अनियत	दो यावत् अनन्त परमाणु
एक जीव	एक	अनियत	असंख्यात

काल के अतीत समय नष्ट हो जाते हैं। अनागत समय अनुत्पन्न होते हैं। इसलिए उसका स्कन्ध नहीं बनता। वर्तमान समय एक होता है, इसलिए उसका तिर्यक्-प्रचय (तिरछा फैलाव) नहीं होता। काल का स्कंध या तिर्यक्-प्रचय नहीं होता, इसलिए वह अस्तिकाय नहीं है।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार कालाणुओं की संख्या लोकाकाश के तुल्य है। आकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु अवस्थित है। काल शक्ति और व्यक्ति की अपेक्षा एक प्रदेश वाला है इसलिए इसके तिर्यक्-प्रचय नहीं होता। धर्म आदि पाँचों द्रव्य के तिर्यक्-प्रचय क्षेत्र की अपेक्षा से होता है, इसलिए वे

फैलते हैं और काल के निर्मित्त से उनमें पौर्वापर्य या क्रमानुगत प्रसार होता है। समयों का जो प्रचय है वही काल द्रव्य का ऊर्ध्व-प्रचय है। काल स्वयं समय-रूप है। उसकी परिणति किसी दूसरे निमित्त की अपेक्षा से नहीं होती। केवल ऊर्ध्व-प्रचय वाला द्रव्य अस्तिकाय नहीं होता। काल को छोड़कर अन्य पाँचों द्रव्य सावयवी होने के कारण विस्तार (extention) वाले हैं। यह विस्तार क्षेत्र की दृष्टि से एक, दो या तीन आयामों में सम्भव है पर काल का प्रत्येक समय स्वतन्त्र है, इसलिए उसका विस्तार संभव नहीं है।

काल के विभाग

काल चार प्रकार का होता है—प्रमाण-काल, यथायुनिर्वृत्ति-काल, मरण-काल और अद्धा-काल।

काल के द्वारा पदार्थ मापे जाते हैं, इसलिए उसे प्रमाण-काल कहा जाता है।

जीवन और मृत्यु भी काल-सापेक्ष हैं, इसलिए जीवन के अवस्थान को यथायुनिर्वृत्ति-काल और उसके अन्त को मरण-काल कहा जाता है।

सूर्य, चन्द्र आदि की गति से सम्बन्ध रखने वाला अद्धा-काल कहलाता है। काल का प्रधान-रूप अद्धा-काल ही है शेष तीनों इसी के विशिष्ट रूप हैं। अद्धा-काल व्यावहारिक है। वह मनुष्य-लोक में ही होता है, इसलिए मनुष्य-लोक को 'समय-क्षेत्र' कहा जाता है। निश्चय काल जीव-अजीव का पर्याय है, वह लोक-अलोक व्यापी है। उसके विभाग नहीं होते। समय से लेकर पुद्गल-परावर्त तक के जितने विभाग हैं वे सब अद्धा-काल के हैं। इसका सर्व-सूक्ष्म भाग 'समय' कहलाता है। यह अविभाज्य होता है। इसकी प्ररूपणा कमलपत्र-भेद और वस्त्र-विदारण के द्वारा की जाती है—

(क) एक-दूसरे से सटे हुए कमल के सौ पत्तों को कोई बलवान् व्यक्ति सूई से छेद देता है, तब ऐसा ही लगता है कि सब पत्ते एक साथ ही छिद गए, किन्तु यह होता नहीं। जिस समय पहला पत्ता छिदा, उस समय दूसरा नहीं। इसी प्रकार सब का छेदन क्रमशः होता है।

(ख) एक कलाकुशल युवा और बलिष्ठ जुलाहा जीर्ण-शीर्ण वस्त्र या साड़ी को इतनी शीघ्रता से फाड़ डालता है कि दर्शक को ऐसा लगता है मानो सारा वस्त्र एक साथ फाड़ डाला, किन्तु ऐसा होता नहीं। वस्त्र अनेक तन्तुओं से बनता है। जब तक ऊपर के तन्तु नहीं फटते तब तक नीचे के तन्तु नहीं फट सकते। अतः यह निश्चित है कि वस्त्र फटने में काल-भेद होता है।

तात्पर्य यह है कि वस्त्र अनेक तन्तुओं से बनता है। प्रत्येक तन्तु में अनेक रुएं होते हैं उनमें भी ऊपर का रुआं पहले छिदता है, तब कहीं उसके नीचे का रुआं छिदता है। अनन्त परमाणुओं से मिलन का नाम संघात है। अनन्त संघातों का एक समुदाय और अनन्त समुदायों की एक समिति होती है। ऐसी अनन्त समितियों के संगठन से तन्तु के ऊपर का एक रुआं बनता है। इन सबका छेदन क्रमशः होता है। तन्तु के पहले रुएँ के छेदन में जितना समय लगता है उसका अत्यन्त सूक्ष्म अंश यानी असंख्यातवां भाग समय कहलाता है।

अविभाज्य काल	= एक समय
असंख्यात समय	= एक आवलिका
२५६ आवलिका	= एक क्षुल्लक भव (सबसे छोटी आय)
४४४६ $\frac{२४५८}{३७७३}$ आवलिका या साधिक १७ क्षुल्लक भव	= एक प्राण या एक श्वासोच्छ्वास
७ प्राण	= एक स्तोक
७ स्तोक	= एक लव
३८$\frac{१}{२}$ लव	= एक घड़ी (२४ मिनट)
७७ लव	= दो घड़ी अथवा १ मुहूर्त (४८ मिनट)
	= ६५५३६ क्षुल्लक भव
	= १६७७७२१६
	= ३७७३ प्राण
३० मुहूर्त	= एक दिन-रात (अहोरात्र)
१५ दिन	= एक पक्ष
२ पक्ष	= एक मास
२ मास	= एक ऋतु
३ ऋतु	= एक अयन
२ अयन	= एक वर्ष
५ वर्ष	= एक युग
७० लाख करोड़, ५६ हजार करोड़ वर्ष	= एक पूर्व

असंख्यात वर्ष = एक पल्योपम[1]

१० क्रोड़ाक्रोड़ (क्रोड़×क्रोड़) पल्योपम = एक सागरोपम

२० क्रोड़ाक्रोड़ सागरोपम = एक काल-चक्र

अनन्त काल-चक्र = एक पुद्गल परावर्त

इन सारे विभागों को संक्षेप में अतीत, प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) और अनागत कहा जाता है।

अभ्यास

१. द्रव्य किसे कहते हैं?

२. "अस्तिकाय की अवधारणा जैन दर्शन की एक मौलिक देन है" इसे सिद्ध करें।

३. धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को मानने के लिए क्या युक्तियाँ दी जा सकती हैं?

४. लोकाकाश किसे कहते हैं?

५. जैन दर्शन में आकाश और काल के स्वरूप को स्पष्ट करें।

---

१. पल्योपम—संख्या से ऊपर का काल—असंख्यात काल, उपमा काल—एक चार कोश का लम्बा-चौड़ा और गहरा कुआं है, उसमें नवजात यौगलिक शिशु के केशों को, जो मनुष्य के केश के २४०१ हिस्से जितने सूक्ष्म हैं, असंख्य खण्ड कर ठसाठस भरा जाए, प्रति सौ वर्ष के अन्तर से एक-एक केश-खण्ड निकालते-निकालते जितने काल में वह कुआं खाली हो, उतने काल को एक पल्योपम कहते हैं।

३

अब निहारें परमाणु-जगत् का ताण्डव-नृत्य

पुद्गल

विज्ञान जिसको भौतिक अस्तित्व (Physical Order of Existence) और न्याय-वैशेषिक आदि जिसे भौतिक तत्त्व कहते हैं, उसे जैन-दर्शन में पुद्गल संज्ञा दी गयी है। बौद्ध-दर्शन में पुद्गल शब्द आलय-विज्ञान—चेतना-संतति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैन-शास्त्रों में भी अभेदोचार से पुद्गलयुक्त आत्मा को पुद्गल कहा है। किन्तु मुख्यतया पुद्गल का अर्थ है—मूर्त द्रव्य। छह द्रव्यों में काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं, अवयवी हैं, फिर भी इन सबकी स्थिति एक-सी नहीं। पुद्गल अखण्ड द्रव्य नहीं है। उसका सबसे छोटा रूप एक परमाणु है और सबसे बड़ा रूप विश्वव्यापी अचित्त महास्कंध इसीलिए उसको पूरण-गलन-धर्म कहा है। स्निग्ध या रूक्ष कणों की संख्या वृद्धि का नाम 'पूरण' और उनकी संख्या-हानि का नाम 'गलन' है। शब्द, सूक्ष्म-स्थूल, हल्का-भारी, लम्बा-चौड़ा, बन्ध-भेद, आकार, प्रकाश-अन्धकार, ताप-छाया आदि पौद्गलिक पदार्थों के विषय में जो विस्तृत विवेचन जैन दर्शन में प्रस्तुत हुआ है, वह जैन तत्त्वज्ञान की सूक्ष्म-दृष्टि और वैज्ञानिकता का परिचायक है।

तत्त्व-संख्या में परमाणु की स्वतन्त्र गणना नहीं है। वह पुद्गल का ही एक विभाग है। पुद्गल के दो प्रकार बतलाएँ हैं :

१. परमाणु-पुद्गल

२. नो-परमाणु-पुद्गल—द्विप्रदेशी (द्वयणुक) आदि स्कन्ध।

पुद्गल के विषय में जैन-तत्त्ववेत्ताओं ने जो विवेचना और विश्लेषणा दी है, उसमें उनकी मौलिकता सहज सिद्ध है।

यद्यपि कुछेक पश्चिमी विद्वानों का ख्याल है कि भारत में परमाणुवाद यूनान से आया, किन्तु यह सही नहीं है। यूनान में परमाणुवाद का जन्मदाता डिमोक्रिट्स हुआ है। उसके परमाणुवाद से जैनों का परमाणुवाद बहुतांश में भिन्न है, मौलिकता की दृष्टि से सर्वथा भिन्न है। जैन-दृष्टि के अनुसार परमाणु चेतना

का प्रतिपक्षी है, जबकि डिमोक्रिटस के मतानुसार आत्मा सूक्ष्म परमाणुओं का ही विकार है।

कई भारतीय विद्वान परमाणुवाद को कणाद ऋषि (वैशेषिक दर्शन के प्रणेता) की उपज मानते हैं किन्तु तटस्थ दृष्टि से देखा जाए तो वैशेषिकों का परमाणुवाद जैन-परमाणुवाद से पहले का नहीं है और न जैनों की तरह वैशेषिकों ने उसके विभिन्न पहलुओं पर वैज्ञानिक प्रकाश ही डाला है। विद्वानों ने माना है कि भारतवर्ष में परमाणुवाद के सिद्धान्त को जन्म देने का श्रेय जैन-दर्शन को मिलना चाहिए। उपनिषद् में अणु शब्द का प्रयोग हुआ है, जैसे—'अणोरणीयान् महतो महीयान्', किन्तु परमाणुवाद नाम की कोई वस्तु उनमें नहीं पायी जाती। वैशेषिकों का परमाणुवाद शायद इतना पुराना नहीं है।

ई.पू. के जैन सूत्रों एवं उत्तरवर्ती साहित्य में परमाणु के स्वरूप और कार्य का सूक्ष्मतम अन्वेषण परमाणुवाद के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त उपयोगी है। श्वेताम्बर साहित्य में भगवती सूत्र, स्थानांग सूत्र, पण्णवणा सूत्र, तत्त्वार्थ सूत्र (स्वोपज्ञ भाष्य) आदि तथा दिगम्बर साहित्य में षट्खण्डागम (धवला टीका), गोम्मटसार, बृहद् द्रव्य-संग्रह, पंचास्तिकायसार, तत्त्वार्थ-राजवार्तिक आदि में परमाणुवाद का विस्तृत विवेचन है।

परमाणु का स्वरूप

जैन-परिभाषा के अनुसार अछेद्य, अभेद्य, अग्राह्य, अदाह्य और निर्विभागी पुद्गल को परमाणु कहा जाता है। आधुनिक विज्ञान के विद्यार्थी को परमाणु के उपलक्षणों में संदेह हो सकता है, कारण कि विज्ञान के सूक्ष्म यन्त्रों में परमाणु की अविभाज्यता सुरक्षित नहीं है।

परमाणु अगर अविभाज्य न हो तो उसे परम + अणु नहीं कहा जा सकता। विज्ञान-सम्मत परमाणु टूटता है, उसे भी हम अस्वीकार नहीं करते। इस समस्या के बीच हमें जैन आगम अनुयोगद्वार में वर्णित परमाणु-द्विविधता का सहज स्मरण हो आता है—

१. नैश्चयिक (या सूक्ष्मतम) परमाणु।

२. व्यावहारिक परमाणु।

सूक्ष्मतम परमाणु का स्वरूप वही है, जो कुछ ऊपर की पंक्तियों में बताया गया है। व्यावहारिक परमाणु अनन्त सूक्ष्मतम परमाणुओं के समुदय से बनता है। वस्तुवृत्या वह स्वयं परमाणु-पिंड है, फिर भी साधारण दृष्टि से ग्राह्य नहीं होता और साधारण अस्त्र-शस्त्र से तोड़ा नहीं जा सकता। उसकी परिणति सूक्ष्म होती है,

इसलिए व्यवहारतः उसे परमाणु कहा गया है। विज्ञान के परमाणु की तुलना इस व्यावहारिक परमाणु से होती है इसलिए परमाणु के टूटने की बात एक सीमा तक जैन-दृष्टि को भी स्वीकार्य है।

पुद्गल के गुण

पुद्गल के मूल गुण बीस हैं :

स्पर्श—शीत, उष्ण, रूक्ष, स्निग्ध, लघु, गुरु, मृदु और कर्कश।

रस—अम्ल, मधुर, कटु, कषाय और तिक्त।

गन्ध—सुगन्ध और दुर्गन्ध।

वर्ण—कृष्ण, नील, रक्त, पीत और श्वेत।

उपर्युक्त आठ स्पर्शों में पहले चार स्पर्श मूलभूत हैं और शेष चार स्पर्श संयोगज हैं। इनकी तुलना विज्ञान में प्रचलित जड़ पदार्थ के गुणधर्मों के साथ इस प्रकार की जा सकती है—

शीत, उष्ण—तापमान (temperature)

रूक्ष, स्निग्ध—धन (+) और ऋण (-) विद्युत

लघु, गुरु—संहति (mass)

मृदु, कर्कश—सतही कठोरता (hardness)

यद्यपि परिमण्डल, वृत्त, त्रयस्र, चतुरस्रत आदि संस्थान (आकार) पुद्गल में ही होता है, फिर भी वह उसका गुण नहीं है।

सूक्ष्म परमाणु द्रव्य-रूप में निरवयव और अविभाज्य होते हुए भी पर्याय दृष्टि से वैसा नहीं है। उसमें वर्ण, गंध और रस और स्पर्श—ये चार गुण और अनन्त पर्याय होते हैं। एक परमाणु में एक वर्ण, एक गंध, एक रस और दो स्पर्श (शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष इन युगलों में से एक-एक) होते हैं। पर्याय की दृष्टि से एक गुण (unit) काला परमाणु अनन्त गुण काला जो जाता है और अनन्त काला परमाणु एक गुण काला। एक परमाणु में वर्ण से वर्णान्तर, गंध से गंधान्तर, रस से रसान्तर और स्पर्श से स्पर्शान्तर होना जैन दृष्टि सम्मत है।

एक गुण काला पुद्गल यदि उसी रूप में रहे तो जघन्यतः (कम से कम) एक समय और उत्कृष्टतः (अधिक से अधिक) असंख्यात काल तक रह सकता है। द्विगुण से लेकर अनन्त गुण तक के परमाणु-पुद्गलों के लिए यही नियम है। बाद में उनमें परिवर्तन अवश्य होता है। यह वर्ण-विषयक नियम गंध, रस और स्पर्श पर भी लागू होता है।

परमाणु की अतीन्द्रियता

परमाणु इन्द्रियग्राह्य नहीं होता, फिर भी अमूर्त नहीं है, वह रूपी है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष से वह देखा जाता है। परमाणु मूर्त होते हुए भी दृष्टिगोचर नहीं होता, इसका कारण है उसकी सूक्ष्मता।

केवल-ज्ञान का विषय मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के पदार्थ हैं इसलिए केवली (सर्वज्ञ और अतीन्द्रिय-दृष्टा) तो परमाणु को जानते ही हैं, अकेवली यानी छद्मस्थ अथवा क्षायोपशमिक ज्ञानी (जिसका आवरण-विलय अपूर्ण है) परमाणु को जान भी सकता है और नहीं भी। अवधिज्ञानी (रूपी द्रव्य विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान वाला व्यक्ति) उसे जान सकता है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष वाला व्यक्ति उसे नहीं जान सकता।

परमाणु-समुदाय और पारमाणविक जगत

यह दृश्य-जगत—पौद्गलिक जगत् परमाणु-संघटित है। परमाणुओं से स्कन्ध बनते हैं और स्कन्धों से स्थूल पदार्थ। पुद्गल में संघातक और विघातक—ये दोनों शक्तियाँ हैं। पुद्गल शब्द में ही 'पूरण और गलन' इन दोनों का मेल है। परमाणु के मेल से स्कन्ध बनता है और एक स्कन्ध के टूटने से भी अनेक स्कन्ध बन जाते हैं। यह गलन (fusion) और मिलन (fission) की प्रक्रिया स्वाभाविक भी होती है और प्राणी के प्रयत्न से भी। पुद्गल की अवस्थाएँ सादि-सान्त होती हैं, अनादि-अनन्त नहीं। इसलिए एक पौद्गलिक पदार्थ को दूसरे पौद्गलिक पदार्थ के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। पारे को सोने में बदला जा सकता है।[१] पुद्गल में अगर वियोजक शक्ति नहीं होती,

१. विज्ञान की दुनिया में लगभग १०० वर्षों तक यह धारणा बनी रही कि संसार के पदार्थ ६२ मूल तत्त्वों से बने हैं, जैसे सोना, चाँदी, लोहा, तांबा, पारा आदि। ये तत्त्व अपरिवर्तनीय माने गए अर्थात् न तो लोहे को सोने में और न सीसे को चाँदी आदि में बदला जा सकता है। फिर रदर-फोर्ड और टामसन के प्रयोगों ने यह सिद्ध कर दिया कि चाहे लोहा हो या सोना, दोनों ही द्रव्यों के परमाणु एक-से ही कणों से मिलकर बने हैं। उदाहरण के लिए पारे के अणु का भार (atomic wieght) २०० होता है। २०० का अर्थ है हाइड्रोजन के परमाणु से २०० गुणा भारी। (हाइड्रोजन के परमाणु को इकाई माना गया है।) उसको प्रोटोन द्वारा विस्फोटित किया गया जिसमें वह प्रोटोन पारे में घुलमिल गया और उसका भार २०१ हो गया। (प्रोटोन का भार १ होता है), तब स्वतः उस क्रमशः.....

तो सब अणुओं का एक पिंड बन जाता और यदि संयोजक शक्ति नहीं होती, तो एक-एक अणु अलग-अलग रहकर कुछ नहीं कर पाते। प्राणी-जगत् के प्रति परमाणु का जितना भी कार्य है, वह सब परमाणु समुदाय जन्य है; अनन्त परमाणु-स्कन्ध ही प्राणीजगत् के लिए उपयोगी हैं।

स्कन्ध-भेद की प्रक्रिया के कुछ उदाहरण

दो परमाणु पुद्गल के मेल से द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है और द्विप्रदेशी स्कन्ध के भेद से दो परमाणु हो जाते हैं।

तीन परमाणु मिलने से त्रिप्रदेशी स्कन्ध बनता है और उनके अलगाव में दो विकल्प हो सकते हैं—तीन परमाणु अथवा एक परमाणु और एक द्विप्रदेशी स्कन्ध।

चार परमाणु के समुदय से चतुःप्रदेशी स्कन्ध बनता है और उसके भेद के चार विकल्प होते हैं :

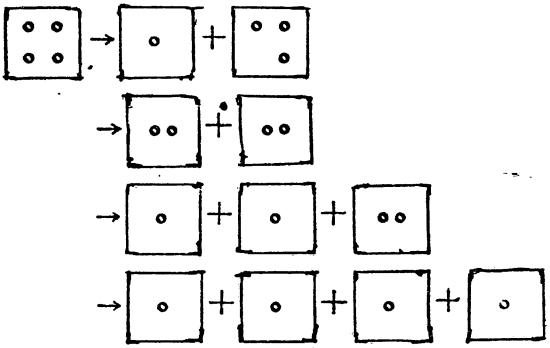

१. एक परमाणु और एक त्रिप्रदेशीय स्कन्ध।

२. दो द्विप्रदेशी स्कंध।

क्रमश : नवीन अणु के मूल चूल से एक अल्फा कण निकल भागा जिसका भार ४ है, अतः उतना ही भार कम हो गया और फलस्वरूप वह १६७ भार का अणु बन गया और सोने के अणु का भार १६७ होता है। इस प्रकार पारे के पुद्गलाणु की पूरण-गलन-प्रक्रिया द्वारा वह (पारा) सोना बन गया। परमाणुओं में ये अल्फा-कण भरे पड़े हैं।

हमारे शास्त्रों की परिभाषा में यह कहा जाएगा कि पारा और सोना भिन्न-भिन्न पदार्थ नहीं हैं, बल्कि पुद्गल द्रव्य के दो भिन्न-भिन्न पर्याय हैं, अतएव इनका परस्पर परिवर्तन असम्भव बात नहीं है।

३. दो पृथक्-पृथक् परमाणु और एक द्विप्रदेशी स्कन्ध।

४. चारों पृथक्-पृथक् परमाणु।

पुद्गल में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य

पुद्गल शाश्वत भी है और अशाश्वत भी। द्रव्यार्थतया शाश्वत है और पर्यायरूप में अशाश्वत। परमाणु-पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा से अचरम (अंतिम नही) है। यानी परमाणु संघात-रूप में परिणत होकर भी पुनः परमाणु बन जाता है, इसलिए द्रव्यत्व की दृष्टि से चरम (अन्तिम—ultimate) नहीं है। क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से चरम भी होता है और अचरम भी।

पुद्गल की द्विविधा परिणति

पुद्गल की परिणति दो प्रकार की होती है :

१. सूक्ष्म,

२. बादर—स्थूल।

अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध भी जब तक सूक्ष्म परिणति में रहता है, तब तक इन्द्रियगाह्य नहीं बनता और सूक्ष्म परिणति वाले स्कन्ध चतुःस्पर्शी होते हैं। उत्तरवर्ती चार स्पर्श स्थूल परिणाम वाले स्कन्धों में ही होते हैं। गुरु-लघु और मृदु-कठोर—ये स्पर्श पूर्ववर्ती चार स्पर्शों के सापेक्ष संयोग से बनते हैं। रूक्ष-स्पर्श की बहुलता से लघु-स्पर्श होता है और स्निग्ध की बहुलता से गुरु। शीत और स्निग्ध स्पर्श की बहुलता से मृदु-स्पर्श और उष्ण तथा रूक्ष की बहुलता से कर्कश-स्पर्श बनता है। तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म परिणति की निवृत्ति के साथ-साथ जहाँ स्थूल परिणति होती है, वहाँ चार स्पर्श बढ़ जाते हैं।

पुद्गल के प्रकार

पुद्गल द्रव्य चार प्रकार का माना गया है :

१. स्कन्ध—परमाणु-प्रचय।

२. स्कंध-देश—स्कन्ध का कल्पित विभाग।

३. स्कन्ध-प्रदेश—स्कन्ध से अपृथग्भूत अविभाज्य अंश।

४. परमाणु—स्कन्ध से पृथक् निरंश-तत्त्व।

प्रदेश और परमाणु में सिर्फ स्कन्ध से पृथग् भाव (अलग होने)और अपृथग् भाव (जुड़े रहने) का अन्तर है।

पुद्गल कब से और कब तक

प्रवाह की अपेक्षा से स्कन्ध और परमाणु अनादि-अपर्यवसित है, कारण कि इनकी सन्तति अनादिकाल से चली आ रही है और चलती रहेगी। स्थिति की अपेक्षा से यह सादि-सपर्यवसन भी है। जैसे परमाणुओं से स्कन्ध बनता है और स्कन्ध-भेद से परमाणु बन जाते हैं।

परमाणु परमाणु के रूप में और स्कन्ध स्कन्ध के रूप में रहें तो कम से कम एक समय और अधिक से अधिक असंख्यात काल तक रह सकते हैं। बाद में तो उन्हें बदलना ही पड़ता है। यह इनकी काल-सापेक्ष स्थिति है। क्षेत्र-सापेक्ष स्थिति—परमाणु अथवा स्कन्ध में एक क्षेत्र में रहने की स्थिति भी यही है।

परमाणु स्कन्धरूप में परिणत होकर फिर परमाणु बनने में कम-से-कम एक समय और अधिक से अधिक असंख्यात काल लगता है और द्वयणुकादि स्कन्धों के परमाणु रूप में अथवा त्रुणुकादि स्कन्ध रूप में परिणत होकर फिर मूल रूप में आने से कम-से-कम एक समय और अधिक-से-अधिक अनन्त काल लगता है।

एक परमाणु अथवा स्कन्ध जिस आकाश-प्रदेश में थे और किसी कारणवश वहाँ से चल पड़े, फिर आकाश-प्रदेश में उत्कृष्टतः अनन्त काल के बाद और जघन्यतः एक समय के बाद ही आ पाते हैं। परमाणु आकाश के एक प्रदेश में ही रहते हैं। स्कन्ध के लिए यह नियम नहीं है। वे एक, दो, संख्यात, असंख्यात प्रदेशों में रह सकते हैं, यावत् समूचे लोकाकाश तक भी फैल जाते हैं। समूचे लोक में फैल जाने वाला स्कन्ध 'अचित्त महास्कन्ध' कहलाता है।

पुद्गल का अप्रदेशित्व और सप्रदेशित्व

द्रव्य की अपेक्षा से—स्कन्ध सप्रदेशी होते हैं।

क्षेत्र की अपेक्षा से स्कन्ध सप्रदेशी भी होते हैं और अप्रदेशी भी। जो एक आकाश प्रदेशावगाही होता है अर्थात् आकाश के एक प्रदेश में ठहरने वाला होता है. वह अप्रदेशी और जो दो आदि आकाश-प्रदेशावगाही होता है वह सप्रदेशी।

काल की अपेक्षा से—जो स्कन्ध एक समय की स्थिति वाला होता है वह अप्रदेशी और जो इससे अधिक स्थिति वाला होता है वह सप्रदेशी।

भाव की अपेक्षा से—एक गुण (unit) वाला स्कन्ध अप्रदेशी और अधिक गुण वाला सप्रदेशी होता है।

द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा से परमाणु अप्रदेशी होते हैं। काल की अपेक्षा से एक समय की स्थिति वाला परमाणु अप्रदेशी और अधिक समय की स्थिति

वाला, सप्रदेशी। भाव की अपेक्षा से एक गुण वाला अप्रदेशी और अधिक गुण वाला सप्रदेशी।

परिणमन के तीन हेतु

परिणमन की अपेक्षा पुद्गल तीन प्रकार के होते हैं—

१. वैस्रसिक (स्वाभाविक)

२. प्रायोगिक,

३. मिश्र।

स्वभावत: जिनका परिणमन होता है, वे **वैस्रसिक** हैं, जैसे—जीवच्छरीर। जीव के प्रयोग से शरीर आदि रूप में परिणत पुद्गल **प्रायोगिक** हैं। जीव के द्वारा मुक्त होने पर भी जिनका जीव के प्रयोग से हुआ परिणमन नहीं छूटता अथवा जीव के प्रयत्न और स्वभाव—दोनों के संयोग से जो बनते हैं, वे मिश्र कहलाते हैं, जैसे—मृत शरीर।

इनका रूपान्तर असंख्यात काल के बाद अवश्य ही होता है।

पुद्गल द्रव्य में ग्रहण्या नाम का एक गुण होता है। पुद्गल के सिवाय अन्य पदार्थों में किसी दूसरे पदार्थ से जा मिलने की शक्ति नहीं है। पुद्गल का आपस में मिलन होता है वह तो है ही, किन्तु इसके अतिरिक्त जीव के द्वारा उसका ग्रहण किया जाता है। पुद्गल स्वयं जाकर जीव से नहीं चिपटता, किन्तु वह जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ संलग्न होता है। जीव सम्बद्ध पुद्गल का जीव पर बहुविध असर होता है, जिसका औदारिक आदि वर्गणा के रूप में आगे उल्लेख किया जाएगा।

पुद्गलों का श्रेणी-विभाग

दो परमाणुओं से लेकर अनन्त या अनन्त-अनन्त परमाणुओं के संयोग से जो स्कन्ध बनते हैं उनका वर्गीकरण अनेक दृष्टियों से किया जा सकता है। उनमें से एक है—जीव को काम में आने की दृष्टि से पुद्गल-स्कन्धों का वर्गीकरण। सूक्ष्म पुद्गल-स्कन्ध जीव के काम में नहीं आते, अत: यह स्पष्ट है कि केवल अनन्त-अनन्त परमाणुओं के संयोग से बनने वाले स्कंध ही जीव के लिए उपयोगी बनते हैं। एक ही प्रकार के ऐसे पुद्गल-स्कन्धों की श्रेणी या जाति को "वर्गणा" (class) कहा जाता है। पुद्गल-स्कन्धों की अनन्त पुद्गलों का जीव पर बहुविध असर होता है। इस दृष्टि से यह आठ वर्गणाएँ बताई गई हैं।

१. औदारिक वर्गणा २. वैक्रिय वर्गणा

३. आहारक वर्गणा ४. तैजस वर्गणा
५. कार्मण वर्गणा ६. श्वासोच्छ्वास वर्गणा
७. भाषा वर्गणा ८. मनो वर्गणा।

इनमें पहली पाँच वर्गणाएँ पाँच प्रकार के शरीरों के निर्माण में उपयोगी होती हैं, शेष तीन वर्गणाएँ क्रमशः श्वास-उच्छ्वास, वाणी और मन की क्रियाओं में काम में आती हैं।

१. **औदारिक**—स्थूल पुद्गलों से निष्पन्न रस, रक्त, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र रूप धातुमय शरीर का निर्माण जिन पुद्गलों से होता है, वे औदारिक वर्गणा के पुद्गल कहलाते हैं। मनुष्य एवं तिर्यंच (पशु, पक्षी, कीट, पतंग एवं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि) जीवों के शरीर औदारिक वर्गणा के पुद्गलों से निर्मित होते हैं।

२. **वैक्रिय**—भाँति-भाँत के रूप, आकृति (जैसे—छोटा-बड़ा, हल्का-भारी, दृश्य-अदृश्य आदि) आदि करने में समर्थ शरीर का निर्माण वैक्रिय—वर्गणा के पुद्गलों से होता है। देव एवं नारक जीवों को ऐसा शरीर जन्म से ही सहज प्राप्त होता है। वायुकायिक जीव, वैक्रिय-लब्धि (जन्म से नहीं, अपितु विशेष उपक्रम से प्राप्त सामर्थ्य)—सम्पन्न मनुष्य और तिर्यंच जीवों को भी यह प्राप्त हो सकता है। वैक्रिय-शरीर रक्त, मांस आदि धातुओं से रहित होता है।

३. **आहारक**—विशेष तपस्या आदि के उपक्रम से प्राप्त आहारक लब्धि (योग-शक्ति) से निष्पन्न शरीर आहारक वर्गणाओं के पुद्गल से निर्मित होता है। इस शरीर का उपयोग चतुर्दशपूर्व-धर (विशेष ज्ञानी) साधु अपनी जिज्ञासा के समाधान के लिए दूर-संचार (tele-commuuication) में करते हैं। वे अपने ही शरीर में से "आहारक शरीर" का प्रेषण दूरस्थ सर्वज्ञ को करते हैं और जिज्ञासा का समाधान पाते हैं।

४. **तैजस**—यह प्रत्येक प्राणी के स्थूल शरीर (औदारिक या वैक्रिय) के साथ रहने वाला सूक्ष्म शरीर है, जो निरन्तर जीव के साथ रहता है। मृत्यु के उपरान्त भी (स्थूल शरीर के छूट जाने के बाद भी) तैजस शरीर का साहचर्य बना रहता है। यह तेजोमय परमाणुओं से निष्पन्न होता है, जिसकी तुलना जैव-विद्युत-प्लाज्मा (bio-electrical plasma) के साथ की जा सकती है। तैजस वर्गणा के पुद्गल विद्युत्मय ऊर्जा के रूप में होने के कारण जीव की पाचन-क्रिया में रासायनिक प्रक्रियाओं के लिए जिम्मेवार होते हैं। वैज्ञानिक शब्दावली में कहा जा सकता है कि तैजस विद्युत-रासायनिक ऊर्जा का स्रोत है जो पाचन के लिए आवश्यक है। तैजस शरीर की ऊर्जा का विशेष नियमन कर

व्यक्ति "तेजोलब्धि" नामक शक्ति उत्पन्न कर सकता है, जिसकी ऊर्जा की क्षमता सोलह जनपदों को भस्मसात् करने जितनी है। उष्ण तेजोलब्धि दाहक और शीत तेजोलब्धि शामक होती है। वर्तमान-युग में प्रयुक्त आणविक या नाभिक अभिक्रियाओं से प्राप्त ऊर्जा के साथ तेजोलब्धि की तुलना की जा सकती है।

५. **कार्मण**—कर्मों के पुद्गल-समूह इस वर्गणा के अन्तर्गत आते हैं। कार्मण वर्गणा के पुद्गल-समूह जीवों की सत्-असत् किया के प्रतिफल के जीव के साथ बंध जाते हैं, जिससे कार्मण-शरीर का निर्माण होता है। कार्मण-शरीर तैजस शरीर से भी सूक्ष्मतर होता है और तैजस शरीर की तरह सदा जीव के साथ रहता है।

६. **श्वासोच्छ्वास**—श्वास और उच्छ्वास या आन-प्राण के योग्य पुद्गल-समूह इस वर्गणा के अन्तर्गत आते हैं। ऑक्सीजन के स्कन्धाणु इस वर्गणा के हैं।

७. **भाषा वर्गणा**—जब कोई भी जीव वाणी-प्रयोग करता है तब इस वर्गणा के पुद्गल-समूह को ध्वनि में परिवर्तित कर करता है।

८. **मनो वर्गणा**—चिन्तन आदि मन की प्रवृत्तियों में सहायक बनने वाले पुद्गल-समूह इस वर्गणा के अन्तर्गत आते हैं। कोई भी संज्ञी (मननशील) प्राणी जब चिन्तन आदि मन की प्रवृत्ति करता है, तो पहले मनो वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करता है और उनकी सहायता से मनन, चिन्तन आदि क्रियाएँ सम्पन्न करता है।

इन वर्गणाओं से पाँच प्रकार के शरीर का निर्माण करने वाले पुद्गल स्कन्ध उत्तरोत्तर (क्रमशः) सूक्ष्म और स्कन्ध-परिमाण की अपेक्षा से असंख्य गुने होते हैं तथा तैजस और कार्मण शरीर के पुद्गल-स्कन्ध अनन्त गुने होते हैं। एक पौद्गलिक पदार्थ का दूसरे पौद्गलिक पदार्थ के रूप में परिवर्तन हो सकता है, अतः एक वर्गणा के पुद्गल वर्गणान्तर के रूप में परिवर्तित हो सकते हैं।

प्रथम चार वर्गणाएँ तथा श्वासोच्छ्वास वर्गणा अष्ट-स्पर्शी—स्थूल स्कन्ध हैं। वे हल्की-भारी, मृदु कठोर भी होती हैं। कार्मण, भाषा और मन ये तीन वर्गणाएँ चतुःस्पर्शी हैं अर्थात् सूक्ष्म स्कन्ध हैं। इनमें केवल शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष—ये चार ही स्पर्श होते हैं, शेष चार स्पर्श (हल्का-भारी, मृदु-कठोर) नहीं होते। श्वासोच्छ्वास वर्गणा के पुद्गल क्वचित् चतुःस्पर्शी भी होते हैं।

प्राणी और पुद्गल का सम्बन्ध

प्राणी के उपयोग में जितने पदार्थ आते हैं, वे सब पौद्गलिक ही होते हैं, किन्तु विशेष ध्यान देने की बात यह है कि वे सब जीव-शरीर में प्रयुक्त हुए

होते हैं। तात्पर्य यह है कि वे मिट्टी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रसकायिक जीवों के शरीर या शरीर-मुक्त पुद्गल हैं।

दूसरी दृष्टि से देखें तो स्थूल स्कन्ध वे ही हैं जो विस्रसा परिणाम से औदारिक आदि वर्गणा के रूप में सम्बद्ध होकर प्राणियों के स्थूल शरीर के रूप में परिणाम अथवा उससे मुक्त होते हैं। वैशेषिकों की तरह जैन दर्शन में पृथ्वी, पानी आदि के परमाणु पृथक् लक्षण वाले नहीं हैं। इन सबमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण—ये सभी गुण रहते हैं।

पुद्गल की गति

परमाणु स्वयं गतिशील है। वह एक क्षण में लोक के एक सिरे से दूसरे सिरे तक, जो असंख्य योजन की दूरी पर है, चला जाता है। गति-परिणाम उसका स्वाभाविक धर्म है। धर्मास्तिकाय उसका प्रेरक नहीं, मात्र सहायक है। गति का उपादान परमाणु स्वयं है। धर्मास्तिकाय तो उसकी गति करने में सहायक होता है, निमित्त बनता है।

परमाणु सैज (सकम्प) भी होता है और अनैज (अकम्प) भी। कम्पन (Vibrations) परमाणु की स्वाभाविक गति (motion) का एक रूप है। कदाचित् वह चंचल होता है, कदाचित नहीं। उसमें न तो निरन्तर कम्पभाव रहता है और न निरन्तर अकम्प-भाव भी।

द्वयणुक स्कन्ध में कदाचित् कम्पन, कदाचित अकम्पन होता है। वह द्वयंश (दो अंश वाला) होता है, इसलिए उसमें देश-कम्प और देश-अकम्प ऐसी स्थिति भी होती है।

इसी प्रकार त्रिप्रदेशी, चतुःप्रदेशी, आदि से लेकर अनन्त प्रदेशी तक से स्कन्धों में कम्प-अकम्प के अनेक विकल्प बनते हैं। ये विकल्प आधुनिक गणित-शास्त्र में प्रयुक्त क्रमचय और संचय (Permutations and Combinations) की विधि का अच्छा उदाहरण है।

पुद्गल की अवस्थाएँ

परमाणुओं के एकीकरण या पृथक्करण के परिणामस्वरूप जो पुद्गल स्कन्ध बनते हैं, उनकी मुख्य दस अवस्थाएँ उपलब्ध होती हैं, जो पुद्गल के ही गुणधर्म या कार्य हैं—

१. शब्द (Sound)
२. बन्ध (Fusion)
३. सौक्ष्मय (Subtlety)
४. स्थौल्य (Grossness)

५. संस्थान (Configurations)
६. भेद (Fission)
७. तम (Darkness)
८. छाया (Shadow)
९. आतप (Sunlight)
१०. उद्योत (Moonlight)

ये पौद्गलिक कार्य तीन प्रकार के होते हैं—

१. प्रायोगिक—जीव के प्रयोग से होने वाले।
२. वस्रसिक—जीव के स्वभाव से होने वाले।
३. मिश्र—जीव के प्रयत्न और स्वभाव—दोनों के संयोग से होने वाले।

शब्द

जैन दार्शनिकों ने 'शब्द' को केवल पौद्गलिक कहकर ही विश्राम नहीं लिया, किन्तु उसकी उत्पत्ति, गीत आदि विभिन्न पहलुओं पर पूरा प्रकाश डाला है। तार का सम्बन्ध न होते हुए भी सुघोषा घण्टा का शब्द असंख्यात योजना की दूरी पर रही हुई घण्टाओं में प्रतिध्वनित होता है।

शब्द पुद्गल-स्कन्धों के संघात और भेद से उत्पन्न होता है। उसके भाषा-शब्द (अक्षर-सहित और अक्षर-रहित), नो-भाषा शब्द (आतोद्य शब्द और नो-आतोद्य शब्द) आदि अनेक भेद हैं।

वक्ता बोलने से पूर्व भाषा-परमाणुओं को ग्रहण करता है, भाषा के रूप में उनका परिणमन करता है और अन्त में उनका उत्सर्जन करता है। उत्सर्जन के द्वारा निकले हुए भाषा वर्गणा के पुद्गल आकाश में फैलते हैं। वक्ता का प्रयत्न अगर मंद है तो वे पुद्गल अभिन्न रहकर 'जल-तरंग-न्याय' से आकाश में फैलकर शक्तिहीन हो जाते हैं। यदि वक्ता का प्रयत्न तीव्र होता है तो वे भिन्न होकर स्कन्धों को ग्रहण करते-करते सुदूर तक चले जाते हैं।

हम जो सुनते हैं वह वक्ता का मूल शब्द नहीं सुन पाते। वक्ता का शब्द श्रेणियों—आकाश-प्रदेश की पंक्तियों में फैलता है। ये श्रेणियाँ वक्ता के पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊँची-नीची—छहों दिशाओं में हैं। हम शब्द की सम-श्रेणी में होते हैं तो मिश्र शब्द सुनते हैं अर्थात् वक्ता द्वारा उच्चारित शब्द-द्रव्यों और उनके द्वारा वासित शब्द-द्रव्यों को सुनते हैं। यदि हम विश्रेणी (विदिशा) में होते हैं तो केवल वासित शब्द-द्रव्यों को ही सुन पाते हैं।

बन्ध

अवयवों का परस्पर अवयव और अवयवी के रूप में परिणमन होता है, उसे बन्ध कहा जाता है। संयोग में केवल अन्तर-रहित अवस्थान होता है किन्तु बन्ध में एकत्व होता है।

बंध के दो प्रकार हैं—

१. वैस्रसिक—स्वभाव-जन्य बन्ध। २. प्रायोगिक—प्रयोग-जन्य बन्ध।

वैस्रसिक बन्ध सादि और अनादि—दोनों प्रकार का होता है। धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का बन्ध अनादि है। सादि बन्ध केवल पुद्गलों का होता है, द्वयणुक आदि स्कन्ध बनते हैं, वह सादि बन्ध है। उसकी प्रक्रिया यह है :

स्कन्ध केवल परमाणुओं के संयोग से नहीं बनता। स्निग्ध और रूक्ष गुण वाले परमाणुओं का परस्पर एकत्व होता है तब स्कन्ध बनता है अर्थात् स्कन्ध की उत्पत्ति का हेतु परमाणुओं का स्निग्धत्व और रूक्षत्व है।[१]

विशेष नियम यह हैं :

१. जघन्य अंश वाले स्निग्ध और रूक्ष परमाणु मिलकर स्कन्ध नहीं बना सकते।

---

१. स्निग्धत्व और रूक्षत्व और वैज्ञानिक परिभाशा में पॉजिटिव और निगेटिव विद्युत कहा जा सकता है।

'तत्त्वार्थसूत्र' के पाँचवें अध्याय, सूत्र क्रमांक ३३ में कहा गया है—**"स्निग्ध-रूक्षत्वाद:"**—अर्थात् स्निग्धत्व और रूक्षत्व गुणों के कारण अणु एक सूत्र में बंधा रहता है। पूज्यपाद स्वामी ने 'स्वार्थसिद्धि' टीका में एक स्थान पर लिखा है—**"स्निग्धरूक्षगुणनिमित्तो विद्युत'** अर्थात् बादलों में स्निग्ध और रूक्ष गुणों के कारण विद्युत की उत्पत्ति होती है, इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्निग्ध का अर्थ चिकना और रूक्ष का अर्थ खुरदरा नहीं है। ये दोनों शब्द वास्तव में विशेष (तकनीकी) अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। जिस तरह एक अनपढ़ मोटर-चालक बैटरी के एक तार को ठंडा और दूसरे को गरम कहता है (यद्यपि उनमें से कोई तार न ठंडा और न गरम) और जिन्हें विज्ञान की भाषा में 'पॉजिटिव' और 'नेगेटिव' कहा जाता है। ठीक उसी तरह जैन धर्म में स्निग्ध और रूक्ष शब्दों का प्रयोग किया गया है। डॉ. बी.एन. सील ने केम्ब्रिज से प्रकाशित पुस्तक "पॉजिटिव साइन्सेज ऑफ एनशियेंट हिन्दूज' में स्पष्ट लिखा है कि जैनाचार्यों को यह बात मालूम थी कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं को आपस में रगड़ने से बिजली उत्पन्न की जा सकती है। इस तरह कोई संदेह नहीं रह जाता कि स्निग्ध का अर्थ पॉजिटिव और रूक्ष का अर्थ निगेटिव विद्युत है। सर अर्नेस्ट रदरफोर्ड ने अपने प्रयोगों द्वारा यह असंदिग्ध कर दिया हैं कि प्रत्येक एटम में, चाहे वह किसी भी वस्तु का क्यों न हो, पॉजिटिव और निगेटिव बिजली के कण भिन्न-भिन्न संख्या में विद्यमान रहते हैं। लोहा, चाँदी, सोना आदि द्रव्यों के अणुओं में यही रचना पायी जाती है और कोई अन्तर नहीं है।

२. समान अंश वाले परमाणु, यदि वे सदृश हों—केवल स्निग्ध हों या केवल रुक्ष हों—मिलकर स्कन्ध नहीं बना सकते।

३. स्निग्ध या रूक्षता दो अंश (unit) या तीन अंश आदि अधिक हों तो सदृश परमाणु मिलकर स्कन्ध का निर्माण कर सकते हैं।

बन्ध-काल में अधिक अंश वाले परमाणु हीन अंश वाले परमाणुओं को अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। पाँच अंश वाले स्निग्ध परमाणु के योग से तीन अंश वाला स्निग्ध परमाणु पाँच अंश वाला हो जाता है। इसी प्रकार पाँच अंश वाले स्निग्ध परमाणु के योग से तीन अंश वाला रूखा परमाणु स्निग्ध हो जाता है। जिस प्रकार स्निग्धत्व हीनांश रूक्षत्व को अपने में मिला लेता है उसी प्रकार रूक्षत्व भी हीनांश स्निग्ध को अपने में मिला लेता है। कभी-कभी परिस्थितिवश स्निग्ध परमाणु समांश-रूक्ष परमाणुओं को और रूक्ष परमाणु समांश-स्निग्ध परमाणुओं को भी अपने-अपने रूप में परिणत कर लेता है।

सूक्ष्मता और स्थूलता

परमाणु सूक्ष्मतम है और अचित्त-महास्कन्ध स्थूलतम है। इनके मध्यवर्ती सौक्ष्म्य स्थौल्य आपेक्षिक है—एक स्थूल वस्तु की अपेक्षा किसी दूसरी वस्तु को सूक्ष्म और एक सूक्ष्म वस्तु की अपेक्षा किसी दूसरी वस्तु को स्थूल कहा जाता है।

दिगम्बर आचार्य स्थूलता और सूक्ष्मता के आधार पर पुद्गल को छह भागों में विभक्त करते हैं—

१. **बादर-बादर**—पत्थर आदि ठोस पदार्थ (solid) जो विभक्त होकर स्वयं जुड़ नहीं सकते।

२. **बादर**—प्रवाही पदार्थ (liquid) जो विभक्त होकर स्वयं मिल जाएँ।

३. **बादर-सूक्ष्म**—वायु (gas) जो स्थूल भासित होने पर भी सूक्ष्म हैं, आंखों से देखे नहीं जा सकते (चाक्षुष नहीं हैं)।

४. **सूक्ष्म-बादर**—प्रकाश आदि सूक्ष्म होने पर भी इन्द्रिय-गम्य हैं।

५. **सूक्ष्म**—मनोवर्गणा, भाषावर्गणा आदि पुद्गल जो इन्द्रियातीत हैं।

६. **सूक्ष्म-सूक्ष्म**—कार्मण वर्गणा आदि अत्यन्त सूक्ष्म स्कन्ध।

छाया

यह अ-पारदर्शक और पारदर्शक—दोनों प्रकार की होती है।

आतप

यह उष्ण प्रकाश का ताप-किरण है। जैसे—सूर्य का प्रकाश। अग्नि ताप से भिन्न है।

उद्योत

यह शीत प्रकाश का ताप-किरण है। जैसे—चन्द्र का प्रकाश।

प्रतिबिम्ब-प्रक्रिया और उसका दर्शन

पौद्गलिक वस्तुएं दो प्रकार की होती हैं—सूक्ष्म और स्थूल। इन्द्रिय-गोचर होने वाली सभी वस्तुएं स्थूल होती हैं। स्थूल वस्तुएं चयापचय-धर्मक (घट-बढ़ जाने वाली) होती हैं। इनमें से रश्मियाँ निकलती हैं—वस्तु आकार के अनुरूप छाया-पुद्गल निकलते हैं और वे भास्वर (चमकीले) या अभास्वर वस्तुओं से प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। अभास्वर वस्तु में पड़ने वाली छाया श्याम या काली होती है, अर्थात् उनका प्रतिबिम्ब चक्षु द्वारा गाह्य नहीं होता। भास्वर वस्तुओं में पड़ने वाली छाया वस्तु के वर्णानुरूप होती है। आदर्श या शीशे (कांच) में जो शरीर के अवयवों के प्रतिबिम्ब संक्रांत होते हैं वे प्रकाश के द्वारा दृष्टिगत होते हैं इसलिए आदर्श-द्रष्टा (व्यक्ति) आदर्श में न आदर्श देखता है, न अपना शरीर किन्तु अपने शरीर का प्रतिबिम्ब देखता है।

प्राणी-जगत के प्रति पुद्गल का उपकार

आहार (भोजन) शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन—जीव की ये छह प्रमुख क्रियाएँ हैं। इन्हीं के द्वारा प्राणी की चेतना का स्थूल बोध होता है। प्राणी का आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और भाषा—ये सब पौद्गलिक हैं।

मानसिक चिन्तन भी पुद्गल-सहायापेक्ष है। चिन्तक चिन्तन के पूर्व क्षण में मनोवर्गणा के स्कन्धों को ग्रहण करता है। उसके चिन्तन के अनुकूल आकृतियाँ बन जाती हैं। एक चिन्तन से दूसरे चिन्तन में संक्रान्त होते समय पहली-पहली आकृतियाँ बाहर निकलती रहती हैं और नयी-नयी आकृतियाँ बन जाती हैं। वे मुक्त आकृतियाँ आकाश-मण्डल में फैल जाती हैं और कई थोड़े काल बाद परिवर्तित हो जाती हैं और कई असंख्यात काल तक परिवर्तित नहीं भी होतीं। इन मनोवर्गणा के स्कन्धों (विज्ञान के क्षेत्र में इन्हें Mindons

कहा जाता है) का प्राणी के शरीर पर भी अनुकूल एवं प्रतिकूल परिणाम होता है। विचारों की दृढ़ता से विचित्र काम करने का सिद्धान्त इन्हीं का उपजीवी है।

यह समूचा दृश्य संसार पौद्गलिक ही है। जीव की समस्त वैभाविक अवस्थाएँ पुद्गल-निमित्तक होती हैं। तात्पर्य-दृष्टि से देखा जाए तो यह जगत् जीव और परमाणुओं के विभिन्न संयोगों का प्रतिबिम्ब (परिणाम) है। जैन सूत्रों में परमाणु और जीव-परमाणु संयोगकृत दशाओं का प्रचुर वर्णन है। भगवती, प्रज्ञापना और स्थानांग आदि इसके आकर-ग्रन्थ हैं। 'परमाणु-षट्त्रिंशिका' आदि परमाणु-विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थों का निर्माण जैन-तत्त्वज्ञों की परमाणु-विषयक स्वतन्त्र अन्वेषणा का मूर्त रूप है। आज के विज्ञान की अन्वेषणाओं के साथ तुलनीय विचित्र वर्णन इनमें भरे पड़े हैं। वैज्ञानिक जगत् के लिए ये अन्वेषणीय हैं।

एक द्रव्य : अनेक द्रव्य

समानजातीय द्रव्यों की दृष्टि से सब द्रव्यों की स्थिति एक नहीं है। छह द्रव्यों में धर्म, अधर्म और आकाश—ये तीन द्रव्य एक-द्रव्य हैं—व्यक्ति रूप से एक हैं। इनके समानजातीय द्रव्य नहीं हैं। एक-द्रव्य द्रव्य व्यापक होते हैं। धर्म-अधर्म समूचे लोक में व्याप्त हैं। आकाश लोक-अलोक दोनों में व्याप्त है। काल, पुद्गल और जीव—ये तीन द्रव्य अनेक-द्रव्य हैं—व्यक्ति रूप से अनन्त हैं।

पुद्गल द्रव्य संख्या की दृष्टि से सांख्य दर्शन में मान्य प्रकृति की तरह एक या व्यापक नहीं किन्तु अनन्त हैं, अनन्त परमाणु और अनन्त स्कन्ध हैं। जीवात्मा भी एक और व्यापक नहीं, अनन्त हैं। काल के भी समय अनन्त हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-दर्शन में द्रव्यों की संख्या के दो ही विकल्प हैं—एक या अनन्त।

सादृश्य-वैसदृश्य

विशेष गुण की अपेक्षा से पाँचों द्रव्य—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव विसदृश हैं। सामान्य गुण की अपेक्षा से वे सदृश भी हैं। व्यापक गुण की अपेक्षा से धर्म, अधर्म, आकाश सदृश हैं। अमूर्तत्व की अपेक्षा से धर्म, अधर्म, आकाश और जीव सदृश हैं। अचैतन्य की अपेक्षा से धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल सदृश हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व और अगुरुलघुत्व की अपेक्षा से सभी द्रव्य सदृश हैं।

अभ्यास

१. पुद्गल क्या है? उसके स्वरूप को जैन दर्शन के आधार पर बताते हुए उसकी तुलना विज्ञान के द्वारा प्रतिपादित भौतिक पदार्थ और ऊर्जा के साथ करें।

२. पुद्गल के मूल गुणों के नाम एवं भेद-प्रभेद स्पष्ट करें।

३. "परमाणुवाद जैन दर्शन का प्राचीनतम अवदान है"—इसे सिद्ध करें।

४. जैन दर्शन के परमाणु के विभिन्न पर्यायों को स्पष्ट करें।

५. वर्गणा किसे कहते हैं? मुख्य वर्गणाएँ कौन-कौन-सी हैं?

□□□

४

पहले अण्डा या पहले मुर्गी?

विश्व के आदि-बिन्दु की जिज्ञासा

भगवान् महावीर के सामने अण्डा और मुर्गी, जीव और अजीव, लोक और अलोक, भव्य और अभव्य, मुक्ति और संसार आदि को लेकर प्रश्न किए गए कि इनमें पहले कौन और पीछे कौन होता है। भगवान् महावीर ने उत्तर दिया कि इनमें से प्रत्येक युग्म के दोनों घटक पहले से हैं और पीछे रहेंगे—अनादि काल से हैं और अनन्त काल तक रहेंगे। इनमें पौर्वापर्य (पहले पीछे का क्रम) नहीं है। ये सभी शाश्वत भाव हैं। इनमें क्रम नहीं है। इस प्रकार ये सभी मूलतः अनादि हैं।

लोक-अलोक का परिमाण

धर्म-द्रव्य और अधर्म-द्रव्य ससीम हैं—चौदह रज्जु[१]-परिणाम परिमित हैं इसलिए लोक भी सीमित है। लोकाकाश असंख्यप्रदेशी है। अलोक अनन्त-असीम है इसलिए अलोकाकाश अनन्त प्रदेशी है।

लोक-अलोक का संस्थान

लोक सुप्रतिष्ठक आकारवाला है। तीन शरावों या शिकोरों में से एक शराव ओंधा, दूसरा सीधा और तीसरा उसके ऊपर ओंधा रखने से जो आकाश बनता है, उसे सुप्रतिष्ठक संस्थान या त्रिशरावसंपुटसंस्थान कहा जाता है।

लोक नीचे विस्तृत है, मध्य में संकरा और ऊपर-ऊपर मृदंगाकार है। इसलिए उसका आकार ठीक त्रिशरावसंपुट जैसा बनता है। अलोक का आकार बीच में पोलवाले गोले के समान है। अलोकाकाश एकाकार है। उसका कोई विभाग नहीं होता है। लोकाकाश तीन भागों में विभक्त है—ऊर्ध्व लोक, अधो लोक और मध्य लोक। लोक चौदह रज्जु लम्बा है। उसमें ऊँचा लोक सात रज्जु से कुछ कम है। तिरछा लोक अठारह सौ योजन प्रमाण है। नीचा लोक सात रज्जु से अधिक है।

१. एक रज्जू के असंख्यात योजन होते हैं।

जिस प्रकार एक ही आकाश धर्म-अधर्म के द्वारा लोक और अलोक—इन दो भागों में बंटता है, ठीक वैसे ही इनके द्वारा लोकाकाश के तीन विभाग और प्रत्येक विभाग की भिन्न आकृतियाँ बनती हैं। धर्म-द्रव्य और अधर्म-द्रव्य कहीं विस्तृत हैं और कहीं संकुचित। वे नीचे की ओर विस्तृत रूप से व्याप्त हैं, अतः अधोलोक का आकार ओंधे किए हुए शराब जैसा बनता है। मध्यलोक में वे कृश रूप में हैं, इसलिए उसका आकार बिना किनारी वाली झालर के समान हो जाता है। ऊपर की ओर वे फिर कुछ-कुछ विस्तृत होते चले गए हैं, इसलिए ऊर्ध्व लोक का आकार ऊर्ध्वमुख मृदंग जैसा होता है। अलोकाकाश में दूसरा कोई द्रव्य नहीं, इसलिए उसकी कोई आकृति नहीं बनती। लोकाकाश की अधिक से अधिक मोटाई सात रज्जु की है। लोक चार प्रकार का है—द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक, भावलोक। द्रव्यलोक पंचास्तिकायमय एक है, इसलिए वह सांत है। लोक की परिधि असंख्य योजन क्रोडाक्रोड की है, इसलिए क्षेत्रलोक भी सांत है।

सापेक्षवाद के आविष्कर्त्ता प्रो. आइन्स्टीन ने लोक का व्यास एक करोड़ अस्सी लाख प्रकाशवर्ष माना है। 'एक प्रकाशवर्ष' उस दूरी को कहते हैं, जो प्रकाश की किरण १८६००० मील प्रति सेकण्ड के हिसाब से एक वर्ष में तय करती है।

भगवान् महावीर ने देवताओं की 'शीघ्रगति'[१] की कल्पना से लोक की मोटाई को समझाया है। जैसे—छह देवता लोक का अन्त लेने के लिए शीघ्रगति से छहों की दिशाओं (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊँची और नीची) में चले। ठीक उसी समय एक सेठ के घर एक हजार वर्ष की आयु वाला एक पुत्र जन्मा.....उसकी आयु समाप्त हो गई। उसके बाद हजार वर्ष की आयु वाले उसके बेटे-पोते हुए। इस प्रकार सात पीढ़ियाँ बीत गईं। उनके नामगोत्र भी मिट गए, तब तक वे देवता चलते रहे, फिर भी लोक के अन्त तक नहीं पहुँचे। हाँ, वे चलते-चलते अधिक भाग पार कर गए। बाकी रहा वह भाग कम है—वे चले उसका असंख्यातवां भाग बाकी रहा है। जितना भाग चलना बाकी रहा है उससे असंख्यात गुणा भाग पार कर चुके हैं। यह लोक इतना बड़ा है। काल और भाव की दृष्टि से लोक अनन्त है। ऐसा कोई काल नहीं, जिसमें लोक का अस्तित्व न हो।

---

१. एक देवता मेरु पर्वत की चूलिका पर खड़ा है—एक लाख योजन की ऊँचाई में खड़ा है। नीचे चारों दिशाओं में चार दिक्-कुमारिकाएँ हाथ में बलिपिण्ड लेकर बहिर्मुखी रहकर उस बलिपिण्ड को एक साथ फेंकती हैं। उस समय वह देवता दौड़ता है। चारों बलिपिण्डों को जमीन पर गिरने से पहले हाथ में लेता है। इस गति का नाम 'शीघ्रगति' है।

लोक पहले था, वर्तमान में और भविष्य में सदा रहेगा—इसलिए काल-लोक अनन्त है। लोक में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श की पर्यायें अनन्त हैं तथा बादरस्कन्धों की गुरु-लघु पर्याय, सूक्ष्म स्कंधों और अमूर्त द्रव्यों की अगुरु-लघु पर्यायें अनन्त हैं इसलिए भाव-लोक अनन्त है।

लोक-स्थिति

गौतम ने पूछा—'भंते! लोक-स्थिति कितने प्रकार की है?

भगवान् ने कहा—'गौतम! लोक-स्थिति के आठ प्रकार हैं—

१. वायु आकाश पर टिकी हुई है।

२. समुद्र वायु पर टिका हुआ है।

३. पृथ्वी समुद्र पर टिकी हुई है।

४. त्रस-स्थावर जीव पृथ्वी पर टिके हुए हैं।

५. अजीव-जीव के आश्रित हैं।

६. सकर्म-जीव कर्म के आश्रित हैं।

७. अजीव जीवों द्वारा संगृहीत हैं।

८. जीव कर्म-संगृहीत हैं।

आकाश, वायु, जल और पृथ्वी—ये विश्व के आधारभूत अंग हैं। विश्व की व्यवस्था इन्हीं के आधार-आधेय भाव से बनी हुई है। संसारी जीव और अजीव (पुद्गल) में आधार-आधेय भाव और संग्राह्य-संग्राहक भाव ये दोनों हैं। जीव आधार है और शरीर उसका आधेय। कर्म संसारी जीव का आधार है और संसारी जीव उसका आधेय।

जीव अजीव (भाषा-वर्गणा, मनो-वर्गणा और शरीर-वर्गणा) का संग्राहक है। कर्म संसारी जीव का संग्राहक है। तात्पर्य यह है—कर्म से बंधा हुआ जीव ही सशरीर होता है। वही चलता-फिरता, बोलता और सोचता है।

अचेतन जगत् से चेतन जगत् की जो विलक्षणताएँ हैं, वे जीव और पुद्गल के संयोग से होती हैं। जितना भी वैभाविक परिवर्तन या दृश्य रूपान्तर है, वह सब इन्हीं की संयोग-दशा का परिणाम है।

सृष्टिवाद

सापेक्षवाद से अनुसार विश्व अनादि-अनन्त और सादि-सांत है, द्रव्य की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है, पर्याय की अपेक्षा से सादि-सांत। लोक में दो द्रव्य

हैं—चेतन और अचेतन। दोनों अनादि हैं, शाश्वत हैं। इनका पौर्वापर्य (अनुक्रम-अनुपूर्वी) सम्बन्ध नहीं है। पहले जीव और बाद में अजीव अथवा पहले अजीव और बाद में जीव—ऐसा सम्बन्ध नहीं होता। बीज वृक्ष से पैदा होता है और वृक्ष बीज से पैदा होता है—ये प्रथम भी हैं और पश्चात् भी, अनुक्रम-सम्बन्ध से रहित शाश्वत भाव हैं। इनका प्राथम्य और पाश्चात्य भाव नहीं निकाला जा सकता। यह ध्रुव अंश की चर्चा है। परिणमन की दृष्टि से जगत् परिवर्तनशील है। परिवर्तन स्वाभाविक भी होता है और वैभाविक भी। स्वाभाविक परिवर्तन सब पदार्थों में प्रतिक्षण होता है। वैभाविक परिवर्तन कर्मबद्ध जीव और पुद्गल-स्कन्धों में ही होता है। यही है हमारा दृश्य जगत।

जैन और बौद्ध दर्शन सृष्टिवादी नहीं हैं। वे परिवर्तनवादी हैं। जैन दृष्टि के अनुसार दृश्य विश्व का परिवर्तन जीव और पुद्गल के संयोग से होता है। परिवर्तन स्वाभाविक और प्रायोगिक दोनों प्रकार का होता है। स्वाभाविक परिवर्तन सूक्ष्म होता है, इसलिए वह दृष्टिगम्य नहीं होता। प्रायोगिक परिवर्तन स्थूल होता है, इसलिए वह दृष्टिगम्य होता है। यही सृष्टि या दृश्य जगत् है। वह जीव और पुद्गल की सांयोगिक अवस्थाओं के बिना नहीं हो जाता।

वैभाविक पर्याय की आधारभूत शक्ति दो प्रकार की होती है—ओघ और समुचित। 'घास में घी है'—यह ओघ शक्ति है। 'दूध में घी है'—यह समुचित शक्ति है। ओघशक्ति कार्य की नियामक है—कारण के अनुरूप कार्य पैदा होगा, अन्यथा नहीं। समुचित शक्ति कार्य की उत्पादक है। कारण की समग्रता बनती है और कार्य उत्पन्न हो जाता है।

जैन-दृष्टि के अनुसार विश्व एक शिल्प-गृह है। उसकी व्यवस्था स्वयं उसी में समाविष्ट नियमों के द्वारा होती है। नियम वह पद्धति है जो चेतन और अचेतन पुद्गल के विविध-जातीय संयोग से स्वयं प्रकट होती है।

परिवर्तन और विकास

जीव और अजीव (धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश, काल और पुद्गल) की समष्टि विश्व है। जीव और पुद्गल के संयोग से जो विविधता पैदा होती है, उसका नाम है—सृष्टि।

जीव और पुद्गल में दो प्रकार की अवस्थाएँ मिलती हैं—स्वभाव और विभाव या विकार।

परिवर्तन का निमित्त काल बनता है। परिवर्तन का उपादान स्वयं द्रव्य होता है। धर्म, अधर्म और आकाश में स्वभाव-परिवर्तन होता है। जीव और पुद्गल में

काल के निमित्त से ही जो परिवर्तन होता है, वह स्वभाव-परिवर्तन कहलाता है। जीव के निमित्त से पुद्गल में और पुद्गल के निमित्त से जीव में जो परिवर्तन होता है, उसे कहते हैं—विभाव-परिवर्तन। स्थूल दृष्टि से हमें दो पदार्थ दिखते हैं, एक सजीव और दूसरा निर्जीव। दूसरे शब्दों में—जीवत्-शरीर और निर्जीव शरीर या जीव-मुक्त शरीर। आत्मा अमूर्त है, इसलिए अदृश्य है। पुद्गल मूर्त होने के कारण दृश्य अवयव है, पर अचेतन है। आत्मा और पुद्गल दोनों के संयोग से जीवत्-शरीर बनता है। पुद्गल के सहयोग के कारण जीव के ज्ञान को क्रियात्मक रूप मिलता है और जीव के सहयोग के कारण पुद्गल की ज्ञानात्मक प्रवृत्तियाँ होती हैं। सब जीव चेतना युक्त होते हैं किन्तु चेतना की प्रवृत्ति उन्हीं को दिख पड़ती है जो शरीर-सहित होते हैं। सब पुद्गल रूप-सहित हैं, फिर भी चर्मचक्षु द्वारा वे ही दृश्य हैं, जो जीव-युक्त या जीव-मुक्त शरीर हैं। पुद्गल दो प्रकार के होते हैं—जीव-सहित और जीव-रहित। शस्त्र-अहत सजीव और शस्त्र-हत निर्जीव होते हैं। जीव और स्थूल शरीर के वियोग के निमित्त शस्त्र कहलाते हैं। शस्त्र के द्वारा जीव शरीर से अलग होते हैं। जीव के चले जाने पर जो शरीर या शरीर के पुद्गल-स्कन्ध होते हैं—वे जीव-मुक्त शरीर कहलाते हैं। खनिज पदार्थ पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर हैं। पानी अपकायिक जीवों का शरीर है। अग्नि तैजसकायिक, हवा वायुकायिक, तृण-लता वृक्ष आदि वनस्पतिकायिक और शेष सब त्रसकायिक जीवों के शरीर हैं।

जीव और शरीर का सम्बन्ध अनादि-प्रवाह वाला है। वह जब तक नहीं टूटता तब तक पुद्गल जीव पर और जीव पुद्गल पर अपना-अपना प्रभाव डालते रहते हैं। वस्तुवृत्त्या जीव पर प्रभाव डालने वाला कार्मण शरीर है। यह जीव के विकारी—परिवर्तन का आंतरिक कारण है। इसे बाह्य स्थितियाँ प्रभावित करती हैं।

आठों वर्गणा के पुद्गल-समूह समूचे लोक में व्याप्त हैं। जब तक इनका व्यवस्थित संगठन नहीं बनता तब तक वे स्वानुकूल प्रवृत्ति के योग्य रहती हैं, किन्तु उसे कर नहीं सकती। इनका व्यवस्थित संगठन करने वाले प्राणी हैं। प्राणी अनादिकाल से कार्मण वर्गणाओं से आवेष्टित हैं। प्राणी का निम्नतम विकसित रूप 'निगोद' है। निगोद अनादि-वनस्पति है। उसके एक-एक शरीर में अनन्त-अनन्त जीव होते हैं। यह जीवों का अक्षय कोष है और सबका मूल स्थान है। निगोद के जीव एकेन्द्रिय होते हैं। जो जीव निगोद को छोड़ दूसरी काय में नहीं गए, वे 'अव्यवहार-राशि' कहलाते हैं और निगोद से बाहर निकले जीव 'व्यवहार-राशि'। अव्यवहार-राशि का तात्पर्य यह है कि उन जीवों ने

अनादि-वनस्पति के सिवाय और कोई व्यवहार नहीं पाया। स्त्यानर्द्धि निद्रा (घोरतम निद्रा) के उदय से ये जीव अव्यक्त-चेतना (जघन्यतम चैतन्यशक्ति) वाले होते हैं। इनमें विकास की कोई प्रवृत्ति नहीं होती। अव्यवहार-राशि से बाहर निकलकर प्राणी विकास की योग्यता को अनुकूल सामग्री पा अभिव्यक्त करता है। विकास की अन्तिम स्थिति है—शरीर का अत्यन्त वियोग या आत्मा की बन्धन-मुक्त दशा। यह प्रयत्न-साध्य है। निगोदीय जीवों की निम्नतम विकसित दशा स्वभाव-सिद्ध है।

स्थूल शरीर मृत्यु से छूट जाता है, पर सूक्ष्म शरीर नहीं छूटते इसलिए फिर प्राणी को स्थूल-शरीर बनाना पड़ता है किन्तु जब स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीर छूट जाते हैं, तब फिर शरीर नहीं बनता।

आत्मा की अविकसित दशा में उस पर कषाय का लेप रहता है। इससे उसमें स्व-पर की मिथ्या कल्पना बनती है। स्व में पर की दृष्टि और पर में स्व की दृष्टि का नाम है—मिथ्यादृष्टि। पुद्गल 'पर' है, विजातीय है, बाह्य है। उसमें स्व की भावना, आसक्ति या अनुराग पैदा होता है अथवा घृणा की भावना बनती है। ये दोनों आत्मा के आवेग या प्रकम्पन हैं अथवा प्रत्येक प्रवृत्ति आत्मा में कंपन पैदा करती है। इनसे कार्मण वर्गणाएँ संगठित हो आत्मा के साथ चिपक जाती हैं। आत्मा को हर समय अनन्त-अनन्त कार्मण वर्गणाएँ आवेष्टित किए रहती हैं। नयी कार्मण वर्गणाएँ पहले ही कार्मण वर्गणाओं से रासायनिक क्रिया द्वारा घुल-मिलकर एकमेक बन जाती हैं। सब कार्मण वर्गणाओं की योग्यता समान नहीं होती। कई चिकनी होती हैं, कई तीव्र रस वाली और कई मन्द रस वाली, इसलिए कई छूकर रह जाती हैं, कई गाढ़े बन्धन में बन्ध जाती हैं। कार्मण वर्गणाएँ कर्म बनते ही अपना प्रभाव नहीं डालतीं। आत्मा का आवेष्टन बनने के बाद जो उन्हें नई बनावट या नयी शक्ति मिलती है उसका परिपाक होने पर वे फल देने या प्रभाव डालने में समर्थ होती हैं।

वेदना चार प्रकार से भोगी जाती है।

द्रव्य से—जल-वायु के अनुकूल-प्रतिकूल वस्तु के संयोग से।

क्षेत्र से—शीत-उष्ण आदि अनुकूल-प्रतिकूल वस्तु के संयोग से।

काल से—गर्मी में हैजा, सर्दी में बुखार, निमोनिया अथवा अशुभ ग्रहों के उदय से।

भाव से—असात-वेदनीय के उदय से।

वेदना का मूल असात-वेदनीय कर्म का उदय है। जहाँ भाव से वेदना है, वहीं द्रव्य, क्षेत्र और काल उसके (वेदना के) निमित्त बनते हैं। भाव-वेदना के

अभाव में द्रव्यादि कोई असर नहीं डाल सकते। कर्म पौद्गलिक हैं, अतएव पुद्गल-सामग्री उसके विपाक या परिपाक में निमित्त बनती है।

कर्म के पास कर्म आता है। शुद्ध या मुक्त आत्मा के कर्म नहीं लगता। कर्म से बन्धी आत्मा का कषाय-लेप तीव्र होता जाता है। तीव्र कषाय तीव्र कम्पन पैदा करता है और उसके द्वारा अधिक कार्मण-वर्गणाएँ खींची जाती हैं।

इसी प्रकार प्रवृत्ति का प्रकम्पन भी जैसा तीव्र या मन्द होता है, वैसी ही प्रचुर या न्यून मात्रा में उनके द्वारा कार्मण-वर्गणाओं का ग्रहण होता है। प्रवृत्ति सत् (शुभ) और असत् (अशुभ) दोनों प्रकार की होती हैं। सत् से सत् कर्म और असत् से असत् कर्म बँधते हैं। यही संसार, जन्म-मृत्यु या भव-परम्परा है। इस दशा में आत्मा विकारी रहती है इसलिए उस पर अनगिनत वस्तुओं और वस्तु-स्थितियों का असर होता रहता है। असर जो होता है, उसका कारण आत्मा की अपनी विकृत दशा है। विकारी दशा छूटने पर शुद्ध आत्मा पर कोई वस्तु प्रभाव नहीं डाल सकती। यह अनुभव-सिद्ध बात है—अ-समभावी व्यक्ति जिसमें राग-द्वेष का प्राचुर्य होता है, को पग-पग पर सुख-दुःख सताते हैं। उसे कोई भी व्यक्ति थोड़े में प्रसन्न और थोड़े में अप्रसन्न बना देता है। दूसरे की चेष्टाएँ उसे बदलने में भारी निमित्त बनती हैं। समभावी व्यक्ति की स्थिति ऐसी नहीं होती। कारण यही है कि उसकी आत्मा में विकार की मात्रा कम है या उसने ज्ञान द्वारा उसे उपशान्त कर रखा है। पूर्ण-विकास होने पर आत्मा पूर्णतया स्वस्थ हो जाती है, इसलिए वस्तु का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता। शरीर नहीं रहता, तब उसके माध्यम से होने वाली संवेदना भी नहीं रहती। आत्मा सहजवृत्त्या अप्रकंपित है। उसमें कंपन शरीर-संयोग से होता है। अ-शरीर होने पर वह नहीं होता।

शुद्ध आत्मा का स्वरूप

शुद्ध आत्मा के स्वरूप की पहचान के लिए आठ मुख्य तत्त्व हैं—

१. अनन्त ज्ञान—सहज समुत्पन्न अबाध आत्म-ज्ञान जो इन्द्रिय या बाह्य साधनों के अपेक्षा बिना तथा बिना किसी रुकावट सीधे ही समस्त द्रव्यों और पर्यायों को जान लेता है।

२. अनन्त-दर्शन—अनन्त ज्ञान की तरह जो समस्त द्रव्यों और पर्यायों को देख लेता है।

३. क्षायक सम्यक्त्व—सदा-सदा के लिए प्राप्त सम्यक् दृष्टि, जिससे यथार्थ के प्रति सहज श्रद्धा बनी रहती है।

४. अनन्त शक्ति—आत्मा में विद्यमान सहज अनन्त शक्ति का अबाध स्रोत उद्घाटित हो जाता है जो संसार की किसी भी प्रकार की शक्ति से अतुलनीय है।

५. सहज आनन्द—आत्मा में विद्यमान सहज निरपेक्ष अनन्त आनन्द का स्रोत उद्घाटित हो जाता है, जो पौद्गलिक सुख-दुःख की अनुभूति से परे है।

६. अटल अवगाह—आकाश प्रदेशों का नियत अवगाहन जो शाश्वत बना रहता है। जन्म-मृत्यु के चक्र से सदा-सदा के लिए मुक्ति।

७. अमूर्तिकपन—आत्मा के सहज अमूर्त्त स्वभाव का प्रकटीकरण यानी अनादिकालीन कर्म-संयोगों के कारण होने वाले मूर्तत्व (रूप) की सदा-सदा के लिए समाप्ति।

८. अगुरु-लघु भाव—कर्म-संयोग से निष्पन्न गुरुत्व-लघुत्व, हीन-अधिक, निम्न-उच्च आदि भावों से सदा-सदा के लिए मुक्ति। आत्मा के सहज सम स्वभाव का जागरण।

आत्मा की अनुद्बुद्ध-दशा (अज्ञान-दशा) में कर्म-वर्गणाएँ इन आत्मशक्तियों को दबाए रखती हैं—इन्हें पूर्ण विकसित नहीं होने देतीं। भवस्थिति पकने पर कर्म-वर्गणाएँ घिसती-घिसती बलहीन हो जाती हैं, तब आत्मा में कुछ सहज बुद्धि जागती है। यहीं से आत्म-विकास का क्रम शुरू होता है। तब से दृष्टि यथार्थ बनती है, सम्यक्त्व प्राप्त होता है। यह आत्म-जागरण का पहला सोपान है। इसमें आत्मा अपने रूप को 'स्व' और बाह्य वस्तुओं को 'पर' जान ही नहीं लेती किन्तु उसकी सहज श्रद्धा भी वैसी ही बन जाती है इसलिए इस दशा वाली आत्मा को अन्तर्-आत्मा, सम्यक्दृष्टि या सम्यक्त्वी कहते हैं। इनसे पहले की दशा में वह बहिर् आत्मा, मिथ्यादृष्टि या मिथ्यात्वी कहलाती है।

इस जागरण के बाद आत्मा अपनी मुक्ति के लिए आगे बढ़ती है। सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान के सहारे वह सम्यक् चारित्र का बल बढ़ाती है। ज्यों-ज्यों चारित्र का बल बढ़ता है, त्यों-त्यों कर्म-वर्गणाओं का आकर्षण कम होता जाता है। सत् प्रवृत्ति या अहिंसात्मक प्रवृत्ति से पहले बंधे कर्म शिथिल हो जाते हैं। चलते-चलते ऐसी विशुद्धि बढ़ती है कि आत्मा शरीर-दशा में भी निरावरण बन जाती है। ज्ञान, दर्शन, वीतराग-भाव और शक्ति का पूर्ण या बाधाहीन या बाह्य वस्तुओं से अप्रभावित विकास हो जाता है। इस दशा में भव या शेष आयुष्य को टिकाए रखने वाले चार कर्म—भवोपग्राही कर्म[१] बाकी रहते हैं। जीवन के अन्त में ये भी टूट जाते हैं। आत्मा पूर्ण मुक्त या बाहरी प्रभावों से

१. वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र कर्म।

सर्वथा रहित हो जाती है। तुम्बा जैसे पानी पर तैरने लग जाता है, वैसे ही बन्धनमुक्त आत्मा लोक के अग्रभाग में अवस्थित हो जाती है। मुक्त आत्मा में वैभाविक परिवर्तन नहीं होता, स्वाभाविक परिवर्तन अवश्य होता है। वह वस्तुमात्र का अवश्यम्भावी धर्म है।

परिवर्तन और विकास की मर्यादा

सत्य की व्याख्या अनेकान्तदृष्टि से ही हो सकती है। परिवर्तन विश्व-व्यवस्था का एक अंग है। किन्तु विश्व-व्यवस्था पर उनका पूर्ण नियन्त्रण नहीं है। विश्व के अंचल में शाश्वत (अंचल) तत्त्व भी विद्यमान है।

कुछ कार्य प्रवृत्ति-जनित हैं, कुछ नैसर्गिक हैं। इस बहुरूपी व्यवस्था के रहस्यों को उद्घाटित करने के लिए जैन दर्शन ने कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं, उनका ज्ञान बहुत उपयोगी है।

असम्भाव्य-कार्य

१. अजीव को जीव नहीं बनाया जा सकता।

२. जीव को अजीव नहीं बनाया जा सकता।

३. एक 'समय' में दो भाषा (सत्य, असत्य, मिश्र, व्यवहार—इन चार भाषाओं में से) नहीं बोली जा सकती।

४. अपने किए कर्मों के फलों को इच्छा-अधीन नहीं किया जा सकता।

५. वास्तविक परमाणु नहीं तोड़ा जा सकता।

६. अलोक में नहीं जाया जा सकता।

सर्वज्ञ या विशिष्ट योगी (अतीन्द्रियज्ञानी) के सिवाय कोई भी व्यक्ति इन तत्त्वों का साक्षात्कार नहीं कर सकता—

१. धर्म (गति-तत्त्व)।
२. अधर्म (स्थिति-तत्त्व)।
३. आकाश।
४. शरीर-रहित जीव।
५. परमाणु।
६. शब्द।

समस्या और समाधान

लोक शाश्वत है या अशाश्वत? आत्मा शाश्वत है या अशाश्वत? आत्मा शरीर से भिन्न है या अभिन्न? जीवों में जो भेद है, वह कर्मकृत है या अन्यकृत? कर्म का कर्ता और भोक्ता स्वयं जीव है या अन्य कोई? वे अनेक समस्याएँ हैं, जो मनुष्य को संदिग्ध किए रहती हैं।

१. आत्मा शाश्वत है, तो विनाश और परिवर्तन कैसे ? यदि वह अशाश्वत है, तो अतीत, अनागत, नवीन, पुरातन आदि-आदि भेद कैसे ?

२. आत्मा शाश्वत है, तो मृत्यु कैसे ? यदि अशाश्वत है, तो विभिन्न चैतन्य-सन्तति की एकात्मकता कैसे ?

३. आत्मा शरीर से भिन्न है, तो शरीर में सुख-दुःख की अनुभूति कैसे ? यदि वह शरीर से अभिन्न है, तो शरीर और आत्मा—ये दो पदार्थ क्यों ?

४. जीवों की विचित्रता कर्म-कृत है, तो साम्यवाद कैसे ? यदि वह अन्यकृत है, तो कर्मवाद क्यों ?

५. कर्म का कर्ता और भोक्ता यदि जीव ही है, तो बुरे कर्म और उसके फल का उपभोग कैसे ? यदि जीव कर्ता-भोक्ता नहीं है, तो कर्म और कर्म-फल से उसका सम्बन्ध कैसे ?

इन समस्याओं का समाधान जैन दार्शनिकों ने इस प्रकार किया है—

१. लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी। काल की अपेक्षा से लोक शाश्वत है। ऐसा कोई काल नहीं, जिसमें लोक का अस्तित्व न मिले। त्रिकाल में वह एक-रूप नहीं रहता, इसलिए वह अशाश्वत भी है। जो एकांततः शाश्वत होता है, उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता, इसलिए वह अशाश्वत है। जो एकान्ततः अशाश्वत होता है, उसमें अन्वयी-सम्बन्ध नहीं हो सकता। पहले क्षण में होने वाला लोक दूसरे क्षण अत्यन्त उच्छिन्न हो जाए, तो फिर 'वर्तमान' के अतिरिक्त अतीत, अनागत आदि का भेद नहीं घटता। कोई ध्रुव पदार्थ हो—त्रिकाल में टिका रहे, तभी वह था, है और रहेगा—यों कहा जा सकता है। पदार्थ यदि क्षण-विनाशी ही हो, तो अतीत (भूत) और अनागत (भविष्य) के भेद का कोई आधार ही नहीं रहता इसलिए विभिन्न पर्यायों के बावजूद भी 'लोक शाश्वत है' यह माने बिना भी स्थिति स्पष्ट नहीं होती।

२. आत्मा के लिए भी यही बात है। वह शाश्वत और अशाश्वत दोनों है—

द्रव्यत्व की दृष्टि से शाश्वत है—आत्मा पूर्व और उत्तर सभी क्षणों में रहती है, अन्वयी है, चैतन्य-पर्यायों का संकलनकर्ता है।

पर्याय की दृष्टि से अशाश्वत है—विभिन्न रूपों में—एक शरीर से दूसरे शरीर में, एक अवस्था से दूसरी अवस्था में उसका परिणमन होता है।

३. आत्मा शरीर से भिन्न भी है, अभिन्न भी। स्वरूप की दृष्टि से भिन्न है और संयोग एवं उपकार की दृष्टि से अभिन्न। आत्मा का स्वरूप चैतन्य है और शरीर का स्वरूप जड़; इसलिए ये दोनों भिन्न हैं। संसारावस्था में आत्मा और

शरीर का दूध-पानी की तरह, लोह-अग्निपिण्ड की तरह एकात्म्य संयोग होता है, इसलिए शरीर से किसी वस्तु का स्पर्श होने पर आत्मा में संवेदन होता है।

४. एक जीव की स्थिति दूसरे जीव से भिन्न है। उसका कारण कर्म अवश्य हैं, किन्तु केवल कर्म ही नहीं, उसके अतिरिक्त काल, स्वभाव, नियति, उद्योग आदि अनेक तत्त्व हैं। कर्म दो प्रकार का होता है—सोपक्रम और निरुपक्रम अथवा सापेक्ष और निरपेक्ष। फल-काल में कई कर्म बाहरी स्थितियों की अपेक्षा नहीं रखते और कई रखते हैं। कई कर्म विपाक के अनुकूल सामग्री मिलने पर फल देते हैं और कई उसके बिना भी। कर्मोदय अनेकविध होता है, इसलिए कर्मवाद का साम्यवाद से विरोध नहीं है। कर्मोदय की सामग्री समान होने पर प्राणियों की स्थिति बहुत कुछ समान हो सकती है, होती भी है। जैन सूत्रों में कल्पातीत देवताओं की समान स्थिति का जो वर्णन है, वह आज के इस साम्यवाद से कहीं अधिक रोमांचकारी है। कल्पातीत देवों की ऋद्धि, द्युति, यश, बल, अनुभाव, सुख आदि समान होता है, उनमें न कोई स्वामी होता है और न कोई सेवक; वे सब अहमिन्द्र—स्वयं इन्द्र हैं। अनेक देशों में तथा समूचे भू-भाग में यदि खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाज समान हो जाएँ, स्वामी-सेवक का भेद-भाव मिट जाए, राज्य-सत्ता जैसी कोई केन्द्रित शक्ति न रहे, तो उससे कर्मवाद की स्थिति में कोई आंच नहीं आती।

रोटी की सुलभता से ही विषमता नहीं मिटती। प्राणियों में विविध प्रकार की गति, जाति, शरीर, अंगोपांग संबंधी विसदृशता है। उसका कारण उनके अपने विभिन्न कर्म ही हैं। एक पशु है तो एक मनुष्य, एक दो इन्द्रियवाला कृमि है तो एक पाँच इन्द्रियवाला मनुष्य। यह विषमता क्यों? इसका कारण स्वोपार्जित कर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

५. मुक्त आत्माएँ कर्म की कर्ता, भोक्ता कुछ भी नहीं हैं। बद्ध आत्माएँ कर्म करती हैं और उनका फल भोगती हैं। उनके कर्म का प्रवाह अनादि है और वह कर्म-मूल नष्ट न होने तक चलता रहता है। आत्मा स्वयं कर्ता-भोक्ता होकर भी जिन कर्मों का फल अनिष्ट हो, वैसे कर्म क्यों करे और कर भी ले तो उसका अनिष्ट फल स्वयं क्यों भोगे? इस प्रश्न के मूल में ही भूल है। आत्मा में कर्तृव्यशक्ति है, उसी से वह कर्म नहीं करती; किन्तु उसके पीछे राग-द्वेष, स्वत्व-परत्व की प्रबल प्रेरणा होती है। पूर्वकर्म-जनित वेग से आत्मा पूर्णतया दबती नहीं, तो सब जगह उसे टाल भी नहीं सकती। एक बुरा कर्म आगे के लिए भी आत्मा में बुरी प्रेरणा छोड़ देता है। भोक्तृत्व-शक्ति की भी यही बात है। आत्मा में बुरा फल भोगने की चाह नहीं होती, पर बुरा या भला फल चाह

के अनुसार नहीं मिलता, वह पहले की क्रिया के अनुसार मिलता है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है—यह स्वाभाविक बात है। विष खाने वाला यह न चाहे कि मैं मरूं, फिर भी उसकी मौत टल नहीं सकती। कारण कि विष क्रिया उसकी इच्छा पर निर्भर नहीं है, वह उसकी खाने की क्रिया पर निर्भर है।

अभ्यास

१. पहले अण्डा या मुर्गी ?—इस प्रश्न का भगवान् महावीर ने क्या समाधान दिया ?
२. लोक और अलोक के स्वरूप को अपने शब्दों में समझाइए।
३. सृष्टिवाद की विभिन्न अवधारणाओं को प्रस्तुत करें।
४. जैन दर्शन की अनादि-अनन्त विश्व की मान्यता को सिद्ध करें।
५. विश्व में चलने वाले परिवर्तन और विकास की व्याख्या जैन-दर्शन कैसे करता है ?

□□□

५

विश्व : विकास और ह्रास

जीवन-प्रवाह के बारे में अनेक धारणाएँ हैं। बहुत सारे इसे अनादि-अनन्त मानते हैं तो बहुत सारे सादि-सांत। जीवन-प्रवाह को अनादि-अनंत मानने वालों की उसकी उत्पत्ति पर विचार करने की आवश्यकता नहीं होती। चैतन्य कब, कैसे और किससे उत्पन्न हुआ—ये समस्याएँ उन्हें सताती हैं जो असत् से सत् की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। 'उपादान' की मर्यादाओं को स्वीकार करने वाले असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं मान सकते। नियामकता की दृष्टि से ऐसा होना भी नहीं चाहिए, अन्यथा समझ से परे की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

जैन दृष्टि के अनुसार यह जगत् अनादि-अनंत है। इसकी मात्रा न घटती है, न बढ़ती है, केवल रूपान्तर होता है।

विश्व-स्थिति का मूल सूत्र

विश्व-स्थिति के आधारभूत कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्र इस प्रकार हैं—

१. **पूर्वजन्म**—जीव मर कर बार-बार जन्म लेते हैं।

२. **कर्मबन्ध**—जीव सदा (प्रवाहरूपेण अनादिकाल से) कर्म बांधते हैं।

३. **मोहनीय-कर्मबन्ध**—जीव सदा (प्रवाहरूपेण अनादिकाल से) निरन्तर मोहनीय कर्म बांधते हैं।

४. **जीव-अजीव का अत्यन्ताभाव**—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि जीव-अजीव हो जाए और अजीव जीव हो जाए।

५. **त्रस-स्थावर-अविच्छेद**—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि सभी त्रस (चलने-फिरने वाले) जीव स्थावर (गमन करने में असमर्थ) बन जाएँ या सभी स्थावर जीव त्रस बन जाएँ या सभी जीव केवल त्रस या केवल स्थावर हो जाएँ।

६. **लोकालोक पृथक्त्व**—ऐसा न हुआ, न भाव्य है और न होगा कि लोक अलोक हो जाए और अलोक लोक हो जाए।

७. **लोकालोक अन्योन्याऽप्रवेश**—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि लोक अलोक में प्रवेश करे और अलोक लोक में प्रवेश करे।

८. **लोक और जीवों का आधार-आधेय सम्बन्ध**—जितने क्षेत्र का नाम लोक है, उतने क्षेत्र में जीव हैं और जितने क्षेत्र में जीव हैं, उतने क्षेत्र का नाम लोक है।

९. **लोक-मर्यादा**—जितने क्षेत्र में जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं, उतना क्षेत्र 'लोक' है और जितना क्षेत्र 'लोक' है उतने क्षेत्र में जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं।

१०. **अलोक-गति-कारणाभाव**—लोक के सब अन्तिम भागों में पुद्गल स्वभाव से ही रूक्ष होते हैं। वे गति में सहायता करने की स्थिति में संगठित नहीं हो सकते। उनकी सहायता के बिना जीव अलोक में गति नहीं कर सकते।

विकास और ह्रास

विकास और ह्रास—ये परिवर्तन के मुख्य पहलू हैं। एकान्तनित्य-स्थिति में न विकास हो सकता है और न ह्रास। परिणामी नित्यत्व के अनुसार ये दोनों हो सकते हैं। विकास और ह्रास जीव और पुद्गल—इन दो द्रव्यों में होता है। जीव का अन्तिम विकास है—मुक्त-दशा। यहाँ पहुंचने पर फिर ह्रास नहीं होता। इससे पहले आध्यात्मिक क्रम-विकास की जो चौदह भूमिकाएँ हैं, उनमें आठवीं (क्षपक-श्रेणी) भूमिका पर पहुंचने के बाद मुक्त बनने से पहले क्षण तक क्रमिक विकास होता है। इससे पहले विकास और ह्रास—ये दोनों चलते हैं। कभी ह्रास से विकास और कभी विकास से ह्रास होता रहता है। विकास-दशाएँ ये हैं—

१. अव्यवहार राशि.....साधारण-वनस्पति (एक शरीर में अनन्त जीव)।

२. व्यवहार राशि.....प्रत्येक-वनस्पति (एक शरीर में एक जीव) साधारण-वनस्पति।

(क) एकेन्द्रिय .....साधारण-वनस्पति, प्रत्येक-वनस्पति, पृथ्वी, पानी, तेजस्, वायु।

(ख) द्वीन्द्रिय।

(ग) त्रीन्द्रिय।

(घ) चतुरिन्द्रिय।

(ङ) पंचेन्द्रिय.....अमनस्क, समनस्क।

प्रत्येक प्राणी इन सबको क्रमशः पार करके आगे बढ़ता है, यह बात नहीं। इनका उत्क्रमण भी होता है। यह प्राणियों की योग्यता का क्रम है, उत्क्रान्ति का क्रम नहीं। उत्क्रमण और अपक्रमण जीवों की आध्यात्मिक योग्यता और सहयोगी परिस्थितियों के समन्वय पर निर्भर है।

ध्येय की ओर बढ़ने से जीव का आध्यात्मिक विकास होता है—ऐसी कुछ दार्शनिकों की मान्यता है किन्तु ये दार्शनिक विचार भी बाह्य प्रेरणा हैं। आत्मा स्वतः स्फूर्त है। वह ध्येय की ओर बढ़ने के लिए बाध्य नहीं, स्वतंत्र है। ध्येय की उचित रीति समझ लेने के बाद वह उसकी ओर बढ़ने का प्रयत्न कर सकती है। उचित सामग्री मिलने पर वह प्रयत्न सफल भी हो सकता है किन्तु 'ध्येय की ओर प्रगति' का यह सर्वसामान्य नियम नहीं है। यह काल, स्वभाव, नियति, उद्योग आदि विशेष सामग्री-सापेक्ष है।

वैज्ञानिक विकासवाद बाह्य स्थितियों का आकलन है। अतीत की अपेक्षा विकास की परम्परा आगे बढ़ती है, यह निश्चित सत्य नहीं है। किन्हीं का विकास हुआ है तो किन्हीं का ह्रास भी हुआ है। अतीत ने नयी आकृतियों की परम्परा को आगे बढ़ाया है, तो वर्तमान ने पुराने रूपों को अपनी गोद में समेटा भी है इसलिए अकेले अवसर की दी हुई अधिक स्वतन्त्रता मान्य नहीं हो सकती। विकास बाह्य परिस्थिति द्वारा परिचालित हो, तो वह स्वतन्त्र नहीं हो सकती। परिस्थिति का दास बनकर आत्मा कभी अपना विकास नहीं साध सकती।

पुद्गल की शक्तियों का विकास और ह्रास—ये दो सदा चलते हैं। इनके विकास या ह्रास का निरवधिक चरम रूप नहीं है। शक्ति की दृष्टि से एक पौद्गलिक स्कन्ध में अनन्त-गुण तारतम्य हो जाता है। आकार-रचना की दृष्टि से एक-एक परमाणु मिलकर अनन्तप्रदेशी स्कंध बन जाता है और फिर वे बिखरकर एक-एक परमाणु बन जाते हैं।

पुद्गल अचेतन है, इसलिए उसका विकास या ह्रास चैतन्य-प्रेरित नहीं होता। जीव के विकास या ह्रास की यह विशेषता है कि उसमें चैतन्य होता है, इसलिए उसके विकास-ह्रास में बाहरी प्रेरणा के अतिरिक्त आंतरिक प्रेरणा भी होती है।

जीव (चैतन्य) और शरीर का लोलीभूत संश्लेष होता है, इसलिए आंतरिक प्रेरणा के दो रूप बन जाते हैं—आत्म-जनित और शरीर-जनित।

आत्म-जनित आंतरिक प्रेरणा से आध्यात्मिक विकास होता है और शरीर-जनित से शारीरिक विकास।

शरीर पाँच हैं। उनमें दो सूक्ष्म हैं और तीन स्थूल। सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर का प्रेरक होता है। इसकी वर्गणाएँ शुभ-अशुभ दोनों प्रकार की होती हैं। शुभ वर्गणाओं के उदय से पौद्गलिक या शारीरिक विकास होता है और अशुभ वर्गणाओं के उदय से आत्म-चेतना का ह्रास, आवरण और शारीरिक स्थिति का भी ह्रास होता है।

जैन-दृष्टि के अनुसार चेतना और अचेतन-पुद्गल-संयोगात्मक सृष्टि का विकास क्रमिक ही होता है, ऐसा नहीं है।

विकास और ह्रास के कारण

चेतना के व्यक्तिशः विकास और ह्रास का मुख्य कारण है आन्तरिक प्रेरणा या आंतरिक स्थिति या आंतरिक योग्यता और सहायक कारण है बाहरी स्थिति। बाहरी स्थितियाँ केवल आंतरिक वृत्तियों को जगाती हैं, उनका नये सिरे से निर्माण नहीं करतीं। चेतन में योग्यता होती है, वही बाहरी स्थिति का सहारा पा विकसित हो जाती है।

१. अन्तरंग योग्यता और बहिरंग अनुकूलता—कार्य उत्पन्न होता है।

२. अन्तरंग अयोग्यता, बहिरंग अनुकूलता—कार्य उत्पन्न नहीं होता।

३. अन्तरंग योग्यता, बहिरंग प्रतिकूलता—कार्य उत्पन्न नहीं होता।

४. अन्तरंग अयोग्यता, बहिरंग प्रतिकूलता—कार्य उत्पन्न नहीं होता।

इससे यह स्पष्ट है कि जो सिद्धान्त केवल बाहरी स्थितियों को महत्त्व देता है, वह उपयुक्त नहीं है।

प्रत्येक प्राणी में दस संज्ञाएँ होती हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, लोक और ओघ। (संज्ञाओं के बारे में आगे चर्चा की गई है)। इन संज्ञाओं के साथ सहज ही जीवन-सुख की कुछ आकांक्षाएँ या एषणाएँ भी होती हैं जिनमें तीन एषणाएँ मुख्य हैं—

१. प्राणैषणा—मैं जीवित रहूं।

२. पुत्रैषणा—मेरी संतति चले।

३. वित्तैषणा—मैं धनी बनूं।

अर्थ और काम की इस आंतरिक प्रेरणा तथा भूख, प्यास, ठंडक, गर्मी आदि-आदि बाहरी स्थितियों के प्रभाव से प्राणी की बहिर्मुखी वृत्तियों का विकास होता है। यह एक जीवनगत-विकास की स्थिति है। विकास का प्रवाह भी चलता है। एक पीढ़ी का विकास दूसरी पीढ़ी को अनायास मिल जाता है किन्तु उद्भिद्-जगत् से लेकर मनुष्य-जगत् तक का जो विकास है, वह पहली पीढ़ी के विकास की देन नहीं है। यह व्यक्ति-विकास की स्वतन्त्र गति है। उद्भिद्-जगत् से भिन्न जातियाँ उसकी शाखाएँ नहीं, किन्तु स्वतन्त्रहैं। उद्भिद् जाति का एक जीव पुनर्जन्म के माध्यम से मनुष्य बन सकता है। यह जातिगत विकास नहीं, व्यक्तिगत विकास है।

विकास होता है, इसमें डार्विन का विकासवाद और जैन-दृष्टि—दोनों विचार एक रेखा पर हैं किन्तु दोनों की प्रक्रिया भिन्न है। डार्विन के विकासवाद में केवल प्रजातीय विकास के क्रम की समीक्षा की गई है। जैन दर्शन ने व्यक्ति-विकास की संभावनाओं को अभिव्यक्ति दी है। डार्विन ने विकासवाद में व्यक्तिशः जीव के विकास-ह्रास की कोई चर्चा नहीं की है। डार्विन को आत्मा और कर्म की योग्यता ज्ञात होती तो उनका ध्यान केवल जाति, जो कि बाहरी वस्तु है, के विकास की ओर नहीं जाता। आन्तरिक योग्यता की कमी होने पर एक मनुष्य फिर से उद्भिद् जाति में जा सकता है, यह व्यक्तिगत ह्रास है।

प्राणि-विभाग

गमन-क्षमता के आधार पर जैन दर्शन में प्राणियों के वर्गीकरण विभिन्न दृष्टियों से किए गए हैं। प्राणी दो प्रकार होते हैं—चर या त्रस और अचर या स्थावर। अचर प्राणी पाँच प्रकार के होते हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। चर प्राणियों के आठ भेद होते हैं—१. अण्डज, २. पोतज, ३. जरायुज, ४. रसज, ५. संस्वेदज, ६. सम्मूर्च्छिम, ७. उद्भिद्, ८. उपपातज। इनमें अण्डज, पोतज और जरायुज गर्भज कहलाते हैं। रसज, संस्वेदज, सम्मूर्च्छिम और उद्भिद् 'सम्मूर्च्छन' कहलाते हैं।

१. अण्डज—अण्डों से उत्पन्न होने वाले प्राणी अण्डज कहलाते हैं। जैसे—सांप, मछली, पक्षी—कबूतर, हंस, काक, मोर आदि जन्तु।

२. पोतज—जो जीव खुले अंग से उत्पन्न होते हैं, वे पोतज कहलाते हैं। जैसे—हाथी, नकुल, चूहा, बगुला आदि।

३. जरायुज—जरायुज एक तरह का जाल जैसा रक्त एवं मांस से लथड़ा हुआ आवरण होता है और जन्म के समय वह बच्चे के शरीर पर लिपटा हुआ रहता है। ऐसे जन्म वाले प्राणी जरायुज कहलाते हैं। जैसे—मनुष्य, गाय, भैंस, ऊँट, घोड़ा, मृग, सिंह, रीछ, कुत्ता, बिल्ली आदि।

४. रसज—मद्य आदि तरल (रस) पदार्थों में जो किण्वन (fermentation) की क्रिया के दौरान कृमि उत्पन्न होते हैं, वे रसज कहलाते हैं।

५. संस्वेदज—स्वेद (पसीने) में उत्पन्न होने वाले संस्वेदज कहलाते हैं। जैसे—जूं आदि।

६. सम्मूर्च्छिम—गर्भ-धारण के बिना उपयुक्त सामग्री में रखे गए अंडे आदि से जो उत्पन्न हो जाते हैं, वे सम्मूर्च्छिम हैं। इनका उत्पत्ति-स्थान नियत नहीं होता। जैसे—चींटी, मक्खी आदि।

७. उद्भिद्—सम्मूर्च्छिम प्राणियों में जो भूमि को भेदकर निकलने वाले प्राणी होते हैं, वे उद्भिद् कहलाते हैं। जैसे—टिड्डी आदि।

८. उपपातज—शय्या एवं कुम्भी में उत्पन्न होने वाले उपपातज हैं। जैसे—देवता, नारक।

उत्पत्ति-स्थान

सब प्रकार के प्राणी (जिन्हें भूत, जीव और सत्त्व भी कहा जाता है) नाना प्रकार की योनियों में उत्पन्न होते हैं, वहीं रहते हैं और वृद्धि को प्राप्त करते हैं। वे शरीर से उत्पन्न होते हैं, शरीर में रहते हैं, शरीर में वृद्धि को प्राप्त करते हैं और शरीर का ही आहार करते हैं। वे कर्म के अनुगामी हैं। कर्म ही उनकी उत्पत्ति, स्थिति और गति का आदि कारण है। वे कर्म के प्रभाव से ही विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं।

प्राणियों के उत्पत्ति-स्थान ८४ लाख हैं और उनके 'कुल' (योनि का उपवर्ग) एक करोड़ साढ़े सत्तानवे लाख (१,९७,५०,०००) हैं। एक उत्पत्ति-स्थान में अनेक कुल होते हैं। जैसे—गोबर एक ही योनि है और उसमें कृमि-कुल, कीट-कुल, वृश्चिक-कुल आदि अनेक कुल हैं।

उत्पत्ति-स्थान एवं कुल-कोटि के अध्ययन से जाना जाता है कि प्राणियों की विविधता एवं भिन्नता का होना असंभव नहीं।

स्थावर-जगत्

त्रस जीवों में गति, अगति, भाषा, इच्छा-व्यक्तीकरण आदि-आदि चैतन्य के स्पष्ट चिह्न प्रतीत होते हैं, इसलिए उनकी सचेतनता में कोई संदेह नहीं होता। स्थावर जीवों में जीव के व्यावहारिक लक्षण स्पष्ट प्रतीत नहीं होते, इसलिए उनकी सजीवता चक्षुगम्य नहीं है। जैन सूत्र बताते हैं—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति—ये पाँचों स्थावर काय सजीव हैं। इसका आधारभूत सिद्धान्त यह है—हमें जितने पुद्गल दीखते हैं, ये सब जीवत्-शरीर या जीव-मुक्त शरीर हैं। जिन पुद्गल-स्कंधों को जीव अपने शरीर-रूप में परिणत कर लेते हैं, उन्हीं को हम देख सकते हैं, दूसरों को नहीं। पाँच-स्थावर के रूप में परिणत पुद्गल दृश्य हैं। इससे प्रमाणित होता है कि ये सजीव हैं। जिस प्रकार मनुष्य का शरीर उत्पत्तिकाल में सजीव ही होता है, उसी प्रकार पृथ्वी आदि के शरीर भी प्रारम्भ से सजीव ही होते हैं। जिस प्रकार स्वाभाविक अथवा प्रायोगिक मृत्यु से मनुष्य-शरीर निर्जीव या आत्मा-रहित हो जाता है, उसी प्रकार पृथ्वी आदि के शरीर भी स्वाभाविक या प्रायोगिक मृत्यु से निर्जीव बन जाते हैं।

इनकी सजीवता का बोध कराने के लिए पूर्ववर्ती आचार्यों ने तुलनात्मक युक्तियाँ भी प्रस्तुत की हैं। जैसे—

१. मनुष्य-शरीर में समानजातीय मांसांकुर पैदा होते हैं, वैसे ही पृथ्वी में भी समानजातीय अंकुर पैदा होते हैं इसलिए वह सजीव है।

२. अण्डे का प्रवाही रस सजीव होता है। पानी भी प्रवाही है, इसलिए सजीव है। गर्भकाल के प्रारम्भ में मनुष्य तरल होता है, वैसे ही पानी तरल है, इसलिए सजीव है।

३. जुगनू का प्रकाश और मनुष्य के शरीर में ज्वरावस्था में होने वाला ताप जीव-संयोगी है। वैसे ही अग्नि का प्रकाश और ताप जीव-संयोगी है। आहार के भाव और अभाव में होने वाली वृद्धि और हानि की अपेक्षा से मनुष्य और अग्नि की समान स्थिति है। दोनों का जीवन वायु सापेक्ष है। वायु के बिना मनुष्य नहीं जीता, वैसे अग्नि भी नहीं जीती। मनुष्य में जैसे प्राणवायु (आक्सीजन) का ग्रहण और विषवायु (कार्बन-डाई-आक्साइड) का उत्सर्ग होता है, वैसे अग्नि में भी होता है इसलिए वह मनुष्य की भांति सजीव है। सूर्य का प्रकाश भी जीव-संयोगी है। सूर्य 'आतप' नामकर्मोदययुक्त पृथ्वीकायिक जीवों का शरीर-पिण्ड है।

४. वायु में व्यक्त प्राणी की भांति अनियमित स्वप्रेरित गति होती है। इससे उसकी सचेतनता का अनुमान किया जा सकता है। स्थूल पुद्गल-स्कंधों में अनियमित गति पर-प्रेरणा से होती है, स्वयं नहीं।

पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु—ये चार जीव-निकाय हैं। इनमें से प्रत्येक में असंख्य-असंख्य जीव हैं। मिट्टी का छोटा-सा एक ढेला, पानी की एक बूंद, अग्नि की एक चिनगारी, वायु का एक सूक्ष्म भाग—ये सब असंख्य जीवों के असंख्य शरीरों के पिण्ड हैं। इनके एक जीव का एक शरीर अति-सूक्ष्म होता है, इसलिए वह दृष्टि का विषय नहीं बनता। हम इनके पिण्डीभूत असंख्य शरीरों को देख सकते हैं।

५. वनस्पति का चैतन्य पूर्ववर्ती निकायों से स्पष्ट है। इसे जैनेतर दार्शनिक भी सजीव मानते आए हैं और वैज्ञानिक जगत् में भी इनके चैतन्य सम्बन्धी विविध परीक्षण हुए हैं। बेतार की तरंगों (wireless waves) के बारे में अन्वेषण करते समय जगदीशचन्द्र बसु को यह अनुभव हुआ कि धातुओं के परमाणु पर भी अधिक दबाव पड़ने से रुकावट आती है और उन्हें फिर उत्तेजित करने पर वह दूर हो जाती है। उन्होंने सूक्ष्म छानबीन के बाद बताया कि धान्य आदि पदार्थ भी थकते हैं, चंचल होते हैं, विष से मुरझाते हैं, नशे में मस्त होते

हैं, और मरते हैं। अन्त में उन्होंने यह प्रमाणित किया कि संसार के सभी पदार्थ सचेतन हैं।

वेदान्त की भाषा में सभी पदार्थों में एक ही चेतन प्रवाहित हो रहा है।

जैन दर्शन की भाषा में समूचा संसार अनन्त जीवों में व्याप्त है। एक अणु-मात्र प्रदेश भी जीवों से खाली नहीं है।

वनस्पति की सचेतनता सिद्ध करते हुए उसकी मनुष्य के साथ तुलना की गई है।

जैसे मनुष्य-शरीर जाति (जन्म)-धर्मक है, वैसे वनस्पति भी जाति-धर्मक है। जैसे मनुष्य-शरीर बालक, युवक तथा वृद्ध अवस्था प्राप्त करता है, वैसे वनस्पति शरीर भी। जैसे मनुष्य सचेतन है, वैसे वनस्पति भी। जैसे मनुष्य शरीर छेदन करने से मलिन हो जाता है, वैसे वनस्पति का शरीर भी। जैसे मनुष्य शरीर आहार करने वाला है, वैसे ही वनस्पति शरीर भी। जैसे मनुष्य शरीर अनित्य है, वैसे वनस्पति का शरीर भी। जैसे मनुष्य का शरीर अशाश्वत है (प्रतिक्षण मरता है), वैसे ही वनस्पति के शरीर की भी प्रतिक्षण मृत्यु होती है। जैसे मनुष्य-शरीर में इष्ट और अनिष्ट आहार की प्राप्ति से वृद्धि और हानि होती है, वैसे ही वनस्पति के शरीर में भी। जैसे मनुष्य-शरीर विविध परिणमन-युक्त है अर्थात् रोगों के सम्पर्क से पाण्डुत्व (फीकापन) वृद्धि, सूजन, कृशता, छिद्र आदि युक्त हो जाता है और औषधि-सेवन से कांति, बल, पुष्टि आदि युक्त हो जाता है, वैसे वनस्पति-शरीर भी नाना प्रकार के रोगों से ग्रस्त होकर पुष्प, फल और त्वचा-विहीन हो जाता है और औषधि के संयोग से पुष्प, फलादि युक्त हो जाता है, अतः वनस्पति चेतनायुक्त है।

वनस्पति के जीवों में भी अव्यक्त रूप से आहार आदि दस संज्ञा का अर्थ है—अनुभव। इनको सिद्ध करने के लिए टीकाकारों ने उपयुक्त उदाहरण भी खोज निकाले हैं। वृक्ष जल का आहार तो करते ही हैं। इसके सिवाय 'अमर बेल' अपने आस-पास होने वाले वृक्षों का सार खींच लेती है। कई वृक्ष रक्त-शोषक भी होते हैं इसलिए वनस्पति में आहार-संज्ञा होती है। 'छुई-मुई' आदि स्पर्श के भय से सिकुड़ जाती है, इसलिए वनस्पति में भय-संज्ञा होती है। 'कुरुबक' नामक वृक्ष स्त्री के आलिंगन से पल्लवित हो जाता है और वनस्पति में मैथुन-संज्ञा है। लताएँ अपने तन्तुओं से वृक्ष को वेष्टित कर लेती हैं, इसलिए वनस्पति में परिग्रह-संज्ञा है। 'कोकनद' (रक्तोत्पल) का कंद क्रोध से हुंकार करता है। 'सिदती' नाम की बेल मान से झरने लग जाती है। लताएँ अपने फलों को माया से ढांक लेती हैं। बिल्व और पलाश आदि वृक्ष लोभ से अपने मूल

निधान पर फैलते हैं। इससे जाना जाता है कि वनस्पति में क्रोध, मान, माया और लोभ भी हैं। लताएँ वृक्षों पर चढ़ने के लिए अपना मार्ग पहले से तय कर लेती हैं, इसलिए वनस्पति में ओघ-संज्ञा[१] है। रात्रि में कमल सिकुड़ते हैं, इसलिए वनस्पति में लोक-संज्ञा[२] है।

वृक्षों में जलादि सींचते हैं, वह फलादि के रस के रूप में परिणत हो जाता है, इसलिए वनस्पति में श्वसन, चयापचय आदि जैविक क्रियाओं का सद्भाव है। इस प्रकार अनेक युक्तियों से वनस्पति की सचेतनता सिद्ध है।

संघीय जीवन

वनस्पतिकाय के भेद हैं—साधारण और प्रत्येक। एक शरीर में अनंत जीव होते हैं, वह साधारण-शरीरी, अनंत-काय या सूक्ष्म-निगोद है। एक शरीर में एक ही जीव होता है, वह प्रत्येक-शरीरी है।

साधारण-वनस्पति का जीवन संघ-बद्ध होता है। फिर भी उनकी आत्मिक सत्ता पृथक्-पृथक् रहती है। कोई भी जीव अपना अस्तित्व नहीं गंवाता। उन एक शरीराश्रयी अनन्त जीवों के सूक्ष्म शरीर तैजस और कार्मण पृथक्-पृथक् होते हैं। उन पर एक-दूसरे का प्रभाव नहीं होता। उनके साम्यवादी जीवन की परिभाषा करते हुए बताया है कि साधारण वनस्पति का एक जीव जो कुछ आहार आदि पुद्गल-समूह का ग्रहण करता है, वह तत्-शरीरस्थ शेष सभी जीवों के उपभोग में आता है और बहुत सारे जीव जिन पुद्गलों का ग्रहण करते हैं, वे एक जीव के उपभोग्य बनते हैं। उनके आहार-नीहार, उच्छ्वास-निःश्वास, शरीर-निर्माण और मौत—ये सभी साधारण कार्य एक साथ होते हैं। साधारण जीवों का प्रत्येक शारीरिक कार्य साधारण होता है। पृथक्-शरीर मनुष्यों के कृत्रिम संघों में ऐसी साधारणता कभी नहीं आती। साधारण जीवों का स्वाभाविक संघात्मक जीवन साम्यवाद का उत्कृष्ट उदाहरण है।

जीव अमूर्त है इसलिये वे क्षेत्र नहीं रोकते। क्षेत्र-निरोध स्थूल पौद्गलिक वस्तुएँ ही करती हैं। साधारण जीवों के स्थूल शरीर पृथक्-पृथक् नहीं होते। जो जो निजी शरीर हैं, वे सूक्ष्म होते हैं, इसलिए एक सुई के अग्र भाग जितने-से छोटे शरीर में अनन्त जीव समा जाते हैं।

सूई की नोक टिके, उतने 'लक्ष्यपाक' तेल में एक लाख औषधियों की अस्तिता होती है। औषधियों के परमाणु उसमें मिले हुए होते हैं। इससे अधिक सूक्ष्मता आज के विज्ञान में देखिए—

---

१. ओघ संज्ञा—अनुकरण की प्रवृत्ति।

२. लोकसंज्ञा—व्यक्त चेतना का विशेष उपयोग।

रसायनशास्त्र के पंडित कहते हैं कि आलपिन के सिरे के बराबर बर्फ के टुकड़े में १०,००,००,००,००,००,००,००,००० अणु हैं। इन उदाहरणों को देखते हुए साधारण जीवों की एक शरीराश्रयी स्थिति में कोई संदेह नहीं होता। आग में तपा लोहे का गोला अग्निमय होता है, वैसे साधारण वनस्पति शरीर जीवनमय होता है।

साधारण-वनस्पति जीवों का परिमाण

लोकाकाश के असंख्य प्रदेश हैं। उसके एक-एक आकाश-प्रदेश पर एक-एक निगोद-जीव को रखते चले जाइए। वे एक लोक में नहीं समायेंगे, दो-चार में भी नहीं। वैसे अनन्त लोक आवश्यक होंगे। इस काल्पनिक संख्या से उनका परिणामी समझाइए। उनकी शारीरिक स्थिति संकीर्ण होती है। इसी कारण वे ससीम लोक में समा रहे हैं।

प्रत्येक-वनस्पति

प्रत्येक वनस्पति जीवों के शरीर पृथक्-पृथक् होते हैं। प्रत्येक जीव अपने शरीर का निर्माण स्वयं करता है। उनमें पराश्रयता भी होती है। एक घटक जीव के आश्रय में असंख्य जीव पलते हैं। वृक्ष के घटक बीज में एक जीव होता है। उसके आश्रय में पत्र, पुष्प और फूल के असंख्य जीव उपजते हैं। बीजावस्था के सिवाय वनस्पति-जीव संघातरूप में रहते हैं। श्लेष्म-द्रव्य-मिश्रित सरसों के दाने अथवा तिलपपड़ी के तिल एक-रूप बन जाते हैं, तब भी उनकी सत्ता पृथक्-पृथक् रहती है। प्रत्येक-वनस्पति के शरीरों की भी यही बात है। शरीर की संघात-दशा में भी उनकी सत्ता स्वतंत्र रहती है।

प्रत्येक-वनस्पति जीवों का परिमाण

साधारण वनस्पति जीवों की भाँति प्रत्येक-वनस्पति का एक-एक जीव लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रखा जाए तो ऐसे असंख्य लोक बन जाएँ। यह लोक असंख्य आकाश-प्रदेश वाला है, ऐसे असंख्य लोकों के जितने आकाश प्रदेश होते हैं, उतने प्रत्येक-शरीरी वनस्पति जीव हैं।

इन्द्रिय-विकास की अपेक्षा से जीवों के भेद

प्राणियों की मौलिक जातियाँ पाँच हैं। एकेन्द्रिय (एक इन्द्रिय वाले प्राणी), द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। वे क्रम-विकास से उत्पन्न नहीं, स्वतंत्र

हैं। पाँच जातियाँ योग्यता की दृष्टि से क्रमशः विकसित हैं किन्तु पूर्व-योग्यता से उत्तर-योग्यता सृष्ट या विकसित हुई, ऐसा नहीं। पंचेन्द्रिय प्राणी की देह से पंचेन्द्रिय प्राणी उत्पन्न होता है। वह पंचेन्द्रिय ज्ञान का विकास पिता से न्यून या अधिक पा सकता है। पर यह नहीं हो सकता कि वह किसी चतुरिन्द्रिय से उत्पन्न हो जाए या किसी चतुरिन्द्रिय को उत्पन्न कर दे। सजातीय से उत्पन्न होना और सजातीय को उत्पन्न करना यह प्राणियों की निश्चित मर्यादा है।

एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय के जीव सम्मूर्च्छिम और तिर्यन्च जाति के ही होते हैं। पंचेन्द्रिय जीव सम्मूर्च्छिम और गर्भज दोनों प्रकार के होते हैं। इन दोनों (सम्मूर्च्छिम और गर्भज पंचेन्द्रिय) की दो जातियाँ हैं—

(१) तिर्यन्च, (२) मनुष्य।[१]

तिर्यन्च जाति के मुख्य प्रकार तीन हैं—

१. जलचर—मत्स्य आदि।

२. स्थलचर—गाय, भैंस आदि।

(क) उरपरिसर्प—रेंगने वाले प्राणी—सांप आदि।

(ख) भुजपरिसर्प—भुजा के बल पर चलने वाले प्राणी—नेवला आदि।

ये स्थलचर की उपशाखाएँ हैं।

३. खेचर—पक्षी।

सम्मूर्च्छिम जीवों का जाति-विभाग गर्भज जीवों के जाति-विभाग जैसा सुस्पष्ट और संबद्ध नहीं होता।

आकृति-परिवर्तन और अवयवों की न्यूनाधिकता के आधार पर जाति-विकास की जो कल्पना है, वह औपचारिक है, तात्त्विक नहीं। सेव के वृक्ष की लगभग दो हजार जातियां मानी जाती हैं। भिन्न-भिन्न देशों की मिट्टी में बोया हुआ बीज भिन्न-भिन्न प्रकार के पौधों के रूप में परिणत होता है। उनके फूलों और फलों में वर्ण, गन्ध, रस आदि का अन्तर भी आ जाता है। 'कलम' के द्वारा भी वृक्षों में आकस्मिक परिवर्तन किया जाता है। इसी प्रकार तिर्यन्च और मनुष्य के शरीर पर भी विभिन्न परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। शीत-प्रधान देश में मनुष्य का रंग श्वेत होता है, उष्ण-प्रधान देश में श्याम। यह परिवर्तन मौलिक नहीं है। वैज्ञानिक प्रयोगों के द्वारा औपचारिक परिवर्तन के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। मौलिक परिवर्तन प्रयोग-सिद्ध नहीं हैं।

---

१. मनुष्य के मल, मूत्र, लहू आदि अशुचि-स्थान में उत्पन्न होने वाले पंचेन्द्रिय जीव सम्मूर्च्छिम मनुष्य कहलाते हैं।

शारीरिक परिवर्तन का ह्रास या उल्टा क्रम

पारिपार्श्विक वातावरण या बाहरी स्थितियों के कारण जैसे विकास या प्रगति होती है, वैसे ही उसके बदलने पर ह्रास या पूर्व-गति भी होती है।

दो जाति के प्राणियों के संगम से तीसरी एक नयी जाति पैदा होती है। उस मिश्र जाति में दोनों के स्वभाव मिलते हैं, किन्तु यह भी शारीरिक भेद वाली उपजाति है। आत्मिक ज्ञानकृत जैसे ऐन्द्रियक और मानसिक शक्ति का भेद उसमें नहीं होता। जाति-भेद का मूल कारण है—आत्मिक विकास। इन्द्रियाँ, स्पष्ट भाषा और मन, इनका परिवर्तन मिश्रण और काल-क्रम से नहीं होता। एक स्त्री के गर्भ में 'गर्भ-प्रतिबिम्ब' पैदा होता है, जिसके रूप भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं। आकृति-भेद की समस्या जाति-भेद में मौलिक नहीं है।

प्रभाव के निमित्त

एक प्राणी पर माता-पिता का, आसपास के वातावरण का, देश-काल की सीमा का, खान-पान का और ग्रहों-उपग्रहों का अनुकूल-प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, इसमें कोई संदेह नहीं। इसके जो निमित्त हैं, उन पर जैन-दृष्टि का क्या निर्णय है—यह थोड़े में जानना है।

प्रभावित स्थितियों को वर्गीकृत कर हम दो मान लें—शरीर और बुद्धि। ये सारे निमित्त इन दोनों को प्रभावित करते हैं।

प्रत्येक प्राणी आत्मा और शरीर का एक संयुक्त रूप होता है। प्रत्येक प्राणी को आत्मिक शक्ति का विकास और उसकी अभिव्यक्ति के निमित्तभूत शारीरिक साधन उपलब्ध होते हैं।

आत्मा सूक्ष्म शरीर का प्रवर्तक है और सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर का। बाहरी स्थितियाँ स्थूल शरीर को प्रभावित करती हैं, स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर को और सूक्ष्म शरीर आत्मा को—इन्द्रिय, मन या चेतन वृत्तियों को।

शरीर पौद्गलिक होते हैं—सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म वर्गणाओं का संगठन होता है और स्थूल शरीर स्थूल वर्गणाओं का।

१. आनुवंशिक समानता का कारण है—वर्गणा का साम्य। जन्म के आरम्भ-काल में जीव जो आहार लेता है, वह उसके जीवन का मूल आधार होता है। वे वर्गणाएँ मातृ-पितृ-सात्म्य होती हैं, इसलिए माता और पिता का उस पर प्रभाव होता है। सन्तान के शरीर में मांस, रक्त और मस्तुलुंग (भेजा)—ये तीन अंग माता के और अस्थि-मज्जा, केश-दाढ़ी और रोम-नख—ये तीन अंग पिता के होते हैं। वर्गणाओं का साम्य होने पर भी आंतरिक योग्यता समान नहीं होती।

इसलिए माता-पिता से पुत्र की रुचि, स्वभाव, योग्यता भिन्न भी होती है। यही कारण है कि माता-पिता के गुण-दोषों का सन्तान के स्वास्थ्य पर जितना प्रभाव पड़ता है, उतना बुद्धि पर नहीं पड़ता।

२. वातावरण भी पौद्गलिक होता है। पुद्गल-पुद्गल पर असर डालते हैं। शरीर, भाषा और मन की वर्गणाओं के अनुकूल वातावरण वर्गणाएँ होती हैं, उन पर उनका अनुकूलन प्रभाव होता है और प्रतिकूल दशा में प्रतिकूल। आत्मिक-शक्ति विशेष जागृत हो, तो इसमें अपवाद भी हो सकता है। मानसिक शक्ति वर्गणाओं में परिवर्तन ला सकती है। कहा भी है—

"चित्तायत्तं धातुबद्धं शरीरं, स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति।
तस्माच्चित्तं सर्वथा रक्षणीयं, चित्ते नष्टे बुद्धयो यान्ति नाशम्।"

—यह धातुबद्ध शरीर चित्त के अधीन है। स्वस्थ चित्त में बुद्धि की स्फुरणा होती है इसलिए चित्त को स्वस्थ रखना चाहिए। चित्त नष्ट होने पर बुद्धि नष्ट हो जाती है।

इसका तात्पर्य यह है कि पवित्र और बलवान् मन पवित्र वर्गणाओं को ग्रहण करता है; इसलिए बुरी वर्गणाएँ शरीर पर भी बुरा असर नहीं डाल सकतीं।

३. खान-पान और औषधि का असर भी भिन्न-भिन्न प्राणियों पर भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। इसका कारण भी उनके शरीर की भिन्न वर्गणाएँ हैं। वर्गणाओं के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श में अनन्त प्रकार का वैचित्र्य और तरतमभाव होता है। एक ही रस का दो व्यक्ति दो प्रकार का अनुभव करते हैं। यह उनका बुद्धि-दोष या अनुभव-शक्ति का दोष नहीं, किन्तु इस भेद का आधार उनकी विभिन्न वर्गणाएँ हैं। अलग-अलग परिस्थितियों में एक ही व्यक्ति को इस भेद का शिकार होना पड़ता है।

खान-पान, औषधि आदि का शरीर के अवयवों पर असर होता है। शरीर के अवयव इन्द्रिय, मन और भाषा के साधन होते हैं, इसलिए जीव का प्रवृत्ति के ये भी परस्पर कारण बनते हैं। ये बाहरी वर्गणाएँ आन्तरिक योग्यता को सुधार या बिगाड़ नहीं सकतीं और न बढ़ा-घटा भी सकती हैं किन्तु जीव की आन्तरिक योग्यता की साधनभूत आन्तरिक वर्गणाओं में सुधार या बिगाड़ ला सकती हैं। यह स्थिति दोनों प्रकार की वर्गणाओं के बलाबल पर निर्भर है।

४. ग्रह-उपग्रह से जो रश्मियाँ निकलती हैं, उनका भी शारीरिक वर्गणाओं के अनुसार अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव होता है। विभिन्न रंगों के शीशों द्वारा सूर्य-रश्मियों को एकत्रित कर शरीर पर डाला जाए, तो स्वास्थ्य या मन पर उनकी

विभिन्न प्रतिक्रियाएँ होती हैं। संगठित दशा में हमें तत्काल उनका असर मालूम पड़ता है। असंगठित दशा और सूक्ष्म रूप में उनका जो असर हमारे ऊपर होता है, उसे हम पकड़ नहीं सकते।

ज्योतिर्विद्या में उल्का की और योग-विद्या में विविध रंगों की प्रतिक्रिया भी उनकी रश्मियों के प्रभाव से होती है।

यह बाहरी असर है। अपनी आन्तरिक वृत्तियों का भी अपने पर प्रभाव पड़ता है। ध्यान या मानसिक एकाग्रता से चंचलता की कमी होती है, आत्म-शक्ति का विकास होता है। मन की चंचलता से जो शक्ति बिखर जाती है, वह ध्यान से केन्द्रित होती है इसीलिए आत्म-विकास में मनोगुप्ति वचन-गुप्ति और कायगुप्ति का बड़ा महत्त्व है।

मानसिक अनिष्ट चिन्तन से प्रतिमूल वर्गणाएँ गृहीत होती हैं, उनका स्वास्थ्य पर हानिजनक प्रभाव होता है। प्रसन्न दशा में अनुकूल वर्गणाएँ अनुकूल प्रभाव डालती हैं।

क्रोध आदि वर्गणाओं की भी ऐसी ही स्थिति है। ये वर्गणाएँ समूचे लोक में भरी पड़ी हैं। इनकी बनावट अलग-अलग ढंग की होती है और उनके अनुसार ही ये निमित्त बनती हैं।

अभ्यास

१. विश्व-स्थिति के मूल सूत्रों को समझाइए।
२. स्थावर जीवों के चैतन्य-स्वरूप को स्पष्ट करें।
३. प्राणी के जन्म से जीवन-पर्यन्त उस पर पड़ने वाले विभिन्न प्रभावों के निमित्तों को स्पष्ट करें।
४. त्रस-प्राणी किसे कहते हैं? उसके कितने भेद हैं?

□□□

६

जन्म-मृत्यु का चक्र-व्यूह

संसार का हेतु

जीव की वैभाविक दशा (जो स्वाभाविक नहीं है) का नाम संसार है। संसार का मूल कर्म है। कर्म के मूल राग-द्वेष हैं। जीव की असंयम-मय प्रवृत्ति रागमूलक या द्वेषमूलक होती है। उसे समझा जा सके या नहीं, यह दूसरी बात है। जीव को फंसाने वाला दूसरा कोई नहीं। जीव भी कर्म-जाल को अपनी ही अज्ञान-दशा और आशा-वांछा (इच्छा या तृष्णा) से रच लेता है। कर्म व्यक्तिगत रूप से अनादि नहीं है, प्रवाह रूप से अनादि है। कर्म-प्रवाह का भी आदि नहीं है। जब से जीव है, तब से कर्म है। दोनों अनादि हैं। अनादि का आरम्भ न होता है, और न बताया जा सकता है। एक-एक कर्म की अपेक्षा से सब कर्मों की निश्चित अवधि होती है। परिपाक-काल के बाद वे जीव से विलग हो जाते हैं। अतएव आत्मा की कर्म-मुक्ति में कोई बाधा नहीं आती। आत्म-संयम से नये कर्म चिपकने बन्द हो जाते हैं। पहले चिपके हुए कर्म तपस्या के द्वारा धीमे-धीमे निर्जीर्ण हो जाते हैं; नये कर्मों का बन्द नहीं होता, पुराने कर्म टूट जाते हैं। तब वह अनादि प्रवाह रुक जाता है—आत्मा मुक्त हो जाती है। यह प्रक्रिया आत्म-साधकों की है। आत्म-साधना से विमुख रहने वाले नये-नये कर्मों का संचय करते हैं। उसी के द्वारा उन्हें जन्म-मृत्यु के अविरल प्रवाह में बहना पड़ता है।

जन्म

लोक शाश्वत है; संसार अनादि है; जीव नित्य है; कर्म की बहुलता है; जन्म-मृत्यु की बहुलता है; इसलिए एक परमाणु-मात्र भी लोक में ऐसा स्थान नहीं, जहाँ जीव न जन्मा हो और न मरा हो।

"ऐसी जाति, योनि, स्थान या कुल नहीं, जहाँ जीव अनेक बार या अनन्त बार जन्म धारण न कर चुके हों।"

जब तक आत्मा कर्म-मुक्त नहीं होती, तब तक उसकी जन्म-मरण की परम्परा नहीं रुकती। मृत्यु के बाद जन्म निश्चित है। जन्म का अर्थ है उत्पन्न होना। सब जीवों का उत्पत्ति-क्रम एक-सा नहीं होता। अनेक जातियां हैं, अनेक योनियाँ हैं और अनेक कुल हैं। प्रत्येक प्राणी के उत्पत्ति-स्थान में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का कुछ न कुछ तारतम्य होता ही है। फिर भी उत्पत्ति की प्रक्रियाएँ अनेक नहीं हैं। सब प्राणी तीन प्रकार से उत्पन्न होते हैं। अतएव जन्म के तीन प्रकार बतलाए गए हैं—सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपात।

जिनका उत्पत्ति-स्थान नियत नहीं होता और जो गर्भ धारण नहीं करते, उन जीवों की उत्पत्ति को 'सम्मूर्च्छन' कहते हैं। एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक सब जीव सम्मूर्च्छन जन्म वाले होते हैं। कई तिर्यंच पंचेन्द्रिय तथा मनुष्य के मल-मूत्र, श्लेष्म आदि चौदह स्थानों में उत्पन्न होने वाले पंचेन्द्रिय मनुष्य भी सम्मूर्छनज होते हैं।

स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य से जिनकी उत्पत्ति गर्भ में होती है, उनके जन्म का नाम गर्भज है। अण्डज, पोतज और जरायुज पंचेन्द्रिय प्राणी गर्भज होते हैं।

जिनका उत्पत्ति-स्थान नियत होता है, उनका जन्म 'उपपात' कहलाता है। देव और नारक उपपात-जन्मा होते हैं। नारकों के लिए कुम्भी (छोटे मुंह की कुण्ड) और देवता के लिए शय्याएँ नियत होती हैं। वे अन्तर-मुहूर्त्त में (४८ मिनट के भीतर) युवा हो जाते हैं।

प्राणी सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार के शरीर में उत्पन्न होते हैं।

गर्भ

प्राणी की उत्पत्ति का पहला रूप दूसरे में छिपा होता है, इसलिए उस दशा का नाम 'गर्भ' हो गया। जीवन का अन्तिम छोर जैसे मौत है, वैसे उसका आदि छोर गर्भ है। मौत के बाद क्या होगा—यह जैसे अज्ञात रहता है, वैसे ही गर्भ से पहले क्या था—यह अज्ञात रहता है। उन दोनों के बारे में विवाद है। गर्भ प्रत्यक्ष है, इसलिए यह निर्विवाद है।

मौत क्षण भर के लिए आती है। गर्भ महीनों तक चलता है इसलिए जैसे मौत अन्तिम दशा का प्रतिनिधित्व करती है, वैसे गर्भ जीवन के आरम्भ का पूरा प्रतिनिधित्व नहीं करता, इसलिए प्रारम्भिक दशा का प्रतिनिधि शब्द और चुनना पड़ा। वह है—'जन्म'। 'जन्म' ठीक जीवन की आदि-रेखा का अर्थ देता है। जो प्राणी है, वह जन्म लेकर ही हमारे सामने आता है।

सम्मूर्छन प्राणी-वर्गों में मानसिक विकास नहीं होता। गर्भज जीवों में मानसिक विकास होता है। इस दृष्टि से समनस्क जीव की जन्म-प्रक्रिया 'गर्भ'

और असमनस्क जीवों की जन्म-प्रक्रिया 'सम्मूर्छन'—ऐसा विभाग करना आवश्यक था। जन्म-विभाग के आधार पर चैतन्य-विकास का सिद्धान्त स्थिर होता है—गर्भज समनस्क और सम्मूर्छन अमनस्क।

गर्भज जीवों के मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यंच—ये दो वर्ग हैं।

गर्भाधान की स्वाभाविक पद्धति स्त्री-पुरुष का संयोग है। कृत्रिम रीति से वीर्य-प्रक्षेप के द्वारा भी गर्भाधान हो सकता है।

गर्भ-प्रवेश की स्थिति

गौतम ने पूछा—भगवान्! जीव गर्भ मे प्रवेश करते समय स-इन्द्रिय होता है अथवा अन्-इन्द्रिय?

भगवान् बोले—गौतम! स-इन्द्रिय भी होता है और अन्-इन्द्रिय भी।

गौतम ने फिर पूछा—यह कैसे, भगवन्?

भगवान् ने उत्तर दिया—द्रव्य-इन्द्रिय की अपेक्षा से वह अन-इन्द्रिय होता है और भाव-इन्द्रिय की अपेक्षा से स-इंद्रिय।

इसी प्रकार दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने बताया—गर्भ में प्रवेश करते समय जीव स्थूल-शरीर (औदारिक, वक्रिय, आहारक) की अपेक्षा से अ-शरीर और सूक्ष्म-शरीर (तैजस, कार्मण) की अपेक्षा से स-शरीर होता है।

गर्भ में प्रवेश पाते समय जीव का पहला आहार ओज और वीर्य होता है। गर्भ-प्रविष्ट जीव का आहार माँ के आहार का ही सार-अंश होता है। उसके कवल-आहार नहीं होता। वह समूचे शरीर से आहार लेता है और समूचे शरीर से परिणत करता है। उसके उच्छ्वास-निःश्वास बार-बार होते हैं।

बाहरी स्थिति का प्रभाव

गर्भ में रहे हुए जीव पर बाहरी स्थिति का आश्चर्यकारी प्रभाव होता है। किसी-किसी गर्भगत जीव में वैक्रिय-शक्ति (विविध रूप बनाने की सामर्थ्य) होती है। वह शत्रु-सैन्य को देखकर विविध रूप बनाकर उससे लड़ सकता है। उसमें अर्थ, राज्यभोग और काम की प्रबल आकांक्षा उत्पन्न हो जाती है। कोई-कोई धार्मिक प्रवचन सुन विरक्त बन जाता है; उसका धर्मानुराग तीव्र हो जाता है।

प्राण और पर्याप्ति

प्राणी का जीवन प्राण-शक्ति पर अवलम्बित रहता है। प्राण-शक्तियाँ दस हैं—

१. स्पर्शन-इन्द्रिय-प्राण
२. रसन-इन्द्रिय-प्राण
३. घ्राण-इन्द्रिय-प्राण
४. चक्षु-इन्द्रिय-प्राण
५. श्रोत्र-इन्द्रिय-प्राण
६. मनःप्राण
७. वचन-प्राण
८. काय-प्राण
९. श्वासोच्छ्वास-प्राण
१०. आयुष्य-प्राण।

प्राण-शक्तियाँ सब जीवों में समान नहीं होतीं। फिर भी कम से कम चार तो प्रत्येक प्राणी में होती ही हैं।

शरीर, श्वास-उच्छ्वास, आयुष्य और स्पर्शन इन्द्रिय—इन जीवन-शक्तियों में जीवन का मौलिक आधार है। प्राण-शक्ति और पर्याप्ति का कार्य-कारण सम्बन्ध है। जीवन-शक्ति को पौद्गलिक शक्ति की अपेक्षा रहती है। जन्म के पहले क्षण में प्राणी कई पौद्गलिक शक्तियों का क्रमिक निर्माण करता है, उसे पर्याप्ति कहते हैं। वे छह हैं—

१. आहार
२. शरीर
३. इन्द्रिय
४. श्वासोच्छ्वास
५. भाषा
६. मन

इनके द्वारा स्वयोग्य पुद्गलों का ग्रहण, परिणमन (asslimilation) और उत्सर्जन होता है। उनकी रचना प्राण-शक्ति के अनुपात पर होती है। जिस प्राणी में जितनी प्राण-शक्ति की योग्यता होती है, वह उतनी ही पर्याप्तियों का निर्माण कर सकता है। पर्याप्ति-रचना में प्राणी को अन्तर्-मुहूर्त्त का समय लगता है। यद्यपि उनकी रचना प्रथम क्षण में ही प्रारम्भ हो जाती है, पर आहार-पर्याप्ति के सिवाय शेष सभी की समाप्ति अन्तर्-मुहूर्त्त से पहले नहीं होती। स्वयोग्य पर्याप्तियों की परिसमाप्ति न होने तक जीव अपर्याप्त कहलाते हैं और उसके बाद पर्याप्त। उनकी समाप्ति से पूर्व ही जिनकी मृत्यु हो जाती है, वे अपर्याप्त कहलाते हैं। यहाँ इतना-सा जानना आवश्यक है कि आहार, शरीर और इन्द्रिय—इन तीन पर्याप्तियों की पूर्ण रचना किए बिना कोई प्राणी नहीं मरता।

आहार, चिन्तन, जल्पन आदि सब क्रियाएँ प्राण और पर्याप्ति—इन दोनों के सहयोग से होती हैं। जैसे—बोलने में प्राणी का आत्मीय प्रयत्न होता है, वह प्राण है। उस प्रयत्न के अनुसार जो शक्ति योग्य पुद्गलों का संग्रह करती है, वह भाषा-पर्याप्ति है। आहार-पर्याप्ति और आयुष्य-प्राण, शरीर-पर्याप्ति और काय-प्राण, इन्द्रिय-पर्याप्ति और इन्द्रिय-प्राण, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति और श्वासोछ्वास प्राण, भाषा-पर्याप्ति और भाषा-प्राण, मनःपर्याप्ति और मनःप्राण—ये परस्पर सापेक्ष हैं।

इसमें हमें निश्चय होता है कि प्राणियों की शरीर के माध्यम से होने वाली जितनी क्रियाएँ हैं, वे सब आत्म-शक्ति और पौद्गलिक-शक्ति दोनों के पारस्परिक सहयोग से ही होती हैं।

इन्द्रिय-ज्ञान और पाँच जातियाँ

इन्द्रिय-ज्ञान परोक्ष है इसलिए परोक्ष-ज्ञानी को पौद्गलिक इन्द्रिय की अपेक्षा रहती है। किसी मनुष्य की आंख फूट जाती है, फिर भी वह चतुरिन्द्रिय नहीं होता। उसकी दर्शन-शक्ति कहीं नहीं जाती किन्तु आंख के अभाव में उसका उपयोग नहीं होता। आंख में विकार होता है, दीखना बंद हो जाता है। उसकी उचित चिकित्सा हुई, दर्शन-शक्ति खुल जाती है। यह पौद्गलिक इन्द्रिय (चक्षु) के सहयोग का परिणाम है। कई प्राणियों में सहायक इन्द्रियों के बिना भी उसके ज्ञान का आभास मिलता है, किन्तु वह उनके होने पर जितना स्पष्ट होता है, उतना स्पष्ट उनके अभाव में नहीं होता। वनस्पति में स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियों के चिह्न मिलते हैं। उनमें भावेन्द्रिय का पूर्ण विकास और सहायक इंद्रिय का सद्भाव नहीं होता, इसलिए वे इकेन्द्रिय ही कहलाते हैं। उक्त विवेचन से दो निष्कर्ष निकलते हैं। पहला यह कि इन्द्रिय ज्ञान-चेतन-इन्द्रिय और जड़-इन्द्रिय दोनों के सहयोग से होता है फिर भी जहाँ तक ज्ञान का संबंध है, उसमें चेतन-इन्द्रिय की प्रधानता है। दूसरा निष्कर्ष यह है कि प्राणियों की एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये पाँच जातियाँ बनने में दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ कारण हैं, फिर भी यहाँ द्रव्येन्द्रिय की प्रमुखता है। एकेन्द्रिय में अतिरिक्त भावेन्द्रिय के चिह्न मिलने पर भी वे शेष बाह्य इन्द्रियों के अभाव में पंचेन्द्रिय नहीं कहलाते।

मानस-ज्ञान और संज्ञी-असंज्ञी

इन्द्रिय के बाद मन का स्थान है। यह भी परोक्ष है। पौद्गलिक मन के बिना इसका उपयोग नहीं होता। इन्द्रिय-ज्ञान से इसका स्थान ऊँचा है। प्रत्येक इन्द्रिय का अपना-अपना विषय नियत होता है, मन का विषय अनियत। यह सब विषयों को ग्रहण करता है। इन्द्रिय-ज्ञान वार्तमानिक होता है, मानस-ज्ञान त्रैकालिक। इन्द्रिय-ज्ञान में तर्क-वितर्क नहीं होता, मानस-ज्ञान आलोचनात्मक होता है।

मानस-प्रवृत्ति का प्रमुख साधन मस्तिष्क है। कान का पर्दा फट जाने पर कर्णेन्द्रिय का उपयोग नहीं होता, वैसे ही मस्तिष्क की विकृति हो जाने पर

मानस-शक्ति का उपयोग नहीं होता। मानस-ज्ञान गर्भज और उपपातज पंचेन्द्रिय प्राणियों के ही होता है इसलिए उसके द्वारा प्राणी दो भागों में बंट जाते हैं—संज्ञी और असंज्ञी या समनस्क और अमनस्क।

आधुनिक जीव-विज्ञान (Biology) की भाषा में कहा जाए तो केवल कशेरुकी (vertebrate) प्राणी समनस्क और अ-कशेरुकी (invertebrate) प्राणी अमनस्क होते हैं।

द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों में, आत्म-रक्षा की भावना, इष्ट-प्रवृत्ति, अनिष्ट-निवृत्ति, आहार, भय आदि संज्ञाएँ, संकुचन, प्रसारण, शब्द, पलायन, आगति, गति, आदि चेष्टाएँ होती हैं—ये मन के कार्य हैं। तब फिर वे असंज्ञी क्यों? इष्ट-प्रवृत्ति और अनिष्ट-निवृत्ति का संज्ञान मानस-ज्ञान की परिधि का है, फिर भी वह सामान्य है—नगण्य है, इसलिए उससे कोई प्राणी संज्ञी नहीं बनता। एक कौड़ी भी धन है, पर उससे कोई धनी नहीं कहलाता। संज्ञी वही होते हैं जिनमें दीर्घकालिकी संज्ञा मिले, जो भूत, वर्तमान और भविष्य की ज्ञान-श्रृंखला को जोड़ सके।

इन्द्रिय और मन

पूर्व पंक्तियों में इन्द्रिय और मन का संक्षिप्त विश्लेषण किया। उससे उन्हीं का स्वरूप स्पष्ट होता है। संज्ञी और असंज्ञी के इन्द्रिय और मन का क्रम स्पष्ट नहीं होता। असंज्ञी और संज्ञी के इन्द्रिय-ज्ञान में कुछ न्यूनाधिक्य रहता है या नहीं? मन से उसका कुछ सम्बन्ध है या नहीं? इसे स्पष्ट करना चाहिए। असंज्ञी के केवल इन्द्रिय-ज्ञान होता है, संज्ञी के इन्द्रिय और मानस—दोनों ज्ञान होते हैं। इन्द्रिय-ज्ञान की सीमा दोनों के लिए एक है। किसी रंग को देखकर संज्ञी और असंज्ञी चक्षु के द्वारा सिर्फ इतना ही जानेंगे कि यह रंग है। इन्द्रिय-ज्ञान में भी अपार न्यूनाधिक्य होता है। एक प्राणी चक्षु के द्वारा जिसे स्पष्ट जानता है, दूसरा उसे बहुत स्पष्ट जान सकता है। फिर भी अमुक रंग है, इससे आगे नहीं जाना जा सकता। उसे देखने के पश्चात् ऐसा क्यों? इससे क्या लाभ? यह स्थायी है या अस्थायी? कैसे बना? आदि-आदि प्रश्न या जिज्ञासाएँ मन का कार्य है। असंयमी के ऐसी जिज्ञासाएँ नहीं होतीं। उनका सम्बन्ध अप्रत्यक्ष धर्मों से होता है। इन्द्रिय-ज्ञान से प्रत्यक्ष धर्म से एक सूत भी आगे बढ़ने की क्षमता नहीं होती। संज्ञी जीवों में इन्द्रिय और मन दोनों का उपयोग होता है। मन इन्द्रिय-ज्ञान का सहचारी भी होता है और उसके बाद भी इन्द्रिय द्वारा जाने हुए पदार्थ की विविध अवस्थाओं को जानता है। मन का मनन या चिंतन स्वतंत्र हो सकता है, किंतु बाह्य विषयों का पर्यालोचन इन्द्रिय

द्वारा उनके ग्रहण होने के बाद ही होता है, इसलिए संज्ञी-ज्ञान में इन दोनों का गहरा सम्बन्ध है।

जाति-स्मृति

पूर्वजन्म की स्मृति (जाति-स्मृति) 'मति' का ही एक विशेष प्रकार है। इससे पिछले अनेक समनस्क जीवनों की घटनावलियाँ जानी जा सकती हैं। पूर्वजन्म में घटित घटना के समान घटना घटने पर वह पूर्व-परिचित-सी लगती है। ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा करने से चित्त की एकाग्रता और शुद्धि होने पर पूर्वजन्म की स्मृति उत्पन्न होती है। सब समनस्क जीवों को पूर्वजन्म की स्मृति नहीं होती, इसकी कारण-मीमांसा करते हुए आचार्य ने लिखा है—

"जायमाणस्स जं दुक्खं, मरमाणस्स वा पुणो।
तेण दुक्खेण संमूढो, जाइं सरइ न अप्पणो॥"

—व्यक्ति 'मृत्यु' और 'जन्म' की वेदना से सम्मूढ हो जाता है; इसलिए साधारणतया उसे जाति की स्मृति नहीं होती।

एक ही जीवन में दुःख-व्यग्रदशा (सम्मोह-दशा) में स्मृति-भ्रंश हो जाता है, तब वैसी स्थिति में पूर्वजन्म की स्मृति लुप्त हो जाए, उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

पूर्वजन्म के स्मृति-साधन मस्तिष्क आदि नहीं होते, फिर भी आत्मा के दृढ़-संस्कार और ज्ञान-बल से उसकी स्मृति हो आती है इसीलिए तो ज्ञान दो प्रकार का बतलाया है—इस जन्म का ज्ञान और अगले जन्म का ज्ञान।

अतीन्द्रियज्ञान—योगीज्ञान

अतीन्द्रिय ज्ञान इंद्रिय और मन दोनों से महत्त्वपूर्ण है। वह प्रत्यक्ष है, इसलिए पौद्गलिक साधनों—शारीरिक अवयवों के सहयोग की अपेक्षा नहीं होती। यह 'आत्ममात्रापेक्ष' होता है। हम जो त्वचा से छूते हैं, कानों से सुनते हैं, आंखों से देखते हैं, जीभ से चखते हैं, वह वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं है। हमारा ज्ञान शरीर के विभिन्न अवयवों से सम्बन्धित होता है, इसलिए उसकी नैश्चयिक सत्य (निरपेक्ष सत्य) तक पहुँच नहीं होती। उसका विषय केवल व्यावहारिक सत्य (सापेक्ष सत्य) होता है। उदाहरण के लिए स्पर्शन-इन्द्रिय को लीजिए। हमारे शरीर का सामान्य तापमान ९७ या ९८ डिग्री होता है। उससे कम तापमान वाली वस्तु हमारे लिए ठंडी होगी। जिसका तापमान हमारी ऊष्मा से अधिक होगा, वह हमारे लिए गर्म होगी। हमारा यह ज्ञान स्वस्थिति-स्पर्शी होगा, वस्तु-स्थिति-स्पर्शी नहीं। इसी प्रकार

प्रत्येक वस्तु के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, शब्द और संस्थान का ज्ञान सहायक-सामग्री-सापेक्ष होता है। अतीन्द्रिय ज्ञान परिस्थिति की अपेक्षा से मुक्त होता है। उसकी प्राप्ति में देश, काल और परिस्थिति का व्यवधान या विपर्यास नहीं आता; इसलिए उससे वस्तु के मौलिक रूप की सही-सही जानकारी मिलती है।

यह उल्लेखनीय है कि परामनोविज्ञान के क्षेत्र में जाति-स्मृति (पूर्व-जन्म का ज्ञान), दूर-बोध (clairvoyance) पूर्वाभाष (precognition), परिचित्त-बोध (telepathy) आदि अतीन्द्रिय ज्ञान (Extra-sensory-perception या ESP) सम्बन्धी का भी गवेषणापूर्ण शोधकार्य चल रहा है।

अभ्यास

१. "जैन दर्शन में जन्म की प्रक्रिया को वैज्ञानिक पद्धति से व्याख्यायित किया गया है।" क्या आप इस मन्तव्य से सहमत हैं? अपना उत्तर सप्रमाण स्पष्ट करें।

२. जीवन-क्रम में प्राण-शक्ति का कितना और कैसा उपयोग होता है?

३. इन्द्रिय-ज्ञान, मानस-ज्ञान और अतीन्द्रिय ज्ञान की जैन अवधारणाओं की व्याख्या करें।

□□□

७

मैं कौन हूँ?

दो प्रवाह : आत्मवाद और अनात्मवाद

आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष पर विश्वास करने वाले 'क्रियावादी' (या आस्तिक) और इन पर विश्वास नहीं करने वाले 'अक्रियावादी' (नास्तिक) कहलाए। क्रियावादी वर्ग ने संयमपूर्वक जीवन बिताने का, धर्माचरण करने का उपदेश दिया और अक्रियावादी वर्ग ने सुखपूर्वक जीवन बिताने को ही परमार्थ बतलाया। क्रियावादियों ने--"शारीरिक कष्टों को समभाव से सहना महाफल है", "कष्ट सहने से आत्महित सधता है"—ऐसे वाक्यों की रचना की और अक्रियावादियों के मन्तव्य के आधार पर—"**यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्**"—अर्थात् "जब तक जीएं, सुख से जीएं, ऋण (कर्ज) करके भी घी पीएं"—जैसी युक्तियों का सृजन हुआ।

क्रियावादी वर्ग ने कहा—"जो रात या दिन चला जाता है, वह वापस नहीं आता। अधर्म करने वाले के रात-दिन निष्फल होते हैं, धर्मनिष्ठ व्यक्ति के वे सफल होते हैं इसलिए धर्म करने में एक क्षण भी प्रमाद मत करो, क्योंकि यह जीवन कुश के नोक पर टिकी हुई हिम की बूंद के समान क्षणभंगुर है। यदि इस जीवन को व्यर्थ गंवा दोगे तो फिर दीर्घकाल के बाद भी मनुष्य-जन्म मिलना बड़ा दुर्लभ है। कर्मों के विपाक बड़े निबिड़ होते हैं। अतः समझो, तुम क्यों नहीं समझते हो? ऐसा सद्-विवेक बार-बार नहीं मिलता। बीती हुई रात फिर लौटकर नहीं आती और न मानव-जीवन फिर से मिलना सुलभ है। जब तक बुढ़ापा न सताए, रोग घेरा न डाले, इन्द्रियाँ शक्ति-हीन न बनें, तब तक धर्म का आचरण कर लो, नहीं तो फिर मृत्यु के समय वैसे ही पछताना होगा, जैसे साफ-सुथरे राजमार्ग को छोड़कर ऊबड़-खाबड़ मार्ग में जाने वाला गाड़ीवान रथ की धुरी टूट जाने पर पछताता है।"

अक्रियावादियों ने कहा—"यह सबसे बड़ी मूर्खता है कि लोग दृष्ट सुखों को छोड़कर अदृष्ट सुख को पाने की दौड़ में लगे हुए हैं। ये कामभोग हाथ में आए हुए हैं, प्रत्यक्ष हैं। जो पीछे होने वाला है, न जाने कब क्या होगा?

परलोक किसने देखा है? कौन जानता है कि परलोक है या नहीं? जन-समूह का एक बड़ा भाग सांसारिक सुखों का उपभोग करने में व्यस्त है, तब फिर हम क्यों न करें? जो दूसरों को होगा वही हमको भी होगा। हे प्रिये! चिंता करने जैसी कोई बात नहीं, खूब खा-पी, आनन्द कर, जो कुछ कर लेगा, वह तेरा है। मृत्यु के बाद आना-जाना कुछ भी नहीं। कुछ लोग परलोक के दुःखों का वर्णन कर-कर जनता को प्राप्त सुखों से विमुख किए देते हैं। पर यह अतात्विक है।"

क्रियावाद की विचारधारा में वस्तुस्थिति स्पष्ट हुई। लोगों ने संयम सीखा। त्याग-तपस्या को जीवन में उतारा।

अक्रियावाद की विचार-प्रणाली से वस्तुस्थिति ओझल रही। लोग भौतिक सुखों की ओर मुड़े।

क्रियावादियों ने कहा—"सुकृत और दुष्कृत का फल होता है। शुभ कर्मों का फल अच्छा और अशुभ कर्मों का फल बुरा होता है। जीव अपने पाप एवं पुण्य कर्मों के साथ ही परलोक में उत्पन्न होते हैं। पुण्य और पाप दोनों का क्षय होने से असीम आत्म-सुखमय मोक्ष मिलता है।"

फलस्वरूप लोगों में धर्मरुचि पैदा हुई। अल्प-इच्छा, अल्प-आरंभ और अल्प-परिग्रह का महत्त्व बढ़ा। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इनकी उपासना करने वाला महान् समझा जाने लगा।

अक्रियावादियों ने कहा—"सुकृत और दुष्कृत का फल नहीं होता। शुभ कर्मों के शुभ और अशुभ कर्मों के अशुभ फल नहीं होते। आत्मा परलोक में जाकर उत्पन्न नहीं होती।"

फलस्वरूप लोगों में संदेह बढ़ा। भौतिक लालसा प्रबल हुई। अत्यधिक तृष्णा, हिंसा और परिग्रह का राहु जगत् पर छा गया।

क्रियावादी की अन्तर् दृष्टि "अपने किये कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं" इस पर लगी रहती है। वह जानता है कि कर्म का फल भुगतना होगा, इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में। किन्तु उसका फल चखे बिना मुक्ति नहीं। इसलिए यथासंभव पाप-कर्म से बचा जाए, यही श्रेयस् है। अन्तर्-दृष्टिवाला व्यक्ति मृत्यु के समय भी घबराता नहीं, दिव्यानन्द के साथ मृत्यु का वरण करता है।

अक्रियावादी का दृष्टि-बिंदु—"ये काम हाथ में आए हुए हैं"—जैसी भावना पर टिका हुआ होता है। वह सोचता है कि इन भोग-साधनों का जितना अधिक उपभोग किया जाए, वही अच्छा है। मृत्यु के बाद कुछ होना-जाना नहीं है। इस प्रकार उसका अन्तिम लक्ष्य भौतिक सुखोपभोग ही होता है। वह कर्म-बन्ध से

निरपेक्ष होकर त्रस और स्थावर जीवों की सार्थक और निरर्थक हिंसा करने में संकुचाता नहीं। वह जब कभी रोग-ग्रस्त होता है, तब अपने किए कर्मों को स्मरण कर पछताता है। परलोक से डरता भी है। अनुभव बताता है कि मर्मान्तिक रोग और मृत्यु के समय बड़े-बड़े नास्तिक कांप उठते हैं। वे नास्तिकता को तिलांजलि दे आस्तिक बन जाते हैं। अन्तकाल में अक्रियावादी को यह संदेह होने लगता है—"मैंने सुना कि नरक है? जो दुराचारी जीवों की गति है, जहाँ क्रूर कर्मवाले अज्ञानी जीवों को प्रगाढ़ वेदना सहनी पड़ती है। यह कहीं सच तो नहीं है? अगर सच है तो मेरी क्या दशा होगी?" इस प्रकार वह संकल्प-विकल्प की दशा में मरता है।

क्रियावाद का निरूपण यह रहा कि आत्मा के अस्तित्व में संदेह मत करो। वह अमूर्त है, इसलिए इन्द्रियग्राह्य नहीं है। वह अमूर्त है, इसलिए नित्य है। अमूर्त पदार्थमात्र अविभागी नित्य होते हैं। आत्मा नित्य होने के उपरांत भी स्वकृत अज्ञान आदि दोषों के बंधन में बंधी हुई है। वह बंधन ही संसार (जन्म-मरण) का मूल है।

अक्रियावाद का सार यह रहा कि यह लोक इतना ही है, जितना दृष्टिगोचर होता है। इस जगत् में केवल पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पाँच महाभूत ही हैं। इनके समुदाय से चैतन्य या आत्मा पैदा होती है। भूतों का नाश होने पर उसका भी नाश हो जाता है। जीवात्मा कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। जिस प्रकार अरणि की लकड़ी से अग्नि, दूध से घी और तिलों से तेल पैदा होता है, वैसे ही पंच भूतात्मक शरीर से जीव उत्पन्न होता है। शरीर नष्ट होने पर आत्मा जैसी कोई वस्तु नहीं रहती है।

इस प्रकार दोनों प्रवाहों से जो धाराएं निकलती हैं, वे हमारे सामने हैं। हमें इनको अथ से इति तक परखना चाहिए, क्योंकि इनसे केवल दार्शनिक दृष्टिकोण ही नहीं बनता, किन्तु वैयक्तिक जीवन से लेकर सामाजिक राष्ट्रीय एवं धार्मिक जीवन की नींव इन्हीं पर खड़ी होती है। क्रियावादी और अक्रियावादी का जीवन-पथ एक नहीं हो सकता। क्रियावादी के प्रत्येक कार्य में आत्म-शुद्धि का ख्याल होगा, जबकि अक्रियावादी को उसकी चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। आज बहुत सारे क्रियावादी भी हिंसा बहुल विचारधारा में बह चले हैं। जीवन की क्षणभंगुरता को बिसार कर अत्यधिक हिंसा और परिग्रह में फंसे हुए हैं। जीवन-व्यवहार में यह समझना कठिन हो रहा है कि कौन क्रियावादी है और कौन अक्रियावादी? अक्रियावादी सुदूर भविष्य की न सोचें तो कोई आश्चर्य नहीं। क्रियावादी आत्मा को भुला बैठें, आगे-पीछे न देखें तो कहना होगा कि वे केवल परिभाषा में ही क्रियावादी हैं, सही अर्थ में नहीं। भविष्य को

सोचने का अर्थ वर्तमान से आंखें मूंद लेना नहीं है। भविष्य को समझने का अर्थ है वर्तमान को सुधारना। आज के जीवन की सुखमय साधना ही कल को सुखमय बना सकती है। विषय-वासनाओं में फंसकर आत्म-शुद्धि की उपेक्षा करना क्रियावादी के लिए प्राणघात से भी अधिक भयंकर है। उसे आत्म-अन्वेषण करना चाहिए।

आत्मा और परलोक की अन्वेषक परिषद् के सदस्य सर ओलिवर लॉज ने इस अन्वेषण का मूल्यांकन करते हुए लिखा है—"हमें भौतिक ज्ञान के पीछे पड़कर पारभौतिक विषयों को नहीं भूल जाना चाहिए। चेतन जड़ का कोई गुण नहीं, परन्तु उसमें समायी हुई अपने को प्रदर्शित करने वाली एक स्वतंत्र सत्ता है। प्राणीमात्र के अन्तर्गत एक ऐसी वस्तु अवश्य है जिसका शरीर के नाश के साथ अन्त नहीं हो जाता। भौतिक और पारभौतिक संज्ञाओं के पारस्परिक नियम क्या हैं, इस बात का पता लगाना अत्यन्त आवश्यक हो गया है।"

आत्मा क्यों ?

अक्रियावादी कहते हैं—"जो पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं, उसे कैसे माना जाए?" आत्मा इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष नहीं, फिर उसे क्यों माना जाए?

क्रियावादी कहते हैं—"पदार्थों को जानने का साधन केवल इन्द्रिय और मन का प्रत्यक्ष ही नहीं, इनके अतिरिक्त अनुभव-प्रत्यक्ष, योगी-प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम भी हैं। इंद्रिय और मन से क्या-क्या जाना जाता है? इनकी शक्ति अत्यन्त सीमित है। इनसे अपने दो-चार पीढ़ी के पूर्वज भी नहीं जाने जाते तो क्या उनका अस्तित्व भी न माना जाए? इन्द्रियां सिर्फ स्पर्श, रस, गन्ध, रूपात्मक मूर्त द्रव्य को जानती हैं। मन इन्द्रियों का अनुगामी है। वह उन्हीं के द्वारा जाने हुए पदार्थों के विशेष रूपों को जानता है, चिंतन करता है। मूर्त के माध्यम से वह अमूर्त वस्तुओं को भी जानता है। इसलिए विश्ववर्ती सब पदार्थों को जानने के लिए इंद्रिय और मन पर ही निर्भर हो जाना नितांत अनुचित है। आत्मा शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श नहीं है। वह अरूपी सत्ता है। अरूपी तत्त्व इंद्रियों से नहीं जाने जा सकते। आत्मा अमूर्त है इसलिए इन्द्रिय के द्वारा न जाना जाए, इससे उसके अस्तित्व पर कोई आंच नहीं आती। इन्द्रिय अरूपी आकाश को कौन-कब जान सकता है? अरूपी की बात छोड़िए, अणु या आणविक सूक्ष्म पदार्थ, जो रूपी हैं, वे भी कोरी इंद्रियों से नहीं जाने जा सकते। अतः इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण मानने से कोई तथ्य नहीं निकलता।"

अनात्मवाद के अनुसार आत्मा इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष नहीं इसलिए वह नहीं है।

अध्यात्मवाद के अनुसार आत्मा इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष नहीं, इसलिए वह नहीं है, यह मानना तर्क-बाधित है, क्योंकि वह अमूर्तिक है; इसलिए इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकती।

भारतीय दर्शन में आत्मा के साधक तर्क

किसी भी भारतीय व्यक्ति को आम के अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष-सिद्ध वस्तु के विषय में संदेह नहीं होता। जिन देशों में आम नहीं होता, उन देशों की जनता के लिए आम परोक्ष है। परोक्ष वस्तु के विषय में तो हमारा ज्ञान ही नहीं होता, यदि सुन या पढ़ कर ज्ञान होता है तो वह साधक-बाधक तर्कों की कसौटी से कसा हुआ होता है। साधक प्रमाण बलवान् होते हैं, तो हम परोक्ष वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं और बाधक प्रमाण बलवान् होते हैं, तो हम उसके अस्तित्व को नकार देते हैं।

भारत में जैसे आम प्रत्यक्ष है, वैसे ही आत्मा प्रत्यक्ष होती तो भारतीय दर्शन का विकास आठ आना ही हुआ होता। आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है। उसका चिंतन, मंथन, मनन और दर्शन भारत में इतना हुआ है कि आत्मवाद भारतीय दर्शन का प्रधान अंग बन गया। यहाँ अनात्मवादी भी रहे हैं, किन्तु आत्मवादियों की तुलना में आटे में नमक जितने ही रहे हैं। अनात्मवादियों की संख्या भले कम रही हो, उनके तर्क कम नहीं रहे हैं। उन्होंने समय-समय पर आत्मा के बाधक तर्क प्रस्तुत किये हैं। उनके विपक्ष में आत्मवादियों द्वारा आत्म के साधक-तर्क प्रस्तुत किए गए। संक्षेप में उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१. **स्व-संवेदन**—अपने अनुभव से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। 'मैं हूँ', 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ'—यह अनुभव शरीर को नहीं होता किन्तु उसे होता है, जो शरीर से भिन्न है। शंकराचार्य के शब्दों में—**'सर्वोप्यात्माऽस्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति'**—सबको यह विश्वास होता है कि 'मैं हूँ'। यह विश्वास किसी को नहीं होता कि 'मैं नहीं हूँ।'

२. **अत्यन्ताभाव**—इस तार्किक नियम के अनुसार चेतन और अचेतन में त्रैकालिक विरोध है। जैन-आचार्यों के शब्दों में 'न कभी ऐसा हुआ है, न हो रहा है और न होगा कि जीव अजीव बन जाए और अजीव जीव बन जाए।'

३. **उपादान कारण**—इस तार्किक नियम के अनुसार जिस वस्तु का जैसा उपादान कारण होता है, वह उसी रूप में परिणत होती है। अचेतन के उपादान चेतन में नहीं बदल सकते।

४. **सत्-प्रतिपक्ष**—जिसके प्रतिपक्ष का अस्तित्व नहीं है उसके अस्तित्व को तार्किक समर्थन नहीं मिल सकता। यदि चेतन नामक सत्ता नहीं होती, तो 'न चेतन—अचेतन'—इस अचेतन सत्ता का नामकरण और बोध ही नहीं होता।

५. **बाधक प्रमाण का अभाव**—अनात्मवादी—आत्मा नहीं है, क्योंकि उसका कोई साधक प्रमाण नहीं मिलता।

आत्मवादी—आत्मा है, क्योंकि उसका कोई बाधक प्रमाण नहीं मिलता।

६. **सत् का निषेध**—जीव यदि न हो, तो उसका निषेध नहीं किया जा सकता। असत् का निषेध नहीं होता। जिसका निषेध होता है, वह अस्तित्व में अवश्य होता है।

निषेध चार प्रकार के हैं—

१. संयोग
२. समवाय
३. सामान्य
४. विशेष।

'मोहन घर में नहीं है' यह संयोग-प्रतिषेध है। इसका अर्थ यह नहीं कि मोहन है ही नहीं, किन्तु 'वह घर में नहीं है'—यह 'गृह-संयोग' का प्रतिषेध है। 'खरगोश के सींग नहीं होते'—यह समवाय-प्रतिषेध है। खरगोश भी होता है और सींग भी। इनका प्रतिषेध नहीं है। वहाँ केवल 'खरगोश के सींग'—इस समभाव का प्रतिषेध है।

'दूसरा चांद नहीं है' इसमें चन्द्र के सर्वथा अभाव का प्रतिपादन नहीं, किन्तु उसके सामान्य-मात्र का निषेध है। 'मोती घड़े-जितने बड़े नहीं हैं'—इसमें मुक्ता का अभाव नहीं, किन्तु 'घड़े-जितने बड़े'—यह जो विशेषण है उसका प्रतिषेध है।

आत्मा नहीं है, इसमें आत्मा का निषेध नहीं, किन्तु उसका किसी के साथ होने वाले संयोग का निषेध है।

७. **इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का वैकल्प**—यदि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं होने मात्र से आत्मा का अस्तित्व नकारा जाय, तो प्रत्येक सूक्ष्म, व्यवहित (बीच में व्यवधान वाली) और विप्रकृष्ट (दूरस्थ) वस्तु के अस्तित्व को अस्वीकार करना होगा। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से मूर्त तत्त्व का ग्रहण होता है। आत्मा अमूर्त तत्त्व है, इसलिए इन्द्रियाँ उसे नहीं जान पातीं। इससे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का वैकल्प सिद्ध होता है, आत्मा का अनस्तित्व सिद्ध नहीं होता।

८. **गुण द्वारा गुणी का ग्रहण**—चैतन्य गुण है और चेतन गुणी। चैतन्य प्रत्यक्ष है, चेतन प्रत्यक्ष नहीं है। परोक्ष गुणी की सत्ता प्रत्यक्ष गुण से प्रमाणित हो जाती है। तहखाने में बैठा आदमी प्रकाश को देखकर सूर्योदय का ज्ञान कर लेता है।

९. **विशेष गुण द्वारा स्वतंत्र अस्तित्व का बोध**—वस्तु का अस्तित्व उसके विशेष गुण द्वारा सिद्ध होता है। स्वतंत्र पदार्थ वही होता है, जिसमें ऐसा त्रिकालवर्ती गुण मिले, जो किसी दूसरे पदार्थ में न मिले।

आत्मा में चैतन्य नामक विशेष गुण है। वह दूसरे किसी भी पदार्थ में प्राप्त नहीं है, इसलिए आत्मा का दूसरे सभी पदार्थों से स्वतन्त्र अस्तित्व है।

१०. **संशय**—जो यह सोचता है कि 'मैं नहीं हूँ' वही जीव है। अचेतन को अपने अस्तित्व के विषय में कभी संशय नहीं होता। 'यह है या नहीं'—ऐसा ईहा या विकल्प चेतन के ही होता है। सामने जो लम्बा-चौड़ा पदार्थ दीख रहा है, 'वह खम्भा है या आदमी', यह विकल्प सचेतन व्यक्ति के ही मन में उठता है।

११. **द्रव्य की त्रैकालिकता**—जो पहले-पीछे नहीं है, वह मध्य में नहीं हो सकता। जीव एक स्वतंत्र द्रव्य है, वह यदि पहले न हो और पीछे भी न हो तो वर्तमान में भी नहीं हो सकता।

१२. **संकलनात्मकता**—इन्द्रियों का अपना-अपना निश्चित विषय होता है। एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय को नहीं जान सकती। इन्द्रियां ही ज्ञाता हों, उनका प्रवर्तक आत्मा ज्ञाता न हो, तो सब इन्द्रियों के विषयों का संकलनात्मक ज्ञान नहीं हो सकता। फिर मैं स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द को जानता हूँ, इस प्रकार संकलनात्मक ज्ञान किसे होगा? ककड़ी को चबाते समय स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द—इन पाँचों को जान रहा हूँ, ऐसा ज्ञान होता है।

१३. **स्मृति**—इन्द्रियों के नष्ट हो जाने पर भी उनके द्वारा जाने हुए विषयों की स्मृति रहती है। आँख से कोई वस्तु देखी, कान से कोई बात सुनी; संयोगवश आँख फूट गई और कान का पर्दा फट गया, फिर भी दृष्टि और श्रुत की स्मृति रहती है।

संकलनात्मक ज्ञान और स्मृति—ये मन के कार्य हैं। मन आत्मा के बिना चालित नहीं होता। आत्मा के अभाव में इन्द्रिय और मन—दोनों निष्क्रिय हो जाते हैं। अतः दोनों के ज्ञान का मूल स्रोत आत्मा है।

१४. **ज्ञेय और ज्ञाता का पृथक्त्व**—ज्ञेय, इन्द्रिय और आत्मा—ये तीनों भिन्न हैं। आत्मा ग्राहक है, इन्द्रियां ग्रहण के साधन हैं और पदार्थ ग्राह्य हैं। लोहार सण्डासी से लोहपिण्ड को पकड़ता है। लोहपिण्ड ग्राह्य है, सण्डासी ग्रहण का साधन है और लोहार ग्राहक है। ये तीनों पृथक्-पृथक् हैं। लोहार न हो, तो सण्डासी लोहपिण्ड को नहीं पकड़ सकती। आत्मा के चले जाने पर इन्द्रिय और मन अपने विषय को ग्रहण नहीं कर पाते।

१५. **पूर्व संस्कार की स्मृति**—आत्मा में संस्कारों का भंडार भरा पड़ा है। उन संस्कारों की स्मृति होती रहती है।

इस प्रकार भारतीय आत्मवादियों ने बहुमुखी तर्कों द्वारा आत्मा और पुनर्जन्म का समर्थन किया है।

आत्मा चेतनामय अरूपी सत्ता है। उपयोग (चेतना की क्रिया) उसका लक्षण है। ज्ञान-दर्शन, सुख-दुःख आदि द्वारा वह व्यक्त होता है। वह विज्ञाता है। वह शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श नहीं है। वह लम्बा नहीं है, छोटा नहीं है, टेढ़ा नहीं है, गोल नहीं है, चौकोना नहीं है, मंडलाकार नहीं है। वह हलका नहीं है, भारी नहीं है, स्त्री और पुरुष नहीं है। कल्पना से उसका माप किया जाए, तो वह असंख्य परमाणु जितना है। इसलिए वह ज्ञानमय असंख्य प्रदेशों का पिण्ड है।

वह अरूप है; इसलिए देखा नहीं जाता। उसका चेतना गुण हमें मिलता है। गुण से गुणी का ग्रहण होता है। इससे उसका अस्तित्व हम जान जाते हैं।

वह एकान्ततः वाणी द्वारा प्रतिपाद्य और तर्क द्वारा गम्य नहीं है।

जैन-दृष्टि से आत्मा का स्वरूप

१. **जीव स्वरूपतः अनादि-अनन्त और नित्य-अनित्य**

जीव अनादि-अनन्त (न आदि और न अन्त) है। अविनाशी और अक्षय है। द्रव्य-नय की अपेक्षा से उसका स्वरूप नष्ट नहीं होता, इसलिए नित्य है और पर्याय-नय की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न वस्तुओं में वह परिणत होता रहता है, इसलिए अनित्य है।

२. **संसारी जीव और शरीर का अभेद**

जैसे पिंजड़े से पक्षी, घड़े से बेर और गंजी से आदमी भिन्न होता है, वैसे ही संसारी जीव शरीर से भिन्न होता है।

जैसे दूध और पानी, तिल और तेल, कुसुम और गंध—ये एक लगते हैं, वैसे ही संसार दशा में जीव और शरीर एक लगते हैं।

३. **जीव का परिमाण**

जीव का शरीर के अनुसार संकोच और विस्तार होता है। जो जीवन हाथी के शरीर में होता है, वह कुन्थु (एक बहुत छोटे कीट) के शरीर में भी उत्पन्न हो जाता है। संकोच और विस्तार—दोनों दशाओं में प्रदेशसंख्या, अवयव संख्या समान रहती है।

४. **आत्मा और काल की तुलना**—अनादि-अनन्त की दृष्टि से

जैसे काल अनादि और अविनाशी है, वैसे ही जीव भी तीनों कालों में अनादि और अविनाशी है।

५. आत्मा और आकाश की तुलना—अमूर्त की दृष्टि से

जैसे आकाश अमूर्त है फिर भी वह अवगाह-गुण से जाना जाता है, वैसे ही जीव अमूर्त है और वह विज्ञान गुण से जाना जाता है।

६. जीव और ज्ञान आदि का आधार-आधेय सम्बन्ध

जैसे पृथ्वी सब द्रव्यों का आधार है, वैसे ही जीव ज्ञान आदि गुणों का आधार है।

७. जीव और आकाश की तुलना—नित्य की दृष्टि से

जैसे आकाश तीनों कालों में अक्षय, अनन्त और अतुल होता है, वैसे ही जीव भी तीनों कालों में अविनाशी—अवस्थित होता है।

८. जीव और सोने की तुलना—नित्य-अनित्य की दृष्टि से

जैसे सोने के मुकुट, कुण्डल आदि अनेक रूप बनते हैं, तब भी वह सोना ही रहता है, केवल नाम और रूप में अन्तर पड़ता है। ठीक उसी प्रकार चारों गतियों में भ्रमण करते हुए जीव की पर्यायें बदलती हैं—रूप और नाम बदलते हैं—जीव द्रव्य बना का बना रहता है।

९. जीव की कर्मकार से तुलना—कर्तृत्व और भोक्तृत्व की दृष्टि से

जैसे कर्मकार कार्य करता है और उसका फल भोगता है, वैसे ही जीव स्वयं कर्म करता है और उसका फल भोगता है।

१०. जीव और सूर्य की तुलना—भवानुयायित्व की दृष्टि से

जैसे दिन में सूर्य यहाँ प्रकाश करता है, तब दीखता है और रात को दूसरे क्षेत्र में चला जाता है—प्रकाश करता है, तब दीखता नहीं, वैसे ही वर्तमान शरीर में रहता हुआ जीव उसे प्रकाशित करता है और उसे छोड़कर दूसरे शरीर में जा उसे प्रकाशित करने लग जाता है।

११. जीव का ज्ञान-गुण से ग्रहण

जैसे कमल, चन्दन आदि की सुगन्ध का रूप नहीं दीखता, फिर भी घ्राण के द्वारा उसका ग्रहण होता है, वैसे जीव के नहीं दीखने पर भी उसका ज्ञान-गुण के द्वारा ग्रहण होता है।

भंभा (भेरी), मृदंग आदि के शब्द सुने जाते हैं, किन्तु उनका रूप नहीं दीखता, वैसे ही जीव नहीं दीखता, तब भी उसका ज्ञान-गुण के द्वारा ग्रहण होता है।

१२. जीव का चेष्टा-विशेष द्वारा ग्रहण

जैसे किसी व्यक्ति के शरीर में पिशाच घुस जाता है, तब यद्यपि वह नहीं दीखता, फिर भी आकार और चेष्टाओं द्वारा जान लिया जाता है कि यह पुरुष पिशाच से अभिभूत है, वैसे ही शरीर के अन्दर रहा हुआ जीव हास्य, नाच, सुख-दुःख, बोलना-चलना आदि-आदि विविध चेष्टाओं द्वारा जाना जाता है।

१३. जीव के कर्म का परिणमन

जैसे खाया हुआ भोजन अपने आप सात धातुओं के रूप में परिणत होता है, वैसे ही जीव द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म-योग्य पुद्गल अपने आप कर्मरूप में परिणत हो जाते हैं।

१४. जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध और उसका उपाय द्वारा विसम्बन्ध

जैसे सोने और मिट्टी का संयोग अनादि है, वैसे ही जीव और कर्म का संयोग (साहचर्य) भी अनादि है। जैसे अग्नि आदि के द्वारा सोना मिट्टी से पृथक् होता है, वैसे ही जीव संवर, तपस्या आदि उपायों के द्वारा कर्म से पृथक् हो जाता है।

१५. जीव और कर्म के सम्बन्ध में पौर्वापर्य नहीं

जैसे मुर्गी और अण्डे में पौर्वापर्य नहीं, वैसे ही जीव और कर्म में भी पौर्वापर्य नहीं है। दोनों अनादि-सहगत हैं।

भारतीय दर्शनों में आत्मा का स्वरूप

जैन दर्शन—जैन दर्शन के अनुसार आत्मा चैतन्य स्वरूप, परिणामी स्वरूप को अक्षुण्ण रखता हुआ विभिन्न अवस्थाओं में परिणत होने वाला, कर्ता और भोक्ता, स्वयं अपनी सत्-असत् प्रवृत्तियों से शुभ-अशुभ कर्मों का संचय करने वाला और उनका फल भोगने वाला, स्वदेह-परिमाण, न अणु, न विभु (सर्वव्यापक), किन्तु मध्यम परिमाण का है।

बौद्ध दर्शन—बौद्ध अपने को अनात्मवादी कहते हैं। वे आत्मा के अस्तित्व को वस्तु-सत्य नहीं, काल्पनिक-संज्ञा (नाम) मात्र कहते हैं। क्षण-क्षण नष्ट और उत्पन्न होने वाले विज्ञान (चेतना) और रूप (भौतिक तत्त्व, काया) के संघात संसार-यात्रा के लिए काफी हैं। इनसे परे कोई नित्य आत्मा नहीं है। बौद्ध अनात्मवादी होते हुए भी कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष को स्वीकार करते हैं। आत्मा के विषय में प्रश्न पूछे जाने पर बौद्ध मौन रहे हैं। इसका कारण पूछने पर बुद्ध कहते हैं कि—"यदि मैं कहूं आत्मा है तो लोग शाश्वतवादी बन जाते हैं, यदि

यह कहूं कि आत्मा नहीं है तो लोग उच्छेदवादी हो जाते हैं। इसलिए उन दोनों का निराकरण करने के लिए मैं मौन रहता हूँ।"

बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन लिखते हैं—"बुद्ध ने यह भी कहा कि आत्मा है और यह भी कहा कि आत्मा नहीं है। बुद्ध ने आत्मा या अनात्मा किसी का भी उपदेश नहीं किया।"

बुद्ध ने 'आत्मा क्या है, कहाँ से आया है और कहाँ जाएगा?'—इन प्रश्नों को अव्याकृत कहकर दुःख और दुःख-निरोध—इन दो तत्त्वों का ही मुख्यतया उपदेश दिया। बुद्ध ने कहा—"तीर से आहत पुरुष के घाव को ठीक करने की बात सोचनी चाहिए। तीर कहाँ से आया, किसने मारा आदि-आदि प्रश्न करना व्यर्थ है।"

बुद्ध का यह 'मध्यम-मार्ग' का दृष्टिकोण है। कुछ बौद्ध दार्शनिक मन को भौतिक तत्त्वों (जड़ या matter) से अलग स्वीकार करते हैं।

नैयायिक दर्शन—नैयायिकों के अनुसार आत्मा नित्य और विभु है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख, ज्ञान-ये उसके लिंग हैं। इनसे हम उसका अस्तित्व जानते हैं।

सांख्य दर्शन—सांख्य दर्शन आत्मा को नित्य और निष्क्रिय मानता है, जैसे—

"अमूर्त्तश्चेतनो भोगी, नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।
अकर्त्ता निर्गुणः सूक्ष्मः, आत्मा कपिलदर्शने॥"

सांख्य दर्शन जीव को कर्त्ता नहीं मानता, फल-भोक्ता मानता हैं। उसके मतानुसार कर्तृत्व-शक्ति प्रकृति है।

वैशेषिक दर्शन—वैशेषिक सुख-दुःख आदि की समानता की दृष्टि से आत्मैक्यवादी और व्यवस्था की दृष्टि से आत्मानैक्यवादी हैं।

वेदान्त दर्शन—वेदान्ती अन्तःकरण से परिवेष्टित चैतन्य को जीव बतलाते हैं। उनके अनुसार—**"एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः"**—स्वभावतः जीव एक है, परन्तु देहादि उपाधियों के कारण नाना प्रतीत होता है।

परन्तु रामानुज-मत में जीव अनन्त हैं, वे एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं।

उपनिषद् और गीता के अनुसार आत्मा शरीर से विलक्षण, मन से भिन्न, विभु—व्यापक और अपरिणामी है। वह वाणी द्वारा अगम्य है। उसका विस्तृत स्वरूप नेति-नेति द्वारा बताया है। वह न स्थूल है, न अणु है, न क्षुद्र है, न विशाल है, न अरुण है, न द्रव है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश

है, न संग है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कर्ण है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न अन्तर है, न बाहर है।

संक्षेप में—

बौद्ध—आत्मा स्थायी नहीं, चेतना का प्रवाह मात्र है।

न्याय-वैशेषिक—आत्मा स्थायी है, किन्तु चेतना उसका स्थायी स्वरूप नहीं। गहरी नींद में वह चेतनाविहीन हो जाती है।

वैशेषिक—मोक्ष में आत्मा की चेतना नष्ट हो जाती है।

सांख्य—आत्मा स्थायी, अनादि, अनंत, अविकारी, नित्य और चित्स्वरूप है। बुद्धि अचेतन है—प्रकृति का विवर्त है।

मीमांसक—आत्मा में अवस्था-भेद-कृत भेद होता है, फिर भी वह नित्य है।

जैन—आत्मा परिवर्तन-युक्त, स्थायी और चित्स्वरूप है। बुद्धि भी चेतन है। गहरी नींद या मूर्च्छा में चेतना होती है, उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती, सूक्ष्म अभिव्यक्ति होती भी है। मोक्ष में चेतना का सहज उपयोग (ज्ञान-दर्शन रूप व्यापार) होता है। चेतना की आवृत-दशा में उसे प्रवृत्त करना पड़ता है—अनावृत-दशा में वह सतत प्रवृत्त रहती है।

औपनिषदिक दृष्टि और जैन-दृष्टि की तुलना

औपनिषदिक सृष्टि-क्रम में आत्मा का स्थान पहला है। 'आत्मा' शब्द-वाच्य ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से पानी, पानी से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियाँ, औषधियों से अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ। वह यह पुरुष अन्न-रसमय ही है—अन्न और रस का विकार है। इस अन्न-रसमय पुरुष की तुलना औदारिक शरीर से होती है। इसके सिर आदि अंगोपांग माने गए हैं। प्राणमय आत्मा (शरीर) अन्नमय कोष की भांति पुरुषाकार है। किन्तु उसकी भाँति अंगोपांग वाला नहीं है। पहले कोश की पुरुषाकारता के अनुसार ही उत्तरवर्ती कोश पुरुषाकार है। पहला कोश उत्तरवर्ती कोश से पूर्ण, व्याप्त या भरा हुआ है। इस प्राणमय शरीर की तुलना श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति से की जा सकती है।

प्राणमय आत्मा जैसे अन्नमय कोश के भीतर रहता है, वैसे ही मनोमय आत्मा प्राणमय कोश के भीतर रहता है। इस मनोमय शरीर की तुलना मनः-पर्याप्ति से हो सकती है। मनोमय कोश के भीतर विज्ञानमय कोश है।

निश्चयात्मिका बुद्धि जो है, वही विज्ञान है। वह अन्तःकरण का अध्यवसाय-रूप धर्म है। इस निश्चयात्मिका बुद्धि से उत्पन्न होने वाला आत्मा

विज्ञानमय है। इसकी तुलना भाव-मन, चेतन-मन से होती है। विज्ञानमय आत्मा के भीतर आनन्दमय आत्मा रहता है। इसकी तुलना आत्मा की सुखानुभूति की दशा से हो सकती है।

सजीव और निर्जीव पदार्थ का पृथक्करण

प्राण और अप्राणी में क्या भेद है? यह प्रश्न कितनी बार हृदय को आंदोलित नहीं करता? प्राण प्रत्यक्ष नहीं हैं। उनकी जानकारी के लिए किसी एक लक्षण की आवश्यकता होती है। यह लक्षण पर्याप्ति है। पर्याप्ति के द्वारा प्राणी विसदृश द्रव्यों (पुद्गलों) का ग्रहण, स्वरूप में परिणमन और विसर्जन करता है।

जीव	अजीव
१. प्रजनन-शक्ति (संतति-उत्पादन)	प्रजनन-शक्ति नहीं।
२. वृद्धि	वृद्धि नहीं।
३. आहार-ग्रहण,[१] स्वरूप में परिणमन, विसर्जन।	नहीं
४. जागरण, नींद, परिश्रम, विश्राम	नहीं
५. आत्म-रक्षा के लिए प्रवृत्ति[२]	नहीं
६. भय-त्रास की अनुभूति	नहीं

१. हिन्दी विश्व भारती, खण्ड १, पृ. ४१, ५० :

(क) कृत्रिम उद्भिज अपने आप बढ़ जाता है। फिर भी सजीव पौधे की बढ़ती और इसकी बढ़ती में गहरा अन्तर है। सजीव पौधा अपने आप ही अपने कलेवर के भीतर होने वाली स्वाभाविक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप बढ़ता है।

इसके विपरीत.....जड़ पदार्थ से तैयार किया हुआ उद्भिज बाहरी क्रिया का ही परिणाम है।

(ख) सजीव पदार्थ बढ़ते हैं और निर्जीव नहीं बढ़ते, लेकिन क्या चीनी का 'रवा' चीनी के संपृक्त घोल में रखे जाने पर नहीं बढ़ता? यही बात पत्थरों और कुछ चट्टानों के बारे में भी कही जा सकती हे, जो पृथ्वी के नीचे से बढ़कर छोटे या बढ़े आकार ग्रहण कर लेते हैं। एक ओर हम आम की गुठली से एक पतली शाखा निकलते हुए देखते हैं और इसे एक छोटे पौधे और अन्त में एक पूरे वृक्ष के रूप में बढ़ते हुए पाते हैं, और दूसरी ओर एक पिल्ले को धीरे-धीरे बढ़ते हुए देखते हैं क्रमशः .....

भाषा (वाणी-प्रयोग की क्षमता) अजीव में नहीं होती किन्तु सब जीवों में भी नहीं होती—त्रस जीवों में होती है, स्थावर जीवों में नहीं होती—इसलिए यह जीव का लक्षण नहीं बनता।

क्रमश : और एक दिन वह पूरे कुत्ते के बराबर हो जाता है लेकिन इन दोनों प्रकार के बढ़ाव में अन्तर है। चीनी के रवे या पत्थर का बढ़ाव उनकी सतह पर अधिकाधिक नए पर्त के जमाव होने की वजह से होता है। परन्तु इसके विपरीत छोटे पेड़ या पिल्ले अपने शरीर के भीतर खाद्य पदार्थों के ग्रहण करने से बढ़कर पूरे डीलडौल के हो जाते हैं। अतएव पशुओं और पौधों का बढ़ाव भीतर से होता है और निर्जीव पदार्थों का बढ़ाव यदि होता है तो बाहर से।

१-२. हिन्दी विश्व भारती, खण्ड १, पृ. ४२ :

प्राणी सजीव और अजीव दोनों प्रकार का आहार लेते हैं किन्तु उसे लेने के बाद वह सब अजीव हो जाता है। अजीव-पदार्थों को जीव स्वरूप में कैसे परिवर्तित करते हैं, यह आज भी विज्ञान के लिए रहस्य है। वैज्ञानिकों के अनुसार वृक्ष निर्जीव पदार्थों से बना आहार लेते हैं। वह उसमें पहुँचकर सजीव कोषों का रूप धारण कर लेता है। वे निर्जीव पदार्थ सजीव बन गए, इसका श्रेय 'क्लोरोफिल' को है। वैज्ञानिक इस रहस्यमय पद्धति को नहीं जान सके हैं, जिसके द्वारा 'क्लोरोफिल' निर्जीव को सजीव में परिवर्तित कर देता है। जैन-दृष्टि के अनुसार निर्जीव आहार को स्वरूप में परिणत करने वाली शक्ति आहार-पर्याप्ति है। वह जीवन-शक्ति की आधार-शिला होती है और उसी के सहकार से शरीर आदि का निर्माण होता है।

—लज्जावती की पत्तियां स्पर्श करते ही मूर्च्छित हो जाती हैं। आप जानते हैं कि आकाश में विद्युत् का प्रहार होते ही खेतों में चरते हुए मृगों का झुण्ड भयभीत होकर तितर-बितर हो जाता है। वाटिका में विहार करते हुए विहंगों में कोलाहल मच जाता है और खाट पर सोया हुआ अबोध बालक चौंक पड़ता है परन्तु खेत की मेंड़, वाटिका के फव्वारे तथा बालक की खाट पर स्पष्टतया कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसा क्यों होता है, क्या कभी आपने इसकी ओर ध्यान दिया? इन सारी घटनाओं की जड़ में एक ही रहस्य है और यह भी सजीव प्रकृति की प्रधानता है। यह जीवों की उत्तेजना-शक्ति और प्रतिक्रिया है। यह गुण लज्जावती, हरिण, विहंग, बालक अथवा अन्य जीवों में उपस्थित है, परन्तु किसी में कम, किसी में अधिक। आघात के अतिरिक्त, अन्य अनेक कारणों का भी प्राणियों पर प्रभाव पड़ता है।

गति जीव और अजीव दोनों में होती है किंतु इच्छापूर्वक या सहेतुक गति-आगति तथा गति-आगति का विज्ञान केवल जीवों में होता है, अजीव पदार्थ में नहीं।

अजीव के चार प्रकार—धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश और काल गतिशील नहीं है, केवल पुद्गल गतिशील है। उसके दोनों रूप परमाणु और स्कन्ध (परमाणु-समुदाय) गतिशील हैं। इनमें नैसर्गिक और प्रायोगिक—दोनों प्रकार की गति होती है। स्थूल-स्कन्ध प्रयोग के बिना गति नहीं करते। सूक्ष्म-स्कन्ध स्थूल-प्रयत्न के बिना भी गति करते हैं। इसलिए उनमें इच्छापूर्वक गति और चैतन्य का भ्रम हो जाता है। सूक्ष्म-वायु के द्वारा स्पष्ट पुद्गल-स्कन्धों में कम्पन, प्रकम्पन, चलन, क्षोभ, स्पन्दन, घट्टन, उदीरणा और विचित्र आकृतियों का परिणमन देखकर विभंग-अज्ञानी (मिथ्यात्वी का अवधि-ज्ञान विभंग-अज्ञान कहलाता है) को 'ये सब जीव हैं'—ऐसा भ्रम हो जाता है।

अजीव में जीव या अणु में कीटाणु का भ्रम होने का कारण उनका गति और आकृति सम्बन्धी साम्य है।

जीवत्व की अभिव्यक्ति के साधन उत्थान, बल, वीर्य हैं। वे शरीर-सापेक्ष हैं। शरीर पौद्गलिक है। इसलिए चेतन द्वारा स्वीकृत पुद्गल और चेतन-मुक्त पुद्गल में गति और आकृति के द्वारा भेद-रेखा नहीं खींची जा सकती।[१]

जीव के व्यावहारिक लक्षण

सजातीय-जन्म, वृद्धि, सजातीय-उत्पादन, क्षत-संरोहण (घाव भरने की शक्ति) और अनियमित तिर्यग्-गति—ये जीवों के व्यावहारिक लक्षण हैं। एक मशीन खा सकती है, लेकिन खाद्य रस के द्वारा अपने शरीर को बढ़ा नहीं सकती। किसी हद तक अपना नियंत्रण करने वाली मशीनें भी हैं। टारपीडो में स्वयं-चालक शक्ति है, फिर भी वे न तो सजातीय यन्त्र की देह से उत्पन्न होते हैं और न किसी सजातीय यन्त्र को उत्पन्न करते हैं। ऐसा कोई यन्त्र नहीं जो अपना घाव खुद भर सके या मनुष्यकृत नियमन के बिना इधर-उधर घूम सके—तिर्यग्-गति कर सके। एक रेलगाड़ी पटरी पर अपना बोझ लिये पवन-वेग से दौड़ सकती है, पर उससे कुछ दूरी पर रेंगने वाली एक चींटी को भी वह नहीं मार सकती।

---

१. हिन्दी विश्वभारती, खण्ड १. पृ. १३८ :
सोडियम धातु के टुकड़े पानी में तैरकुआ कीड़ों की तरह तीव्रता से इधर-उधर दौड़ते हैं और शीघ्र ही रासायनिक क्रिया के कारण समाप्त होकर लुप्त हो जाते हैं।

चींटी में चेतना है, वह इधर-उधर घूमती है। रेलगाड़ी जड़ है, उसमें वह शक्ति नहीं। यन्त्र-क्रिया का नियामक भी चेतनावान् प्राणी है। इसलिए यन्त्र और प्राणी की स्थिति एक-सी नहीं है। ये लक्षण जीवधारियों की अपनी विशेषताएं हैं। जड़ में ये नहीं मिलतीं।

जीव के नैश्चयिक लक्षण

आत्मा का नैश्चयिक लक्षण चेतना है। प्राणी मात्र में उसका न्यूनाधिक मात्रा में सद्भाव होता है। यद्यपि सत्ता रूप में चैतन्य शक्ति सब प्राणियों में अनंत होती है, पर विकास की अपेक्षा वह सब में एक-सी नहीं होती। ज्ञान के आवरण की प्रबलता एवं दुर्बलता के अनुसार उसका विकास न्यून या अधिक होता है। एकेन्द्रिय वाले जीवों में भी कम से कम एक (स्पर्शन) इन्द्रिय का अनुभव मिलेगा। यदि वह न रहे, तब फिर जीव और अजीव में कोई अन्तर नहीं रहता। जीव और अजीव का भेद बतलाते हुए शास्त्रों में कहा गया है—"केवलज्ञान (पूर्णज्ञान) का अनन्तवां भाग तो सब जीवों के विकसित रहता है। यदि वह भी आवृत हो जाए तो जीव अजीव बन जाए।"

मध्यम और विराट् परिमाण

उपनिषदों में आत्मा के परिमाण की विभिन्न कल्पनाएं मिलती हैं। यह मनोमय पुरुष (आत्मा) अन्तर हृदय में चावल या जौ के दाने जितना है। यह आत्मा प्रदेश-मात्र (अंगूठे के सिरे से तर्जनी के सिरे तक की दूरी जितना) है। यह आत्मा शरीर-व्यापी है। यह आत्मा सर्व-व्यापी है। हृदय-कमल के भीतर यह आत्मा पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक अथवा इन सब लोकों की अपेक्षा बड़ा है।

जैन दर्शन में जीव संख्या की दृष्टि से अनन्त हैं। प्रत्येक जीव के प्रदेश या अविभागी अवयव असंख्य हैं। जीव असंख्य-प्रदेशी है। अतः व्याप्त होने की क्षमता की दृष्टि से लोक के समान विराट् है। 'केवली-समुद्घात' की प्रक्रिया में आत्मा कुछ समय के लिए व्यापक बन जाती है। 'मारणान्तिक-समुद्घात' के समय भी आंशिक व्यापकता होती है।

प्रदेश-संख्या की दृष्टि से धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश और जीव—ये चार समतुल्य हैं, अवगाह की दृष्टि से सम नहीं हैं। धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य और आकाश स्वीकारात्मक प्रवृत्ति और क्रिया-प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति से शून्य हैं, इसलिए उनके परिमाण में कोई परिवर्तन नहीं होता। संसारी जीवों में पुद्गलों का स्वीकरण और उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया—ये दोनों प्रवृत्तियाँ होती हैं, इसलिए उनका

परिमाण सदा समान नहीं रहता। वह संकुचित या विकसित होता रहता है। फिर भी अणु जितना संकुचित और लोकाकाश जितना विकसित (केवली समुद्घात के सिवाय) नहीं होता, इसलिए जीव मध्यम परिमाण की कोटि के होते हैं।

संकोच और विकोच जीवों की स्वाभाविक प्रक्रिया नहीं है—वे कार्मण शरीर-सापेक्ष होते हैं। कर्म-युक्त दशा में जीव शरीर की मर्यादा में बंधे हुए हैं इसलिए उनका परिमाण स्वतन्त्र नहीं होता। कार्मण शरीर का छोटापन और मोटापन गति-चतुष्टय-सापेक्ष (देव, नारक, मनुष्य और तिर्यंच—ये चार गति हैं) होता है। मुक्त-दशा में संकोच-विकोच नहीं, वहाँ चरम शरीर के ठोस (दो तिहाई) भाग में आत्मा का जो अवगाह होता है, वही रह जाता है।

आत्मा के संकोच-विकोच की दीपक के प्रकाश से तुलना की जा सकती है। खुले आकाश में रखे हुए दीपक का प्रकाश अमुक परिमाण का होता है। उसी दीपक को यदि कोठरी में रख दें, तो वही प्रकाश कोठरी में समा जाता है। एक घड़े के नीचे रखते हैं, तो घड़े में समा जाता है। ढँकनी के नीचे रखते हैं तो ढँकनी में समा जाता है। उसी प्रकार कार्मण शरीर के आवरण से आत्म-प्रदेशों का भी संकोच और विस्तार होता रहता है।

जो आत्मा बालक-शरीर में रहती है, वही आत्मा युवा-शरीर में रहती है और वही वृद्ध-शरीर में। स्थूल-शरीर-व्यापी आत्मा कृश-शरीर-व्यापी हो जाती है। कृश-शरीर-व्यापी आत्मा स्थूल-शरीर-व्यापी हो जाती है।

इस विषय में एक शंका हो सकती है कि आत्मा को शरीर-परिमाण मानने से वह अवयव-सहित हो जाएगी और अवयव-सहित हो जाने से वह अनित्य हो जाएगी, क्योंकि जो अवयव-सहित होता है, वह विशरणशील—अनित्य होता है। घड़ा अवयव-सहित है, अतः अनित्य है। इसका समाधान यह है कि यह कोई नियम नहीं कि जो अवयव-सहित होता है, वह विशरणशील ही होता है। जैसे घड़े का आकाश, पट का आकाश इत्यादिक रूपता से आकाश सावयव है और नित्य है, वैसे ही आत्मा भी सावयव और नित्य है और जो अवयव किसी कारण से इकट्ठे होते हैं, वे ही फिर अलग हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त जो अविभागी अवयव हैं, वे अवयवी से कभी पृथक् नहीं हो सकते।

विश्व की कोई भी वस्तु एकांत (निरपेक्ष) रूप से नित्य और अनित्य नहीं है, किन्तु नित्यानित्य है। आत्मा नित्य भी है, अनित्य भी है। आत्मा का चैतन्य-स्वरूप कदापि नहीं छूटता, अतः आत्मा नित्य है। आत्मा के प्रदेश कभी संकुचित रहते हैं, कभी विकसित रहते हैं, कभी सुख में, कभी दुःख में—इत्यादि कारणों से तथा पर्यायान्तर से आत्मा अनित्य है। अतः स्याद्वाद की दृष्टि से सावयवता भी आत्मा के शरीर-परिमाण होने में बाधक नहीं है।

बद्ध और मुक्त

आत्मा दो प्रकार की है—बद्ध आत्मा और मुक्त आत्मा। कर्मबन्धन टूटने से जिनका आत्मीय स्वरूप प्रकट हो जाता है, वे मुक्त आत्माएं होती हैं। वे भी अनन्त हैं। उनके शरीर एवं शरीर-जन्य क्रिया, जन्म-मृत्यु आदि कुछ भी नहीं होते। वे आत्म-रूप हो जाती हैं। अतएव उन्हें सत्-चित्-आनन्द कहा जाता है। जो संसारी आत्माएं हैं, वे कर्म-बद्ध होने के कारण अनेक योनियों में परिभ्रमण करती हैं, कर्म करती हैं और उनका फल भोगती हैं। ये मुक्त आत्माओं से अनन्तानन्त गुनी होती हैं। मुक्त आत्माओं का अस्तित्व पृथक्-पृथक् होता है, तथापि उनके स्वरूप में पूर्ण समता होती है। संसारी जीवों में भी स्वरूप की दृष्टि से ऐक्य होता है किन्तु वह कर्म से आवृत रहता है और कर्मकृत भिन्नता से वे विविध वर्गों में बंट जाते हैं, जैसे पृथ्वीकायिक जीव, अप्कायिक जीव आदि जीवों के छह निकाय। ये शारीरिक परमाणुओं की भिन्नता के अनुसार हैं। सब जीवों के शरीर एक-से नहीं होते। किन्हीं जीवों का शरीर पृथ्वी होता है, तो किन्हीं का पानी। इस प्रकार पृथक्-पृथक् परमाणुओं के शरीर बनते हैं। इनमें पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय के असंख्यात, वनस्पतिकाय के अनन्त तथा त्रसकाय के असंख्यात जीव होते हैं।

त्रसकाय के जीव स्थूल ही होते हैं। शेष पाँच निकाय के जीव स्थूल और सूक्ष्म—दोनों प्रकार के होते हैं। सूक्ष्म जीवों से समूचा लोक भरा है। स्थूल जीव भूमि आदि आधार बिना नहीं रह सकते; अतः वे लोक के थोड़े भाग में हैं।

एक-एक काय में कितने जीव हैं, यह उपमा के द्वारा समझाया गया है—एक हरे आंवले के समान मिट्टी के ढेले में जो पृथ्वी के जीव हैं, उन सब में से प्रत्येक का शरीर कबूतर जितना बड़ा किया जाए, तो वे एक लाख योजन लम्बे-चौड़े जम्बूद्वीप में नहीं समाते।

पानी की बूंद में जितने जीव हैं, उनमें से प्रत्येक का शरीर सरसों के दाने के समान बनाया जाए, तो वे उक्त जम्बूद्वीप में नहीं समाते।

एक चिनगारी के जीवों में से प्रत्येक के शरीर को लीख के समान किया जाए, तो वे भी जम्बूद्वीप में नहीं समाते।

नीम के पत्ते को छूने वाली हवा में जितने जीव हैं, उन सब में से प्रत्येक के शरीर को खस-खस के दानों के समान किया जाए तो वे जम्बूद्वीप में नहीं समाते।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार सूक्ष्म जीवाणु, कीटाणु, विषाणु आदि बहुसंख्या में उत्पन्न होते हैं। एक आलपिन के सिरे जितने स्थान में १००००० सूक्ष्म जीव समा जाते हैं।

शरीर और आत्मा

शरीर और आत्मा का क्या सम्बन्ध है? मानसिक विचारों का हमारे शरीर तथा मस्तिष्क के साथ क्या सम्बन्ध है? इन प्रश्नों के उत्तर में तीन वाद प्रसिद्ध हैं—

१. एक पाक्षिक-क्रियावाद (भूत-चैतन्यवाद)।

२. मनोदैहिक-सहचरवाद।

३. अन्योन्याश्रयवाद।

भूत-चैतन्यवादी केवल शारीरिक व्यापारों को ही मानसिक व्यापारों का कारण मानते हैं। उनकी सम्मति में आत्मा शरीर की उपज है। मस्तिष्क की विशेष कोष्ठ-क्रिया ही चेतना है। ये प्रकृतिवादी भी कहे जाते हैं। आत्मा को प्रकृति-जन्य सिद्ध करने के लिए ये इस प्रकार अपना अभिमत प्रस्तुत करते हैं। पाचन आमाशय की क्रिया का नाम है। श्वासोच्छ्वास फेफड़ों की क्रिया का नाम है। वैसे ही चेतना (आत्मा) मस्तिष्क की कोष-क्रिया का नाम है। यह भूत-चैतन्यवाद का एक संक्षिप्त रूप है। आत्मवादी इसका निरसन इस प्रकार करते हैं—"चेतना मस्तिष्क के कोषों की क्रिया है।" इसमें द्वयर्थक क्रिया शब्द का समानार्थक प्रयोग किया गया है। आमाशय की क्रिया और मस्तिष्क की क्रिया में बड़ा भारी अन्तर है। क्रिया शब्द का दो बार का प्रयोग विचार-भेद का द्योतक है। जब हम यह कहते हैं कि पाचन आमाशय की क्रिया का नाम है, तब पाचन और आमाशय की क्रिया में भेद नहीं समझते। पर जब मस्तिष्क की कोष-क्रिया का विचार करते हैं; तब उस क्रिया-मात्र को चेतना नहीं समझते। चेतना का विचार करते हैं, तब मस्तिष्क की कोष-क्रिया का किसी प्रकार का ध्यान नहीं आता। ये दोनों घटनाएं सर्वथा विभिन्न हैं। पाचन से आमाशय की क्रिया का बोध हो आता है और आमाशय की क्रिया से पाचन का। पाचन और आमाशय की क्रिया—ये दो घटनाएं नहीं, एक ही क्रिया के दो नाम हैं। आमाशय, हृदय और मस्तिष्क तथा शरीर के सारे अवयव चेतनाहीन तत्त्व से बने हुए होते हैं। चेतनाहीन से चेतना उत्पन्न नहीं हो सकती। इसी आशय को स्पष्ट करते हुए पादरी बटदार ने लिखा है—"आप हाइड्रोजन तत्त्व के मृत परमाणु, आक्सीजन तत्त्व के मृत परमाणु, कार्बन तत्त्व के मृत परमाणु, नाइट्रोजन के मृत परमाणु, फास्फोरस तत्त्व के मृत परमाणु तथा बारूद की भांति उन समस्त तत्त्वों के मृत परमाणु जिनसे मस्तिष्क बना है, ले लीजिए। विचारिए कि ये परमाणु पृथक्-पृथक् एवं ज्ञान-शून्य हैं, फिर विचारिए कि ये परमाणु साथ-साथ दौड़ रहे हैं

और परस्पर मिश्रित होकर जितने प्रकार के स्कंध हो सकते हैं, बना रहे हैं। इस शुद्ध यांत्रिक क्रिया का चित्र आप अपने मन में खींच सकते हैं। क्या यह आपकी दृष्टि, स्वप्न या विचार में आ सकता है कि इस यांत्रिक क्रिया एवं इन मृत परमाणुओं से बोध, विचार एवं भावनाएं उत्पन्न हो सकती हैं? क्या फांसों के खटपटाने से होमर कवि या बिलयर्ड खेल की गेंद के खनखनाने से अवकल गणित (Differential Calculus) निकल सकता है?.....आज मनुष्य की इस जिज्ञासा कि परमाणुओं के परस्पर सम्मिश्रण की यांत्रिक क्रिया से ज्ञान की उत्पत्ति कैसे हो गई, सन्तोषप्रद उत्तर नहीं दे सकते।"

पाचन और श्वासोच्छ्वास की क्रिया से चेतना की तुलना भी त्रुटिपूर्ण है। ये दोनों क्रियाएं स्वयं अचेतन हैं। अचेतन मस्तिष्क की क्रिया चेतना नहीं हो सकती। इसलिए यह मानना होगा कि चेतना एक स्वतंत्र सत्ता है, मस्तिष्क की उपज नहीं।

शारीरिक व्यापारों को ही मानसिक व्यापारों के कारण मानने वालों को दूसरी आपत्ति यह आती है कि—"मैं अपनी इच्छा के अनुसार चलता हूँ—मेरे भाव शारीरिक परिवर्तनों को पैदा करने वाले हैं" इत्यादि प्रयोग नहीं किये जा सकते।

'मनोदैहिक-सहचरवाद' के अनुसार मानसिक तथा शारीरिक व्यापार परस्पर सहकारी हैं; इसके सिवाय दोनों में किसी प्रकार का संबंध नहीं। इस वाद का उत्तर अन्योन्याश्रयवाद है। उसके अनुसार शारीरिक क्रियाओं का मानसिक व्यापारों पर एवं मानसिक व्यापारों का शारीरिक क्रियाओं पर असर होता है। जैसे—

१. मस्तिष्क की बीमारी से मानसिक शक्ति दुर्बल हो जाती है।

२. मस्तिष्क के परिमाण के अनुसार मानसिक शक्ति का विकास होता है।

साधारणतया पुरुषों का दिमाग ४६ से ५० या ५२ औंस तक का और स्त्रियों का ४४-४८ औंस तक का होता है। देश-विशेष के अनुसार इनमें कुछ न्यूनाधिकता भी पायी जाती है। अपवाद रूप असाधारण मानसिक शक्ति वालों का दिमाग औसत परिमाण से भी नीचे दर्जे का पाया गया है। पर साधारण नियमानुसार दिमाग के परिमाण और मानसिक विकास का सम्बन्ध रहता है।

३. ब्राह्मीघृत आदि विविध औषधियों से मानसिक विकास को सहारा मिलता है।

४. दिमाग पर आघात होने से स्मरण-शक्ति क्षीण हो जाती है।

५. दिमाग का एक विशेष भाग मानसिक शक्ति के साथ संबंधित है, उसकी क्षति से मानस-शक्ति में हानि होती है।

मानसिक क्रिया का शरीर पर प्रभाव

१. निरन्तर चिंता एवं दिमागी परिश्रम से शरीर थक जाता है।

२. सुख-दुःख का शरीर पर प्रभाव होता है।

३. उदासीन वृत्ति एवं चिंता से पाचन-शक्ति मंद हो जाती है, शरीर कृश हो जाता है। क्रोध आदि से रक्त विषाक्त बन जाता है।

इन घटनाओं के अवलोकन के बाद शरीर और मन के पारस्परिक संबंध के बारे में संदेह का कोई अवकाश नहीं रहता। इस प्रकार अन्योन्याश्रयवादी मानसिक एवं शारीरिक सम्बन्ध के निर्णय तक पहुंच गए। दोनों शक्तियों का पृथक् अस्तित्व स्वीकार कर लिया किंतु उनके सामने एक उलझन अब तक भी मौजूद है। दो विसदृश पदार्थों के बीच कार्य-कारण का संबंध कैसे? इसका वे अभी समाधान नहीं कर पाए हैं।

दो विसदृश पदार्थों (अरूप और सरूप) का संबंध

आत्मा और शरीर—ये विजातीय द्रव्य हैं। आत्मा चेतन और अरूप है, शरीर अचेतन और सरूप। इस दशा में दोनों का संबंध कैसे हो सकता है? इसका समाधान जैन दर्शन में किया गया है। संसारी आत्मा सूक्ष्म और स्थूल, इन दो प्रकार के शरीरों से वेष्टित रहता है। एक जन्म से दूसरे जन्म में जाने के समय स्थूल शरीर छूट जाता है, सूक्ष्म शरीर नहीं छूटता। सूक्ष्म शरीरधारी जीवों को एक के बाद दूसरे-तीसरे स्थूल शरीर का निर्माण करना पड़ता है। सूक्ष्म शरीरधारी जीव ही दूसरा शरीर धारण करते हैं, इसलिए अमूर्त जीव मूर्त शरीर में कैसे प्रवेश करते हैं—यह प्रश्न ही नहीं उठता। सूक्ष्म शरीर और आत्मा का सम्बन्ध अपश्चानुपूर्वी है। अपश्चानुपूर्वी उसे कहा जाता है, जहाँ पहले-पीछे का कोई विभाग नहीं होता—पौर्वापर्य नहीं निकाला जा सकता। तात्पर्य यह हुआ कि उनका सम्बन्ध अनादि है। इसीलिए संसार-दशा में जीव कथंचित् मूर्त भी है। उनका अमूर्त रूप विदेहदशा में प्रकट होता है। यह स्थिति बनने पर फिर उनका मूर्त द्रव्य से कोई सम्बन्ध नहीं रहता किंतु संसार-दशा में जीव और पुद्गल का कथंचित् सादृश्य होता है, इसलिए उनका सम्बन्ध होना असंभव नहीं। 'अमूर्त के साथ मूर्त का सम्बन्ध नहीं हो सकता'—यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है, यह उचित है। इनमें क्रिया-प्रतिक्रियात्मक सम्बन्ध नहीं हो सकता।

अरूप (ब्रह्म) का सरूप (जगत्) के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। अरूप ब्रह्म के रूप-प्रणयन की वेदान्त दर्शन के लिए एक जटिल समस्या

है। संगति से असंगति (ब्रह्म से जगत्) और असंगति से फिर संगति की ओर गति क्यों होती है? यह उसे और अधिक जटिल बना देती है।

अमूर्त आत्मा के मूर्त शरीर के साथ सम्बन्ध की स्थिति जैन दर्शन के सामने वैसी ही उलझन भरी है, किन्तु वस्तुवृत्त्या वह उससे भिन्न है। जैन-दृष्टि के अनुसार अरूप का रूप-प्रणयन नहीं हो सकता। संसारी आत्माएं अरूप नहीं होती। उनका विशुद्ध रूप अमूर्त होता है, किन्तु संसार-दशा में उसकी प्राप्ति नहीं होती। उनकी अरूप-स्थिति मुक्त-दशा में बनती है। उसके बाद उनका सरूप के घात-प्रत्याघातों से कोई लगाव नहीं होता।

विज्ञान और आत्मा

भौतिकवादी वैज्ञानिकों की समीक्षा

बहुत से पश्चिमी वैज्ञानिक आत्मा को मन से अलग नहीं मानते। उनकी दृष्टि में मन और मस्तिष्क-क्रिया एक है। दूसरे शब्दों में मन और मस्तिष्क पर्यायवाची शब्द हैं। पावलोफ ने इसका समर्थन किया है कि स्मृति मस्तिष्क (cerebrum) की करोड़ों कोशिकाओं (cells) की क्रिया है। पावलोफ के सिद्धान्त को प्रवृत्तिवाद कहते हैं। उसका कहना है कि समस्त मानसिक क्रियाएं शारीरिक प्रवृत्ति के साथ होती हैं। मानसिक क्रिया और शारीरिक प्रवृत्ति अभिन्न ही है। बर्गसां जिस युक्ति के बल पर आत्मा के अस्तित्व की आवश्यकता अनुभव करता है, उसके मूलभूत तथ्य स्मृति को 'पावलोफ' मस्तिष्क के कोशिकाओं की क्रिया बतलाता है। फ़ोटो के नेगेटिव प्लेट में जिस प्रकार प्रतिबिम्ब खींचे हुए होते हैं, उसी प्रकार मस्तिष्क में अतीत के चित्र प्रतिबिम्बित रहते हैं। जब उन्हें तदनुकूल सामग्री द्वारा नई प्रेरणा मिलती है, तब वे जागृत हो जाते हैं, निम्न स्तर से ऊपरी स्तर में आ जाते हैं; इसी का नाम स्मृति है। इसके लिए भौतिक तत्त्वों से पृथक् अन्वयी आत्मा मानने की कोई आवश्यकता नहीं। भूताद्वैतवादी वैज्ञानिकों ने भौतिक प्रयोग के द्वारा अभौतिक सत्ता का नास्तित्व सिद्ध करने की बहुमुखी चेष्टाएं की हैं, फिर भी भौतिक प्रयोगों का क्षेत्र भौतिकता तक ही सीमित रहता है, अमूर्त आत्मा या मन का नास्तित्व सिद्ध करने में उसका अधिकार सम्पन्न नहीं होता।

मन भौतिक और अभौतिक दोनों प्रकार का होता है। मन, चिन्तन, तर्क, अनुमान, स्मृति **'तदेवेदम्'** इस प्रकार संकलनात्मक ज्ञान—अतीत और वर्तमान ज्ञान की जोड़ करना, ये कार्य अभौतिक मन के हैं। भौतिक मन उसकी ज्ञानात्मक प्रवृत्ति का साधन है। इसे हम मस्तिष्क या 'औपचारिक ज्ञान-तंतु' भी कह सकते

हैं। मस्तिष्क शरीर का अवयव है। उस पर विभिन्न प्रयोग करने पर मानसिक स्थिति में परिवर्तन पाया जाए, अर्ध-स्मरण या विस्मरण आदि मिले, यह कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं क्योंकि कारण के अभाव में कार्य अभिव्यक्त नहीं होता, यह निश्चित तथ्य हमारे सामने है। भौतिकवादी तो मस्तिष्क भी भौतिक है या और कुछ—इस समस्या में उलझे हुए हैं। वे कहते हैं "मन सिर्फ भौतिक तत्त्व नहीं है। ऐसा होने पर उसके विचित्र गुण—चेतन-क्रियाओं की व्याख्या नहीं हो सकती। मन (मस्तिष्क) में ऐसे नये गुण देखे जाते हैं, जो पहले भौतिक-तत्त्वों में मौजूद न थे, इसलिए भौतिक-तत्त्वों और मन को एक नहीं कहा जा सकता। साथ ही भौतिक-तत्त्वों से मन इतना दूर भी नहीं है कि उसे बिलकुल ही एक अलग तत्त्व माना जाए।"

इन पंक्तियों से यह समझा जाता है कि वैज्ञानिक जगत् मन के विषय में ही नहीं, किन्तु मन के साधनभूत मस्तिष्क के बारे में भी कितना संदिग्ध है। मस्तिष्क को अतीत के प्रतिबिम्बों का वाहक और स्मृति का साधन मानकर स्वतंत्र चेतना का लोप नहीं किया जा सकता। मस्तिष्क फोटो के नेगेटिव प्लेट की भांति वर्तमान चित्रों को खींच सकता है, सुरक्षित रख सकता है, इस कल्पना के आधार पर उसे स्मृति का साधन भले ही माना जाए, किन्तु इस स्थिति में वह भविष्य की कल्पना नहीं कर सकता। उसमें केवल घटनाएं अंकित हो सकती हैं, पर उसके पीछे छिपे हुए कारण स्वतन्त्र चेतनात्मक व्यक्ति का अस्तित्व मानें बिना नहीं जाने जा सकते। "यह क्यों? यह है तो ऐसा होना चाहिए, ऐसा नहीं होना चाहिए, यह नहीं हो सकता, यह वही है, इसका परिणाम यह होगा"—इत्यादि ज्ञान की क्रियाएं अपना स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध करती हैं। प्लेट की चित्रावली में नियमन होता है। प्रतिबिम्बित चित्र के अतिरिक्त उसमें और कुछ भी नहीं होता। यह नियम मानव-मन पर लागू नहीं होता। वह अतीत की धारणाओं के आधार पर बड़े-बड़े निष्कर्ष निकालता है, भविष्य का मार्ग निर्णीत करता है इसलिए इस दृष्टांत की भी मानस-क्रिया में संगति नहीं होती।

तर्कशास्त्र और विज्ञान-शास्त्र अंकित प्रतिबिम्बों के परिणाम नहीं हैं। अदृष्टपूर्व और अश्रुतपूर्व वैज्ञानिक आविष्कार स्वतंत्र मानस की तर्कणा के कार्य हैं, किसी दृष्ट-वस्तु के प्रतिबिम्ब नहीं। इसलिए हमें स्वतंत्र चेतना का अस्तित्व और उसका विकास मानना ही होगा। हम प्रत्यक्ष में आने वाली चेतना की विशिष्ट क्रियाओं की किसी भी तरह अवहेलना नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त भौतिकवादी वैज्ञानिक 'चेतन और अचेतन का सम्बन्ध कैसे हो सकता है?'—इस प्रश्न के द्वारा बर्गसां की आत्म-साधक युक्ति को व्यर्थ प्रमाणित करना चाहते हैं। बर्गसां के सिद्धान्त की अपूर्णता का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि बर्गसां

जैसे दार्शनिक चेतना को भौतिक तत्त्वों से अलग ही एक रहस्यमय वस्तु साबित करना चाहते हैं। ऐसा साबित करने में उनकी सबसे जबरदस्त युक्ति है 'स्मृति'। मस्तिष्क शरीर का अंग होने से एक क्षणिक परिवर्तनशील वस्तु है। वह स्मृति को भूत से वर्तमान में लाने का वाहन नहीं बन सकता। इसके लिए किसी अक्षणिक—स्थायी माध्यम की आवश्यकता है। इसे वह चेतना या आत्मा का नाम देते हैं। स्मृति को अतीत से वर्तमान और परे भी ले जाने की जरूरत है, लेकिन अमर चेतना का मरणधर्मा अचेतन से संबंध कैसे होता है—यह आसान समस्या नहीं है। चेतन और अचेतन इतने विरुद्ध द्रव्यों का एक-दूसरे के साथ घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करना तेल में पानी मिलाने जैसा है। इसलिए इस कठिनाई को दूर करने का तरीका ढूंढ़ा जा रहा है। इससे इतना साफ हो जाता है कि चेतना या स्मृति से ही हमारी समस्या हल नहीं हो सकती।

तज्जीवतच्छरीरवादी वर्ग ने आत्मवादी पाश्चात्य दार्शनिकों की जिस कठिनाई को सामने रखकर सुख की सांस ली है, उस कठिनाई को भारतीय दार्शनिकों ने पहले से ही साफ कर अपना पथ प्रशस्त कर लिया था। संसार-दशा में आत्मा और शरीर—ये दोनों सर्वथा भिन्न नहीं होते। गौतम स्वामी के प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने आत्मा और शरीर का भेदा-भेद बतलाया है—"आत्मा शरीर से भिन्न भी है और अभिन्न भी। शरीर-रूपी भी है और अरूपी भी तथा वह सचेतन भी है और अचेतन भी।" शरीर और आत्मा का क्षीर-नीरवत् अथवा अग्नि-लोह-पिण्डवत तादात्म्य होता है। यह आत्मा की संसारावस्था है। इसमें जीव और शरीर का कथंचित् (किसी एक अपेक्षा से) अभेद होता है। अतएव जीव के दस परिणाम होते हैं तथा इसमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि पौद्गलिक गुण भी मिलते हैं। शरीर से आत्मा का कथंचित्-भेद होता है। इसलिए उसको अवर्ण, अगंध, अरस और अस्पर्श कहा जाता है। आत्मा और शरीर का भेदाभेद-स्वरूप जानने के पश्चात् 'अमर चेतना का मरणधर्मा अचेतन से सम्बन्ध कैसे होता है?'—यह प्रश्न कोई मूल्य नहीं रखता। विश्ववर्ती चेतन सभी पदार्थ परिणामी नित्य हैं। एकान्तिक रूप से कोई भी पदार्थ मरणधर्मा या अमर नहीं। आत्मा स्वयं नित्य भी है और अनित्य भी, सहेतुक भी है और निर्हेतुक भी। कर्म के कारण आत्मा की भिन्न-भिन्न अवस्थाएं होती हैं, इसलिए वह अनित्य और सहेतुक है तथा उसके स्वरूप का कभी प्रच्यव (विनाश) नहीं होता, इसलिए वह नित्य और निर्हेतुक है। शरीरस्थ आत्मा ही भौतिक पदार्थों से सम्बद्ध होती है, स्वरूपस्थ होने के बाद वह विशुद्ध चेतनावान् और सर्वथा अमूर्त बनती है, फिर उसका कभी अचेतन पदार्थ से संबंध नहीं होता। बद्ध आत्मा स्थूल-शरीर-युक्त होने पर भी सूक्ष्म-शरीर-युक्त रहती है।

स्थूल शरीर में वह प्रवेश नहीं करती, किन्तु सूक्ष्म-शरीरवान् होने के कारण स्वयं उसका निर्माण करती है। अचेतन के साथ उसका अभूतपूर्व सम्बन्ध नहीं होता; किन्तु अनादिकालीन प्रवाह में शरीर-पर्यायात्मक एक कड़ी और जुड़ जाती है। उसमें कोई विरोध नहीं आता। संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्म से बंधा हुआ है। वह कभी भी अपने रूप में स्थित नहीं, अतएव अमूर्त होने पर भी उसका मूर्त कर्म (अचेतन-द्रव्य) के साथ सम्बन्ध होने में कोई आपत्ति नहीं होती।

आत्मा पर विज्ञान का प्रयोग

वैज्ञानिकों ने प्राकृतिक मूल तत्त्व की संख्या ९२ मानी है। इनके अलावा कृत्रिम विधियों से निर्मित तत्त्वों को मिलाकर यह संख्या लगभग १०६ तक चली जाती है। वे सब मूर्तिमान हैं। उन्होंने जितने प्रयोग किए हैं, वे सभी मूर्त द्रव्यों पर ही किए हैं। अमूर्त तत्त्व इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विषय नहीं बनता। उस पर प्रयोग भी नहीं किए जा सकते। आत्मा अमूर्त है, इसलिए आज वैज्ञानिक, भौतिक साधन-सम्पन्न होते हुए भी उसका पता नहीं लगा सके। किन्तु भौतिक साधनों से आत्मा का अस्तित्व नहीं जाना जाता, तो उसका नास्तित्व भी नहीं जाना जाता। शरीर पर किए गए विविध प्रयोगों से आत्मा की स्थिति स्पष्ट नहीं होती। रूस के जीव-विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् पावलोफ ने एक कुत्ते का दिमाग निकाल लिया। उससे वह शून्यवत् हो गया। उसकी चेष्टाएं स्तब्ध हो गईं। वह अपने मालिक तथा खाद्य तक को नहीं पहचान पाता था। फिर भी वह मरा नहीं। इन्जेक्शनों द्वारा उसे खाद्य तत्त्व दिया जाता रहा। इस प्रयोग पर उन्होंने यह बताया कि दिमाग ही चेतना है। उसके निकल जाने पर प्राणी में कुछ भी चैतन्य नहीं रहता।

इस पर हमें अधिक कहने की कोई आवश्यकता नहीं। यहाँ सिर्फ इतना समझना ही पर्याप्त होगा कि दिमाग चेतना का उत्पादक नहीं, किन्तु वह मानस-प्रवृत्तियों के उपयोग का साधन है। दिमाग निकाल लेने पर उसकी मानसिक चेष्टाएं रुक गईं, इसका अर्थ यह नहीं कि उसकी चेतना विलीन हो गई। यदि ऐसा होता तो वह जीवित नहीं रह पाता। खाद्य-स्वीकरण, रक्त-संचार, प्राणापान आदि चेतनावान् प्राणी में ही होता है। बहुत सारे ऐसे भी प्राणी हैं, जिनके मस्तिष्क होता ही नहीं। वह केवल 'मानस-प्रवृत्ति' वाले प्राणी के ही होता है। वनस्पति में भी आत्मा है। उनमें चेतना है; हर्ष, शोक, भय आदि प्रवृत्तियाँ हैं; पर उनके दिमाग नहीं होता। चेतना का सामान्य लक्षण स्वानुभव है। जिसमें स्वानुभूति होती है, सुख-दुःख का अनुभव करने की क्षमता होती है, वही आत्मा है। फिर चाहे वह अपनी अनुभूति व्यक्त कर सके या न कर सके, उसको व्यक्त

करने के साधन मिलें या न मिलें वाणी-विहीन प्राणी को प्रहार से कष्ट नहीं होता, यह मानना यौक्तिक नहीं। उसके पास बोलने का साधन नहीं, इसलिए अपना कष्ट कह नहीं सकता। फिर भी वह कष्ट का अनुभव कैसे नहीं करेगा? विकासशील प्राणी मूक होने पर भी अपनी अंग-संचालन-क्रिया से पीड़ा जता सकते हैं। जिनमें यह शक्ति भी नहीं होती, वे किसी भी तरह अपनी स्थिति को स्पष्ट नहीं कर सकते। इससे स्पष्ट है कि बोलना, अंग-संचालन होते दीखना, चेष्टाओं को व्यक्त् करना, ये आत्मा के व्यापक लक्षण नहीं हैं। ये केवल विशिष्ट शरीरधारी यानी त्रसजातिगत आत्माओं के होते हैं। स्थावर जातिगत आत्माओं में ये स्पष्ट लक्षण नहीं मिलते। इससे उनकी चेतनता और सुख-दुःखानुभूति का लोप थोड़े ही किया जा सकता है! स्थावर जीवों की कष्टानुभूति की चर्चा करते हुए शास्त्रों में लिखा है—"जन्मान्ध, जन्म-मूक, जन्म-बधिर एवं रोगग्रस्त पुरुष के शरीर का कोई युवा पुरुष तलवार एवं खड्ग से ३२ स्थानों का छेदन-भेदन करे, उस समय उसे जैसा कष्ट होता है, वैसा कष्ट पृथ्वी के जीवों को स्पर्श करने से होता है। तथापि सामग्री के अभाव में वे बता नहीं सकते।" मानव प्रत्यक्ष प्रमाण का आग्रही है, इसलिए वह इस परोक्ष तथ्य को स्वीकार करने से हिचकता है। जो कुछ भी हो, इस विषय पर हमें इतना-सा स्मरण कर लेना होगा कि आत्मा अरूपी चेतन सत्ता है। वह किसी प्रकार भी चर्म-चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकती।

आज से ढाई हजार वर्ष पहले कोशाम्बी-पति राजा प्रदेशी ने अपने जीवन के नास्तिक-काल में शारीरिक अवयवों के परीक्षण द्वारा आत्म-प्रत्यक्षीकरण के अनेक प्रयोग किए, किन्तु उसका वह समूचा प्रयास विफल रहा।

आज के वैज्ञानिक भी यदि वैसे ही असम्भव चेष्टाएं करते रहेंगे, तो कुछ भी तथ्य नहीं निकलेगा। इसके विपरीत यदि वे चेतना का आनुमानिक एवं स्व-संवेदनात्मक अन्वेषण करें, तो इस गुत्थी को अधिक सरलता से सुलझा सकते हैं।

चेतना का पूर्वरूप क्या है?

निर्जीव पदार्थ से सजीव पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती—इस तथ्य को स्वीकार करने वाले दार्शनिक चेतना तत्त्व को अनादि अनन्त मानते हैं। दूसरी श्रेणी उन दार्शनिकों की है जो निर्जीव से सजीव पदार्थ की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड की धारणा भी यही है कि जीवन का आरंभ निर्जीव पदार्थ से हुआ। वैज्ञानिक जगत् में भी इस विचार की दो धारणाएं हैं।

१. वैज्ञानिक लुई पाश्चर और टिंजल आदि निर्जीव से सजीव पदार्थ की उत्पत्ति स्वीकार नहीं करते।

२. रूसी नारी वैज्ञानिक लेपेसिनस्काया, अणु-वैज्ञानिक डॉ. डेराल्ड यूरे और उनके शिष्य स्टैनले मिलर आदि निष्प्राण सत्ता से सप्राण सत्ता की उत्पत्ति में विश्वास करते हैं।

चैतन्य को अचेतन की भांति अनुत्पन्न सत्ता या नैसर्गिक सत्ता स्वीकार करने वालों को 'चेतना का पूर्वरूप क्या है?'—यह प्रश्न उलझन में नहीं डालता।

दूसरी कोटि के लोग, जो अहेतुक या आकस्मिक चैतन्योत्पादवादी हैं, उन्हें यह प्रश्न झकझोर देता है। आदि-जीव किन अवस्थाओं में कब और कैसे उत्पन्न हुआ—यह रहस्य आज भी उनके लिए कल्पना-मात्र है।

लुई पाश्चर और टिंजल ने वैज्ञानिक परीक्षण के द्वारा यह प्रमाणित किया कि निर्जीव से सजीव पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकते। यह परीक्षण यों है—

".....एक कांच के गोले में उन्होंने कुछ विशुद्ध पदार्थ रख दिया और उसके बाद धीरे-धीरे उसके भीतर से समस्त हवा निकाल दी। वह गोला और उसके भीतर रखा हुआ पदार्थ ऐसा था कि उसके भीतर कोई भी सजीव प्राणी या उसका अण्डा या वैसी ही कोई चीज रह न जाए, यह पहले ही अत्यन्त सावधानी से देख लिया गया। इस अवस्था में रखे जाने पर देखा गया कि चाहे जितने दिन भी रखा जाए, उसके भीतर इस प्रकार की अवस्था में किसी प्रकार की जीव-सत्ता प्रकट नहीं होती। उसी पदार्थ को बाहर निकालकर रख देने पर कुछ दिनों में ही उसमें कीड़े, मकोड़े, क्षुद्राकार बीजाणु दिखाई देने लगते हैं। इससे यह सिद्ध हो गया कि बाहर की हवा में रहकर ही बीजाणु या प्राणी का अण्डा या छोटे-छोटे विशिष्ट जीव इस पदार्थ में जाकर उपस्थित होते हैं।"

स्टैनले मिलर ने डॉ. यूरे के अनुसार जीवन की उत्पत्ति के समय जो परिस्थितियाँ थीं, वे ही उत्पन्न कर दीं। एक सप्ताह के बाद उसने अपने रासायनिक मिश्रण की परीक्षा की। उसमें तीन प्रकार के प्रोटीन मिले, परंतु एक भी प्रोटीन जीवित नहीं मिला। मार्क्सवाद के अनुसार चेतना भौतिक सत्ता का गुणात्मक परिवर्तन है। पानी पानी है, परन्तु उसका तापमान थोड़ा बढ़ा दिया जाए, तो एक निश्चित बिन्दु पर पहुंचने के बाद वह भाप बन जाता है (ताप के जिस बिन्दु पर वह होता है, यह वायुमंडल के दबाव के साथ बदलता रहता है)। यदि उसका तापमान कम कर दिया जाए तो वह बर्फ बन जाता है। जैसे भाप और बर्फ का पूर्व-रूप पानी है, उसका भाप या बर्फ के रूप में परिणमन होने पर,

गुणात्मक परिवर्तन होने पर, वह पानी नहीं रहता। वैसे चेतना का पहले रूप क्या था जो मिटकर चेतना को पैदा कर सका? इसका कोई समाधान नहीं मिलता। "पानी को गर्म कीजिए तो बहुत समय तक वह पानी ही बना रहेगा। उसमें पानी के सभी साधारण गुण मौजूद रहेंगे, केवल उसकी गर्मी बढ़ती जाएगी। इसी प्रकार पानी को ठंडा कीजिए तो एक हद तक वह पानी ही बना रहता है, लेकिन उसकी गर्मी कम हो जाती है। परन्तु एक बिन्दु पर परिवर्तन का यह क्रम यकायक टूट जाता है। शीत या उष्ण (वैज्ञानिक शब्दावली में गलनांक और क्वथनांक) बिन्दु पर पहुंचते ही पानी के गुण एकदम बदल जाते हैं। पानी पानी नहीं रहता, बल्कि बर्फ या भाप बन जाता है।"

जैसे निश्चित बिन्दु पर पहुँचने पर पानी भाप या बर्फ बनता है, वैसे ही भौतिकता का कौन-सा निश्चित बिन्दु है जहाँ पहुँचकर भौतिकता चेतना के रूप में परिवर्तित होती है? मस्तिष्क के घटक तत्त्व हैं—हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, कार्बन, फास्फोरस आदि-आदि। इनमें से कोई एक तत्त्व चेतना का उत्पादक है या सबके मिश्रण से वह उत्पन्न होती है और कितने तत्त्वों की कितनी मात्रा बनने पर वह पैदा होती है?—इसका कोई ज्ञान अभी तक नहीं हुआ है। चेतना भौतिक तत्त्वों के मिश्रण से पैदा होती है या वह भौतिकता का गुणात्मक परिवर्तन है, यह तब तक वैज्ञानिक सिद्धांत नहीं बन सकता, जब तक भौतिकता के उस चरम-बिन्दु की, जहाँ पहुँचकर यह चेतना के रूप में परिवर्तित होता है, निश्चित जानकारी न मिले।

इन्द्रिय और मस्तिष्क आत्मा नहीं

आँख, कान आदि नष्ट होने पर भी उनके द्वारा विज्ञात विषय की स्मृति रहती है। इसका कारण यही है कि आत्मा देह और इन्द्रिय से भिन्न है। यदि ऐसा न होता तो इन्द्रिय के नष्ट होने पर उनके द्वारा किया हुआ ज्ञान भी चला जाता। इन्द्रिय के विकृत होने पर भी पूर्व-ज्ञान विकृत नहीं होता। इससे प्रमाणित होता है कि ज्ञान का अधिष्ठान इन्द्रिय से भिन्न है। वह आत्मा है। इस पर कहा जा सकता है कि इन्द्रिय बिगड़ जाने पर जो पूर्व-ज्ञान की स्मृति होती है, उसका कारण है मस्तिष्क, आत्मा नहीं। मस्तिष्क स्वस्थ होता है, तब तक स्मृति है। उसके बिगड़ जाने पर स्मृति नहीं होती। इसलिए "मस्तिष्क ही ज्ञान का अधिष्ठान है; उससे पृथक् आत्मा नामक तत्त्व को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं।" यह तर्क भी आत्मवादी के लिए नगण्य है। जैसे इन्द्रियाँ बाहरी वस्तुओं को जानने के साधन हैं, वैसे ही मस्तिष्क इन्द्रिय-ज्ञान विषयक चिंतन और स्मृति का साधन है। उसके विकृत होने पर यथार्थ स्मृति नहीं होती।

फिर भी पागल व्यक्ति में चेतना की क्रिया चालू रहती है, वह उससे भी परे की शक्ति की प्रेरणा है। साधनों की कमी होने पर आत्मा की ज्ञान-शक्ति विकल हो जाती है, नष्ट नहीं होती। मस्तिष्क विकृत हो जाने पर अथवा उसे निकाल देने पर भी खाना-पीना, चलना-फिरना, हिलना-डुलना, श्वास-उच्छ्वास लेना आदि-आदि प्राण-क्रियाएं होती रहती हैं। वे यह बताती हैं कि मस्तिष्क के अतिरिक्त जीवन की कोई दूसरी शक्ति है। उसी शक्ति के कारण शरीर के अनुभव और प्राण की क्रिया होती है। मस्तिष्क से चेतना का सम्बन्ध है। इसे आत्मवादी भी स्वीकार नहीं करते। 'तन्दुलवेयालिय' ग्रन्थ के अनुसार इस शरीर में १९० ऊर्ध्वगामिनी और रसहारिणी शिराएं हैं, जो नाभि से निकलकर ठेठ सिर तक पहुँचती हैं। वे स्वस्थ होती हैं, तब तक आँख, कान, नाक और जीभ का बल ठीक रहता है। भारतीय आयुर्वेद के मत में भी मस्तिष्क प्राण और इन्द्रिय का केन्द्र माना गया है। महर्षि चरक ने लिखा है कि—

"प्राणाः प्राणभृतां यत्र, तथा सर्वेन्द्रियाणि च।
यदुत्तमांगमंगानां, शिरस्तदभिधीयते॥"

मस्तिष्क चैतन्य-सहायक धमनियों का जाल है। इसलिए मस्तिष्क की अमुक शिरा काट देने से अमुक प्रकार की अनुभूति न हो, इससे यह फलित नहीं होता कि चेतना मस्तिष्क की उपज है।

कृत्रिम मस्तिष्क चेतन नहीं

कृत्रिम मस्तिष्क (computers or super-computer) जिनका बड़े गणित के लिए उपयोग होता है, चेतनायुक्त नहीं हैं। वे चेतना-प्रेरित कार्यकारी यन्त्र हैं। उनकी मानव-मस्तिष्क से तुलना नहीं की जा सकती है। वास्तव में ये मानव-मस्तिष्क की भांति सक्रिय और बुद्धि-युक्त नहीं होते। ये केवल शीघ्र और तेजी से काम करने वाले होते हैं। यह मानव-मस्तिष्क की सुषुम्ना और मस्तिष्क-स्थित श्वेत मज्जा के मोटे काम ही कर सकता है और इस अर्थ में यह मानव-मस्तिष्क का एक शतांश भी नहीं। मानव-मस्तिष्क चार भागों में बंटा हुआ है—

१. बृहन्-मस्तिष्क—जो संवेदना, विचार-शक्ति और स्मरण-शक्ति इत्यादि को प्रेरणा देता है।
२. लघु-मस्तिष्क।
३. सेतु।
४. सुषुम्ना।

यांत्रिक मस्तिष्क केवल सुषुम्ना के ही कार्यों को कर सकता है, जो मानव-मस्तिष्क का एक अंश है।

यांत्रिक मस्तिष्क का गणन-यंत्र मोटर में लगे मीटर की तरह होता है, जिसमें मोटर के चलने की दूरी मीलों में अंकित होती चलती है। इस गणनयन्त्र का कार्य, 'एक' और 'शून्य' अंक को जोड़ना अथवा एकत्र करना है। यदि गणन-यंत्र से इन अंकों को निकाला जाता है तो इससे घटाने की क्रिया होती है और जोड़-घटाव की दो क्रियाओं पर ही सारा गणित आधारित है।

आत्मा के प्रदेश और जीवकोश

आत्मा असंख्य-प्रदेशी है। एक, दो, तीन प्रदेश जीव नहीं होते। परिपूर्ण असंख्य प्रदेश के समुदाय का नाम जीव है। वह असंख्य जीवकोषों का पिण्ड नहीं है। वैज्ञानिक असंख्य जीवकोषों (cells) के द्वारा प्राणी-शरीर और चेतन का निर्माण होना बतलाते हैं। वे शरीर तक सीमित हैं। शरीर अस्थाई है—एक पौद्गलिक अवस्था है। उसका निर्माण होता है और वह रूपी है; इसलिए अंगोपांग देखे जा सकते हैं। उनका विश्लेषण किया जा सकता है। आत्मा स्थायी और अभौतिक द्रव्य है। वह उत्पन्न नहीं होता और वह अरूपी है, किसी प्रकार भी इन्द्रिय-शक्ति से देखा नहीं जाता। अतएव जीव-कोषों के द्वारा आत्मा की उत्पत्ति बतलाना भूल है। प्रदेश भी आत्मा के घटक नहीं हैं। वे स्वयं आत्मरूप हैं। आत्मा का परिमाण जानने के लिए उसमें उनका आरोप किया गया है। यदि ने वास्तविक अवयव होते तो उनमें संगठन, विघटन या न्यूनाधिक्य हुए बिना नहीं रहता। वास्तविक प्रदेश केवल पौद्गलिक स्कंधों में मिलते हैं। अतएव उनमें संघात या भेद होता रहता है। आत्मा अखण्ड द्रव्य है। उसमें संघात-विघात कभी नहीं होते और न उसके एक-दो-तीन आदि प्रदेश जीव कहे जाते हैं। आत्मा कृत्स्न, परिपूर्ण लोकाकाश तुल्य प्रदेश परिमाण वाली है। एक तन्तु भी पट का उपकारी होता है। उसके बिना पट पूरा नहीं बनता। परन्तु एक तन्तु पट नहीं कहा जाता। एक रूप में समुदित तन्तुओं का नाम पट है। वैसे ही जीव का एक प्रदेश जीव नहीं कहा जाता। असंख्य चेतन प्रदेशों का एक पिण्ड है, उसी का नाम जीव है।

अस्तित्व-सिद्धि के दो प्रकार

प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व दो प्रकार से सिद्ध होता है—साधक प्रमाण से और बाधक प्रमाण के अभाव से। जैसे साधक प्रमाण अपनी सत्ता के माध्यम का अस्तित्व सिद्ध करता है, ठीक उसी प्रकार बाधक प्रमाण न मिलने से भी उसका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। आत्मा को सिद्ध करने के लिए साधक प्रमाण अनेक

मिलते हैं, किन्तु बाधक प्रमाण एक भी ऐसा नहीं मिलता, जो आत्मा का निषेधक हो। इससे जाना जाता है कि आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है। हाँ, यह निश्चित है कि इन्द्रियों के द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता। फिर भी आत्मा के अस्तित्व में यह बाधक नहीं, क्योंकि बाधक वह बन सकता है, जो उस विषय को जानने में समर्थ हो और अन्य पूरी सामग्री होने पर भी उसे न जान सके। जैसे—आंख घट, पट आदि को देख सकती है, पर जिस समय उचित सामीप्य एवं प्रकाश आदि सामग्री होने पर भी वह उनको न देख सके, तब वह उस विषय की बाधक मानी जा सकती है। इन्द्रियों की ग्रहण-शक्ति परिमित है। वे सिर्फ पार्श्ववर्ती और स्थूल पौद्गलिक पदार्थों को ही जान सकती है। आत्मा अपौद्गलिक (अभौतिक) पदार्थ है। इसलिए इन्द्रियों द्वरा आत्मा को न जान सकना नहीं कहा जा सकता। यदि हम बाधक प्रमाण का अभाव होने से किसी पदार्थ का सद्भाव मानें, तब तो फिर पदार्थ-कल्पना की बाढ़-सी आ जाएगी। उसका क्या उपाय होगा? ठीक है, यह संदेह हो सकता है, किन्तु बाधक प्रमाण का अभाव साधक प्रमाण के द्वारा पदार्थ का सद्भाव स्थापित कर देने पर ही कार्यकर होता है।

आत्मा के साधक प्रमाण मिलते हैं, इसलिए उसकी स्थापना की जाती है। उस पर भी यदि संदेह किया जाता है, तब आत्मवादियों को वह हेतु भी अनात्मवादियों के सामने रखना जरूरी हो जाता है कि आप यह तो बतलाएं कि 'आत्मा नहीं है' इसका प्रमाण क्या है? 'आत्मा है' इसका प्रमाण चैतन्य की उपलब्धि है। चेतना हमारे प्रत्यक्ष है। उसके द्वारा अप्रत्यक्ष आत्मा का भी सद्भाव सिद्ध होता है। जैसे—धूम्र को देखकर मनुष्य अग्नि का ज्ञान कर लेता है, आतप को देखकर सूर्योदय का ज्ञान कर लेता है—इसका कारण यही है कि धुआं अग्नि का, आतप सूर्योदय का अविनाभावी है—उसके बिना वे निश्चितरूपेण नहीं होते। चेतना भूत-समुदाय का कार्य या भूत-धर्म है, यह नहीं माना जा सकता, क्योंकि भूत जड़ है। भूत और चेतना में अत्यंताभाव—त्रिकालवर्ती विरोध होता है। चेतन कभी अचेतन और अचेतन कभी चेतन नहीं बन सकता। लोक-स्थिति का निरूपण करते हुए भगवान् महावीर ने कहा है—जीव अजीव हो जाए और अजीव जीव हो जाए, ऐसा न कभी हुआ, न होता है और न कभी होगा। इसलिए हमें आत्मा की जड़ वस्तु से भिन्न सत्ता स्वीकार करनी होती है। यद्यपि कई विचारक आत्मा को जड़ पदार्थ का विकसित रूप मानते हैं, किन्तु यह संगत नहीं। विकास अपने धर्म (स्वभाव) के अनुकूल ही होता है और हो सकता है। चैतन्यहीन जड़ पदार्थ से चेतनावान् आत्मा का उपजना विकास नहीं कहा जा सकता। यह तो सर्वथा असत् कार्यवाद है।

इसलिए जड़त्व और चेतनत्व—इन दो विरोधी महाशक्तियों को एक मूल तत्त्वगत न मानना ही युक्तिसंगत है।

स्वतन्त्र सत्ता का हेतु

द्रव्य का स्वतन्त्र अस्तिव उसके विशेष गुण द्वारा सिद्ध होता है। अन्य द्रव्यों में न मिलने वाला गुण जिसमें मिले, वह स्वतन्त्र द्रव्य होता है। सामान्य गुण जो कोई द्रव्यों में मिले, उनसे पृथक् द्रव्य की स्थापना नहीं होती। चैतन्य आत्मा का विशिष्ट गुण है। वह उसके सिवाय और कहीं नहीं मिलता। अतएव आत्मा स्वतंत्र द्रव्य है और उसमें पदार्थ के व्यापक लक्षण—अर्थ-क्रियाकारित्व और सत्—दोनों घटित होते हैं। पदार्थ वही है, जो प्रतिक्षण अपनी क्रिया करता रहे। अथवा पदार्थ वही है जो सत् हो यानी पूर्व-पूर्ववर्ती अवस्थाओं को त्यागता हुआ, उत्तर-उत्तरवर्ती अवस्थाओं को प्राप्त करता हुआ भी अपने स्वरूप को न त्यागे। आत्मा में जानने की क्रिया निरंतर होती रहती है। ज्ञान का प्रवाह एक क्षण के लिए भी नहीं रुकता और वह (आत्मा) उत्पाद, व्यय के स्रोत में बहती हुई भी ध्रुव है। बाल्य, यौवन, जरा आदि अवस्थाओं एवं मनुष्य, पशु आदि शरीरों का परिवर्तन होने पर भी उसका चैतन्य अक्षुण्ण रहता है। 'आत्मा के रूप, आकार एवं वजन नहीं, फिर वह द्रव्य ही क्या?' यह निराधार शंका है। क्योंकि वे सब पुद्गल द्रव्य के अवान्तर-लक्षण हैं। सब पदार्थों में उनका होना आवश्यक नहीं होता।

पुनर्जन्म

मृत्यु के पश्चात् क्या होगा? क्या हमारा अस्तित्व स्थायी है या वह मिट जाएगा? इस प्रश्न पर अनात्मवादी का उत्तर यह है कि 'वर्तमान जीवन समाप्त होने पर कुछ भी नहीं है। पाँच भूतों से प्राण बनता है। उनके अभाव में प्राण-नाश हो जाता है—मृत्यु हो जाती है। फिर कुछ भी बचा नहीं रहता।' आत्मवादी आत्मा को शाश्वत मानते हैं। इसलिए उन्होंने पुनर्जन्म के सिद्धान्त की स्थापना की। कर्म-लिप्त आत्मा का जन्म के पश्चात् मृत्यु और मृत्यु के पश्चात् जन्म होना निश्चित है। संक्षेप में यही पुनर्जन्मवाद का सिद्धान्त है।

जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म की परम्परा चलती है—यह विश्व की स्थिति है। जीव अपने ही प्रमाद से भिन्न-भिन्न जन्मान्तर करते हैं। इसी के अनुसार जीव नए जन्म-स्थान में जा उत्पन्न होते हैं।

राग-द्वेष कर्म-बन्ध के और कर्म जन्म-मृत्यु की परम्परा के कारण हैं। इस विषय में सभी क्रियावादी एकमत हैं। भगवान् महावीर के शब्दों में—क्रोध, मान, माया और लोभ—ये पुनर्जन्म के मूल को पोषण देने वाले हैं। गीता कहती है—जैसे फटे हुए कपड़े को छोड़कर मनुष्य नया कपड़ा पहनता है, वैसे ही पुराने शरीर को छोड़कर प्राणी मृत्यु के बाद नये शरीर को धारण करते हैं। यह आवर्तन प्रवृत्ति से होता है। महात्मा बुद्ध ने अपने पैर में चुभने वाले कांटे को पूर्वजन्म में किये हुए प्राणी-वध का विपाक बताया।

नव-शिशु के हर्ष, भय, शोक आदि होते हैं। उसका कारण पूर्वजन्म के संस्कार हैं। जिस प्रकार युवक का शरीर बालक-शरीर की उत्तरवर्ती अवस्था है, वैसे ही बालक का शरीर पूर्वजन्म के बाद में होने वाली अवस्था है। यह देह-प्राप्ति की अवस्था है। इसका जो अधिकारी है, वह आत्मा—देही है।

वर्तमान के सुख-दुःख अन्य सुख-दुःखपूर्वक होते हैं। सुख-दुःख का अनुभव वही कर सकता है, जो पहले उनका अनुभव कर चुका है। नव शिशु को जो सुख-दुःख का अनुभव होता है, वह भी पूर्व अनुभव-युक्त है। जीवन का मोह और मृत्यु का भय पूर्वबद्ध संस्कारों का परिणाम है। यदि पूर्वजन्म में इनका अनुभव न हुआ होता तो नवोत्पन्न प्राणियों में ऐसी वृत्तियाँ नहीं मिलती। इस प्रकार भारतीय आत्मवादियों ने विविध युक्तियों से पूर्वजन्म का समर्थन किया है। पाश्चात्य दार्शनिक भी इस विषय में मौन नहीं हैं।

दार्शनिक प्लेटो ने कहा है कि—"आत्मा सदा अपने लिए नये-नये वस्त्र बुनती है तथा आत्मा में एक ऐसी नैसर्गिक शक्ति है, जो ध्रुव रहेगी और अनेक बार जन्म लेगी।"

दार्शनिक शोपनहार के शब्दों में पुनर्जन्म असंदिग्ध तत्त्व है। जैसे—"मैंने यह भी निवेदन किया कि जो कोई पुनर्जन्म के बारे में पहले-पहल सुनता है, उसे भी वह स्पष्ट-रूपेण प्रतीत हो जाता है।"

पुनर्जन्म की अवहेलना करने वाले व्यक्तियों की प्रायः दो प्रधान शंकाएं सामने आती हैं—

१. यदि हमारा पूर्वभव होता, तो हमें उसकी कुछ-न-कुछ स्मृतियाँ होतीं।

२. यदि दूसरा जन्म होता, तो आत्मा की गति एवं आगति हम क्यों नहीं देख पाते?

पहली शंका का हम बाल्य-जीवन से ही समाधान कर सकते हैं। बचपन की घटनावलियाँ हमें स्मरण नहीं आतीं, तो क्या इसका अर्थ यह होगा कि हमारी शैशव-अवस्था हुई नहीं थी? एक-दो वर्ष के नव-शैशव की घटनाएं स्मरण नहीं

होतीं, तो भी अपने बचपन में किसी को संदेह नहीं होता। वर्तमान जीवन की यह बात है, तब फिर पूर्वजन्म को हम इस युक्ति से कैसे हवा में उड़ा सकते हैं? पूर्वजन्म की भी स्मृति हो सकती है, यदि उतनी शक्ति जाग्रत हो जाए। जिसे 'जाति-स्मृति ज्ञान' (पूर्वजन्म-स्मरण) हो जाता है, वह अनेक जन्मों की घटनाओं का साक्षात्कार कर सकता है।

परमनोविज्ञान (Parapsychology) के क्षेत्र में ईयान स्टीवनसन आदि शोध-विद्वानों ने सैकड़ों बालकों के जाति-स्मृति-ज्ञान का परीक्षण किया है और ऐसे सबूत एकत्रित किए हैं, जो पुनर्जन्म की अवधारणा को पुष्ट करते हैं। इसके लिए ईयान स्टीवनसन की पुस्तक "Twenty Cases Suggestive of Reincarnation" द्रष्टव्य है।

दूसरी शंका एक प्रकार से नहीं के समान है। आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता। उसके दो कारण हैं—

१. वह अमूर्त है, दृष्टिगोचर नहीं होता।

२. वह सूक्ष्म है, इसलिए शरीर में प्रवेश करता हुआ या निकलता हुआ उपलब्ध नहीं होता।

नहीं दीखने मात्र से किसी वस्तु का अभाव नहीं होता। सूर्य के प्रकाश में नक्षत्र-गण नहीं [illegible] जाते। इससे इनका अभाव थोड़े ही माना जा सकता है? अन्धकार में कुछ नहीं दीखता, क्या यह मान लिया जाए कि यहाँ कुछ भी नहीं है? ज्ञान-शक्ति की एकदेशीयता से किसी भी सत्-पदार्थ का अस्तित्व स्वीकार न करना उचित नहीं होता।

अब हमें पुनर्जन्म की सामान्य स्थिति पर भी कुछ दृष्टिपात कर लेना चाहिए। दुनिया में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है, जो अत्यन्त असत् से सत् बन जाए—जिनका कोई भी अस्तित्व नहीं, वह अपना अस्तित्व बना ले। अभाव से भाव एवं भाव से अभाव नहीं होता, तब फिर जन्म और मृत्यु, नाश और उत्पाद, यह क्या है? परिवर्तन। प्रत्येक पदार्थ में परिवर्तन होता है। परिवर्तन से पदार्थ एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में चला जाता है, किन्तु न तो वह सर्वथा नष्ट होता है और न सर्वथा उत्पन्न भी। दूसरे-दूसरे पदार्थों में भी परिवर्तन होता है, वह हमारे सामने है। प्राणियों में भी परिवर्तन होता है। वे जन्मते हैं, मरते हैं। जन्म का अर्थ अत्यंत नयी वस्तु की उत्पत्ति नहीं और मृत्यु से जीव का अत्यंत उच्छेद नहीं होता। केवल वैसा ही परिवर्तन है, जैसे यात्री एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर चले जाते हैं। यह एक ध्रुव सत्य है कि सत्ता से असत्ता एवं असत्ता से सत्ता कभी नहीं होती। परिवर्तन को जोड़ने वाली कड़ी आत्मा है।

वह अन्वयी है। पूर्वजन्म और उत्तर-जन्म दोनों उसकी अवस्थाएं हैं। वह दोनों में एकरूप रहती है। अतएव अतीत और भविष्य की घटनावलियों की श्रृंखला जुड़ती है। शरीर-शास्त्र के अनुसार सात वर्ष के बाद शरीर के पूर्व परमाणु च्युत हो जाते हैं, सब अवयव नये बन जाते हैं। इस सर्वांगीण परिवर्तन में आत्मा का लोप नहीं होता। तब फिर मृत्यु के बाद उसका अस्तित्व कैसे मिट जाएगा?

अन्तर-काल

प्राणी मरता है और जन्मता है, एक शरीर को छोड़ता है और दूसरा शरीर बनाता है। मृत्यु और जन्म के बीच का समय अन्तर-काल कहा जाता है। उसका परिमाण एक, दो, तीन या चार 'समय' तक का है। अन्तर-काल में स्थूल शरीर-रहित आत्मा की गति होती है। उसका नाम 'अन्तराल-गति' है। वह दो प्रकार की होती है—ऋजु और वक्र। मृत्यु-स्थान से जन्म-स्थान सरल रेखा में होता है, वहाँ आत्मा की गति ऋजु होती है और वह विषम रेखा में होता है, वहाँ गति वक्र होती है। ऋजु गति में सिर्फ एक समय लगता है। उसमें आत्मा को नया प्रयत्न नहीं करना पड़ता। क्योंकि जब वह पूर्व-शरीर छोड़ता है, तब उसे पूर्व-शरीर-जन्य वेग मिलता है और वह धनुष से छूटे हुए बाण की तरह सीधे ही नये जन्म-स्थान में पहुँच जाता है। वक्र-गति में घुमाव करने पड़ते है। उनके लिए दूसरे प्रयत्नों की आवश्कयता होती है। घूमने का स्थान आते ही पूर्व-देह-जनित वेग मंद पड़ जाता है और सूक्ष्म शरीर (कार्मण शरीर) द्वारा जीव नया प्रयत्न करता है। इसलिए उसमें समय-संख्या बढ़ जाती है। एक घुमाव वाली वक्रगति में दो समय, दो घुमाव वाली में तीन समय और तीन घुमाव वाली में चार समय लगते हैं।

आत्मा स्थूल शरीर के अभाव में भी सूक्ष्म शरीर द्वारा गति करती है और मृत्यु के बाद वह दूसरे स्थूल शरीर में प्रवेश नहीं करती, किन्तु स्वयं उसका निर्माण करती है तथा संसार-अवस्था में वह सूक्ष्म-शरीर-मुक्त कभी नहीं होती। अतएव पुनर्जन्म की प्रक्रिया में कोई बाधा नहीं आती।

आत्मा में ज्ञानेन्द्रिय की शक्ति अन्तरालगति में भी होती है। त्वचा, नेत्र आदि सहायक इन्द्रियाँ नहीं होतीं। उसे स्व-संवेदन का अनुभव होता है। किन्तु सहायक इन्द्रियों के अभाव में इन्द्रिय-शक्ति का उपयोग नहीं होता। सहायक इन्द्रियों का निर्माण स्थूल-शरीर-रचना के समय इन्द्रिय-ज्ञान की शक्ति के अनुपात पर होता है। एक इन्द्रिय की योग्यता वाले प्राणी की शरीर-रचना में त्वचा के

सिवाय और इन्द्रियों की आकृतियाँ नहीं बनतीं। द्वीन्द्रिय आदि जातियों में क्रमशः रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र की रचना होती है। दोनों प्रकार की इन्द्रियों के सहयोग से प्राणी इन्द्रिय-ज्ञान का उपयोग करते हैं।

स्व-नियमन

जीव स्वयं-चालित है। स्वयं-चालित का अर्थ पर-सहयोग-निरपेक्ष नहीं, किन्तु संचालक-निरपेक्ष है। जीव अपने ही पुरुषार्थ यानी उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषाकार, पराक्रम से अपना संचालक होता है। उत्थान आदि शरीर से उत्पन्न हैं। शरीर जीव द्वारा निष्पन्न है। क्रम इस प्रकार बनता है—जीव से शरीर, शरीर से वीर्य, वीर्य से योग (मन, वाणी और कर्म) उत्पन्न होते हैं।

वीर्य दो प्रकार का होता है—लब्धि-वीर्य और करण-वीर्य। लब्धि-वीर्य सत्तात्मक शक्ति (potential energy) है। उसकी दृष्टि से सब जीव सवीर्य होते हैं। करण-वीर्य क्रियात्मक शक्ति (kinetic energy) है। यह जीव और शरीर दोनों के सहयोग से उत्पन्न होती है।

जीव में सक्रियता होती है, इसलिए वह पौद्गलिक कर्म का संग्रह या स्वीकरण करता है। वह पौद्गलिक कर्म का संग्रहण करता है, इसलिए उससे प्रभावित होता है।

कर्तृत्व और फल-भोक्तृत्व एक ही श्रृंखला के दो सिरे हैं। कर्तृत्व स्वयं का और फल-भोक्तृत्व के लिए दूसरी सत्ता का नियमन—ऐसी स्थिति नहीं बनती।

फल-प्राप्ति इच्छा-नियन्त्रित नहीं, किन्तु क्रिया-नियंत्रित है। हिंसा, असत्य आदि क्रिया के द्वारा जीव कर्म-पुद्गलों का जो संग्रह हुआ होता है, वह पकते ही अपनी क्रिया प्रारम्भ कर देता है। पहले जीवन यानी वर्तमान आयुष्य के कर्म-परमाणुओं की क्रिया समाप्त होते ही अगले आयुष्य के कर्म-पुद्गल अपनी क्रिया प्रारम्भ कर देते हैं। दो आयुष्य के कर्म-पुद्गल जीव को एक साथ प्रभावित नहीं करते। वे पुद्गल जिस स्थान के उपयुक्त बने हुए होते हैं, उसी स्थान पर जीव को नोदन (propel) कर ले जाते हैं। उन पुद्गलों की गति उनकी रासायनिक क्रिया (रस-बन्ध या अनुभाव-बन्ध) के अनुरूप होती है। जीव उनसे बद्ध होता है, इसलिए उसे भी वहीं जाना पड़ता है। इस प्रकार एक जन्म से दूसरे जन्म में गति और आगति स्व-नियमन से ही होती है।

अभ्यास

१. विभिन्न भारतीय दर्शनों में 'आत्मा' के विषय में क्या अवधारणाएं रही हैं? उनकी परस्पर तुलना करें।
२. भारतीय आस्तिक दर्शनों में आत्मा को सिद्ध करने के लिए क्या-क्या प्रमाण दिए गए हैं?
३. जैन दर्शन में प्रतिपादित आत्मा के स्वरूप को विस्तार से समझाइए।
४. शरीर और आत्मा के सम्बन्ध को समझाने वाले वादों को स्पष्ट करें।
५. मृत्यु के पश्चात् जीव कहाँ और कैसे जाता है? जैन दर्शन ने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया है, इसे समझाइए।
६. आत्मा के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों के द्वारा प्रस्तुत सिद्धांत और प्रयोग की समीक्षा करें।

□□□

८

मैं हूँ अपने भाग्य का निर्माता

जगत्वैचित्र्य का हेतु

भारत के सभी आस्तिक दर्शनों ने जीव जगत् की विभक्ति या विचित्रता को स्वीकार किया है। उसे सहेतुक माना है। उस हेतु को वेदान्ती 'अविद्या', बौद्ध 'वासना', सांख्य 'क्लेश' और न्याय-वैशेषिक 'अदृष्ट' तथा जैन 'कर्म' कहते हैं। कई दर्शन कर्म का सामान्य निर्देश-मात्र करते हैं और कई उसके विभिन्न पहलुओं पर विचार करते-करते बहुत आगे बढ़ जाते हैं। न्याय-दर्शन के अनुसार अदृष्ट आत्मा का गुण है। अच्छे-बुरे कर्मों का आत्मा पर संस्कार पड़ता है, वह अदृष्ट है। जब तक उसका फल नहीं मिल जाता, तब तक वह आत्मा के साथ रहता है, उसका फल ईश्वर के माध्यम से मिलता है। कारण कि यदि ईश्वर कर्म-फल की व्यवस्था न करे, तो कर्म निष्फल हो जाएं। सांख्य कर्म को प्रकृति का विकार मानता है। अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों का प्रकृति पर संस्कार पड़ता है। उस प्रकृतिगत-संस्कार से ही कर्मों के फल मिलते हैं। बौद्धों ने चित्तगत वासना को कर्म माना है। यही कार्य कारण-भाव के रूप में सुख-दुःख का हेतु बनता है।

जैन-दर्शन कर्म को स्वतन्त्र तत्त्व मानता है। कर्म अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध हैं। वे समूचे लोक में जीवात्मा की अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों के द्वारा उसके साथ बंध जाते है, यह उनकी बध्यमान (बंध)अवस्था है। बंधने के बाद वे तुरन्त फल न देकर पकते हैं यानी उनका परिपाक होता है, यह सत् (सत्ता) अवस्था है। परिपाक के बाद उनसे सुख-दुःख रूप तथा आवरण रूप फल मिलता है, वह उदयमान (उदय) अवस्था है। अन्य दर्शनों में कर्मों की क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध—ये तीन अवस्थाएं बताई गई हैं। वे ठीक क्रमशः बन्ध, सत् और उदय की समानार्थक हैं।

क्या कर्म का फल शीघ्र मिल सकता है? क्या कर्म की अवधि (कालमान) या तीव्रातीव्रता में कमी-बेशी की जा सकती है? क्या कर्मों का रूपान्तरण किया जा सकता है? बन्ध के कारण क्या हैं? बंधे हुए कर्मों का फल निश्चित होता है या अनिश्चित? कर्म जिस रूप में बंधते हैं, उस रूप में उनका फल मिलता है

या अन्यथा? धर्म करने वाला दुःखी और अधर्म करने वाला सुखी कैसे? आदि-आदि विषयों पर जैन ग्रन्थकारों ने विस्तृत विवेचन किया है।

आत्मा का आंतरिक वातावरण

आत्मा की आंतरिक योग्यता की न्यूनाधिकता का कारण कर्म है। कर्म के संयोग से वह (आंतरिक योग्यता) आवृत होती है या विकृत होती है। कर्म के विलय (संयोग) से उसका स्वभावोदय होता है। बाहरी स्थिति आंतरिक स्थिति को उत्तेजित कर आत्मा पर प्रभाव डाल सकती है, पर सीधा प्रभाव नहीं डाल सकती। शुद्ध या कर्म-मुक्त आत्मा पर बाहरी परिस्थिति का कोई भी असर नहीं होता। अशुद्ध या कर्म-बद्ध आत्मा पर ही उसका प्रभाव होता है, वह भी अशुद्धि की मात्रा के अनुपात से। शुद्धि की मात्रा बढ़ती है, बाहरी वातावरण का असर कम होता है। शुद्धि की मात्रा कम होती है, बाहरी वातावरण छा जाता है। परिस्थिति ही प्रधान होती, तो शुद्ध और अशुद्ध पदार्थ पर समान असर होता, किन्तु ऐसा नहीं होता है। परिस्थिति उत्तेजक है, कारक नहीं।

विजातीय सम्बन्ध विचारणा की दृष्टि से आत्मा के साथ सर्वाधिक घनिष्ठ सम्बन्ध कर्म-पुद्गलों का है। समीपवर्ती का जो प्रभाव पड़ता है, वह दूरवर्ती का नहीं पड़ता। परिस्थिति दूरवर्ती घटना है। वह कर्म की उपेक्षा कर आत्मा को प्रभावित नहीं कर सकती। उसकी पहुँच कर्म-संघटना तक ही है। उससे कर्म-संघटना प्रभावित होती है, फिर उससे आत्मा। जो परिस्थिति कर्म-संस्थान को प्रभावित न कर सके, उसका आत्मा पर कोई असर नहीं होता।

बाहरी परिस्थिति सामूहिक होती है। कर्म को वैयक्तिक परिस्थिति कहा जा सकता है। यही कर्म की सत्ता का स्वयंभू-प्रमाण है।

परिस्थिति

काल (time), क्षेत्र (space), स्वभाव (nature), पुरुषार्थ (effort), नियति (universal law) और कर्म की सह-स्थिति का नाम ही परिस्थिति है।

काल, क्षेत्र, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति और कर्म से ही सब कुछ होता है, यह एकांगी दृष्टिकोण मिथ्या है।

काल, क्षेत्र, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति और कर्म से भी कुछ होता है, यह सापेक्ष दृष्टिकोण सत्य है।

वर्तमान के जन-मानस में काल-मर्यादा, क्षेत्र-मर्यादा, स्वभाव-मर्यादा, पुरुषार्थ-मर्यादा और नियति-मर्यादा का जैसा स्पष्ट विवेक या अनेकान्त-दर्शन है,

वैसा कर्म-मर्यादा का नहीं रहा है। जो कुछ होता है, वह कर्म से ही होता है—ऐसा घोष साधारण हो गया है। यह एकांतवाद सच नहीं है। आत्म-गुण का विकास कर्म से नहीं होता, कर्म के विलय (आत्मा के कर्म के दूर होने) से होता है। परिस्थितिवाद के एकांत आग्रह के प्रति जैन-दृष्टि यह है—रोग देश-काल की स्थिति से ही पैदा नहीं होता, किन्तु देश-काल की स्थिति से कर्म-उत्तेजना (उदीरणा) होती है और उत्तेजित कर्म-पुद्गल रोग पैदा करते हैं। इस प्रकार जितनी भी बाहरी परिस्थितियाँ हैं, वे सब कर्म-पुद्गलों में उत्तेजना लाती हैं। उत्तेजित कर्म-पुद्गल आत्मा में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन लाते हैं। परिवर्तन पदार्थ का स्वभाव-सिद्ध धर्म है। वह संयोग-कृत होता है, तब विभाव रूप होता है और यदि दूसरे के संयोग से नहीं होता, तब उसकी परिणति स्वाभाविक हो जाती है।

कर्म की पौद्गलिकता

अन्य दर्शन कर्म को जहाँ संस्कार या वासनारूप मानते हैं, वहाँ जैन दर्शन उसे पौद्गलिक मानता है। 'जिस वस्तु का जो गुण होता है, वह उसका विघातक नहीं बनता।' आत्मा का गुण उसके लिए आवरण, पारतन्त्रय और दुःख का हेतु कैसे बने?

कर्म जीवात्मा के आवरण, पारतन्त्रय और दुःखों का हेतु है, गुणों का विघातक है। इसलिए वह आत्मा का गुण नहीं हो सकता।

बेड़ी से मनुष्य बंधता है। सुरापान से पागल बनता है। क्लोरोफार्म से बेभान बनता है। ये सब पौद्गलिक वस्तुएं हैं। ठीक उसी प्रकार कर्म के संयोग से भी आत्मा की ये दशाएं बनती हैं, इसीलिए वह भी पौद्गलिक है। ये बेड़ी आदि बाहरी बंधन अल्प सामर्थ्य वाली वस्तुएं हैं। कर्म आत्मा के साथ चिपके हुए तथा अधिक सामर्थ्य वाले सूक्ष्म पुद्गल हैं। इसलिए बाहरी बेड़ी आदि बंधनों की तुलना में कर्म-परमाणुओं का जीवात्मा पर गहरा और आंतरिक प्रभाव पड़ता है।

शरीर पौद्गलिक है, उसका कारण कर्म है। इसलिए वह भी पौद्गलिक है। पौद्गलिक कार्य का समवायी कारण पौद्गलिक होता है। मिट्टी भौतिक है, तो उससे बनने वाला पदार्थ भौतिक ही होगा।

आहार आदि अनुकूल सामग्री से सुखानुभूति और शस्त्र-प्रहार आदि से दुःखानुभूति होती है। आहार और शस्त्र पौद्गलिक हैं, इसी प्रकार सुख-दुःख के हेतुभूत कर्म भी पौद्गलिक हैं।

बन्ध की अपेक्षा से जीव और पुद्गल अभिन्न हैं—एकमेक हैं। लक्षण की दृष्टि से वे भिन्न हैं। जीव चेतन है और पुद्गल अचेतन, जीव अमूर्त और पुद्गल मूर्त।

इन्द्रिय के विषय स्पर्श आदि मूर्त हैं। उनको भोगने वाली इन्द्रियाँ मूर्त हैं। उनसे होने वाला सुख-दुःख मूर्त है। इसलिए उनके कारण-भूत कर्म भी मूर्त हैं। मूर्त ही मूर्त को स्पर्श करता है। मूर्त ही मूर्त से बंधता है।

गीता, उपनिषद् आदि में अच्छे-बुरे कार्यों को जैसे कर्म कहा है, वैसे जैन-दर्शन में कर्म शब्द क्रिया का वाचक नहीं है। उसके अनुसार वह (कर्म-शब्द) आत्मा पर लगे हुए सूक्ष्म पौद्गलिक पदार्थ का वाचक है। आत्मा की प्रत्येक सूक्ष्म और स्थूल मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति के द्वारा उसका आकर्षण होता है। इसके बाद स्वीकरण (आत्मीकरण या जीव और कर्म-परमाणुओं का एकीभाव) होता है। कर्म के हेतुओं को भाव-कर्म या 'मल' और कर्म-पुद्गलों को द्रव्य-कर्म या 'रज' कहा जाता है। इनमें निमित्त-नैमिकत्तिक भाव है। भाव-कर्म से द्रव्य-कर्म का संग्रह और द्रव्य-कर्म के उदय से भाव-कर्म तीव्र होता है

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध

आत्मा अमूर्त है, तब उसका मूर्त कर्म से सम्बन्ध कैसे हो सकता है? यह भी कोई जटिल समस्या नहीं है। प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों ने संसार और जीवात्मा को अनादि माना है। वह अनादिकाल से ही कर्मबद्ध और विकारी है। कर्मबद्ध आत्माएं कथंचित् (किसी एक अपेक्षा से) मूर्त हैं अर्थात् निश्चय दृष्टि के अनुसार स्वरूपतः अमूर्त होते हुए भी वे संसार-दशा में मूर्त होती हैं। जीव दो प्रकार के हैं—रूपी और अरूपी। मुक्त जीव अरूपी हैं और संसारी जीव रूपी।

कर्म-मुक्त आत्मा के फिर कभी कर्म का बन्ध नहीं होता। कर्म-बद्ध आत्मा के ही कर्म बंधते हैं—उन दोनों का अपश्चानुपूर्वी (न पहले और न पीछे) रूप से अनादिकाल सम्बन्ध चला आ रहा है।

अमूर्त ज्ञान पर मूर्त मादक द्रव्यों का असर होता है, वह अमूर्त के साथ मूर्त का सम्बन्ध हुए बिना नहीं हो सकता। इससे जाना जाता है कि विकारी अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त का सम्बन्ध होने में कोई आपत्ति नहीं आती।

बंध के हेतु

कर्म-सम्बन्ध के अनुकूल आत्मा की परिणति या योग्यता ही बन्ध का हेतु है। बन्ध के हेतुओं का निरूपण अनेक रूपों में हुआ है। उसके दो मुख्य हेतु हैं—प्रमाद और योग।

जीव शरीर का निर्माता है। क्रियात्मक वीर्य का साधन शरीर है। शरीरधारी जीव ही प्रमाद और योग के द्वारा कर्म का बन्ध करता है। कर्म-बन्ध के क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कारण भी बतलाए हैं।

बंध का अर्थ है—आत्मा और कर्म का संयोग और कर्म का निर्मापण—व्यवस्थाकरण। बंध आत्मा और कर्म के सम्बन्ध की पहली अवस्था है।

बन्ध चार प्रकार का है—प्रदेश, प्रकृति, स्थिति और अनुभाग (या अनुभाव)।

१. **प्रदेश**—ग्रहण के समय कर्म-सम्बन्ध अविभक्त होते हैं। ग्रहण के पश्चात् वे आत्मप्रदेशों के साथ एकीभूत होते हें। यह प्रदेश-बंध (या एकीभाव की व्यवस्था) है।

२. **प्रकृति**—वे कर्म-परमाणु कार्य-भेद के अनुसार आठ वर्गों में बँट जाते हैं। इसका नाम प्रकृति-बंध (स्वभाव-व्यवस्था) है। कर्म की मूल प्रकृतियाँ (स्वभाव) आठ हैं—१. ज्ञानावरण, २. दर्शनावरण, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयुष्य, ६. नाम, ७. गोत्र, ८. अन्तराय। (ये क्या करते हैं, इसकी चर्चा आगे की जाएगी)।

३. **स्थिति**—यह काल-मर्यादा की व्यवस्था है। प्रत्येक कर्म आत्मा के साथ निश्चित समय तक ही रह सकता है। स्थिति पकने पर वह उदय में आकर आत्मा से अलग हो जाता है। यह अवधि (कालमान) का निर्धारण स्थिति-बंध है।

४. **अनुभाग**—यह फलदान-शक्ति की व्यवस्था है। इसके अनुसार उन पुद्गलों में रस की तीव्रता और मंदता का निर्माण होता है। यह तीव्रता-मंदता का निर्धारण अनुभाग-बन्ध है। इसे रस या विपाक-बन्ध भी कहते हैं।

बंध के चारों प्रकार एक साथ ही होते हैं। कर्म की व्यवस्था के ये चारों प्रधान अंग हैं। आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों के आश्लेष या एकीभाव की दृष्टि से 'प्रदेश-बंध' सबसे पहला है। इसके होते ही उनमें स्वभाव-निर्माण, काल-मर्यादा और फलशक्ति का निर्माण हो जाता है। इसके बाद अमुक-अमुक स्वभाव, स्थिति और रस-शक्ति वाला पुद्गल-समूह अमुक-अमुक परिमाण (मात्रा या quantity) में बँट जाता है। यह परिमाण-विभाग भी प्रदेश-बंध है। बंध के वर्गीकरण का मूल बिन्दु स्वभाव-निर्माण है। स्थिति और रस का निर्माण उसके साथ-साथ हो जाता है। परिमाण-विभाग इसका अन्तिम विभाग है।

कर्म : स्वरूप और कार्य

इसमें चार कोटि की पुद्गल-वर्गणाएं चेतना और आत्मशक्ति की आवारक (ढकने वाली), विकारक (विकृत करने वाली) और प्रतिरोधक (रोकने वाली) हैं। चेतना के दो रूप हैं—

१. ज्ञान—जानना, वस्तु-स्वरूप का विमर्श करना।

२. दर्शन—साक्षात् करना, वस्तु का स्वरूप ग्रहण (perceive) करना।

ज्ञान और दर्शन के आवारक पुद्गल क्रमशः 'ज्ञानावरण' और 'दर्शनावरण' कहलाते हैं। इनसे क्रमशः ज्ञान और दर्शन का निरोध होता है।

आत्मा को विकृत बनाने वाले पुद्गलों की संज्ञा 'मोहनीय' है। इसके दो उपभेद हैं—

१. **दर्शन मोह**—श्रद्धा को विकृत (विपरीत) करने वाला।

२. **चारित्र मोह**—कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) के द्वारा आत्मा के चारित्र-गुण को विकृत बनाने वाला।

आत्म-शक्ति का प्रतिरोध करने वाले पुद्गल अन्तराय कहलाते हैं। ये चार घात्यकर्म हैं।

वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु—ये चार अघात्यकर्म हैं।

घात्यकर्म के क्षय के लिए आत्मा को तीव्र प्रयत्न करना होता है। ये चारों कर्म अशुभ (पाप) ही होते हैं। इसके आंशिक क्षय या उपशम से आत्मा का स्वरूप आंशिक मात्रा में उदित होता है। इनके पूर्ण क्षय से आत्म-स्वरूप का पूर्ण विकास होता है—क्रमशः अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, चारित्र और अनन्त शक्ति प्राप्त होती है।

वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र—ये चार कर्म शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं। अशुभकर्म अनिष्ट-संयोग और शुभकर्म इष्ट-संयोग के निमित्त बनते हैं। इन दोनों का जो संगम है, वह संसार है। पुण्य-परमाणु सुख-सुविधा के निमित्त बन सकते हैं, किन्तु उनसे आत्मा की मुक्ति नहीं होती। ये पुण्य और पाप—दोनों बन्धन हैं। मुक्ति इन दोनों के क्षय से होती है।

वेदनीय कर्म का कार्य है—सुख-दुःख का वेदन—अनुभूति कराना। वेदनीय कर्म के दो प्रकार हैं—सात वेदनीय और असात वेदनीय। ये क्रमशः सुखानुभूति और दुःखानुभूति के निमित्त बनते हैं। इनका क्षय होने पर अनन्त आत्मिक आनन्द का उदय होता है।

नाम कर्म—शरीर से सम्बन्धित समग्र सामग्री के लिए जिम्मेवार है। नाम कर्म के दो प्रकार हैं—शुभ नाम और अशुभ नाम। शुभ नाम के उदय से व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से यशस्वी और विशाल व्यक्तित्व वाला होता है तथा अशुभ नाम के उदय से इसके विपरीत होता है। इनके क्षय होने पर आत्मा अपने नैसर्गिक भाव—अमूर्तिक भाव में स्थित हो जाता है।

गोत्र कर्म के दो प्रकार हैं—उच्च गोत्र और नीच गोत्र। ये क्रमशः उच्चता और नीचता, सम्मान और असम्मान के निमित्त बनते हैं। इनके क्षय से आत्मा अगुरु-लघु—पूर्ण सम बन जाता है।

आयुष्य कर्म चार प्रकार की गतियों में से किसी एक में जीव को जन्म दिलाता है। आयुष्य के दो प्रकार हैं—शुभ आयु और अशुभ आयु। ये क्रमशः देवत्व, मनुष्यत्व, नारकत्व, अमानुषत्व (पशुत्व) के निमित्त बनते हैं। इसके क्षय से आत्मा अ-मृत और अ-जन्मा बन जाता है।

चार अघात्य कर्म-परमाणुओं का विलय मुक्ति होने के समय एक साथ होता है।

बन्ध की प्रक्रिया

आत्मा में अनन्त वीर्य (सामर्थ्य) होता है, उसे लब्धि-वीर्य कहा जाता है। यह शुद्ध आत्मिक सामर्थ्य है। इसका बाह्य जगत् में कोई प्रयोग नहीं होता। आत्मा का बहिर्-जगत् के साथ जो सम्बन्ध है, उसका माध्यम शरीर है। वह पुद्गल-परमाणुओं का संगठित पुंज है। आत्मा और शरीर—इन दोनों के संयोग से जो सामर्थ्य पैदा होता है उसे करण-वीर्य या क्रियात्मक शक्ति कहा जाता है। शरीरधारी जीव में यह सतत बनी रहती है। इसके द्वारा जीव में भावनात्मक या चैतन्य-प्रेरित क्रियात्मक कम्पन होता रहता है। कम्पन अचेतन वस्तुओं में भी होता है, किन्तु वह स्वाभाविक होता है। उनमें चैतन्य-प्रेरित कम्पन नहीं होता। चेतन में कम्पन का प्रेरक गूढ़ चैतन्य होता है। इसलिए इसके द्वारा विशेष स्थिति का निर्माण होता है। शरीर की आन्तरिक वर्गणा द्वारा निर्मित कम्पन में बाहरी पौद्गलिक धाराएं मिलकर आपसी क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा परिवर्तन करती रहती हैं।

क्रियात्मक शक्ति-जनत कम्पन के द्वारा आत्मा और कर्म-परमाणुओं का संयोग करता है। इस प्रक्रिया को आस्रव कहा जाता है।

आत्मा के साथ संयुक्त कर्म-योग्य परमाणु कर्म-रूप में परिवर्तित होते हैं। इस प्रक्रिया को बंध कहा जाता है।

आत्मा और कर्म-परमाणुओं का फिर वियोग होता है। इस प्रक्रिया को निर्जरा कहा जाता है।

बंध आस्रव और निर्जरा के बीच की स्थिति है। आस्रव के द्वारा बाहरी पौद्गलिक धाराएं शरीर में आती हैं। निर्जरा के द्वारा वे फिर शरीर के बाहर चली जाती हैं। कर्म-परमाणुओं के शरीर में आने और फिर से चले जाने के बीच की दशा को संक्षेप में बंध कहा जाता है।

शुभ और अशुभ परिणाम आत्मा की क्रियात्मक शक्ति के प्रवाह हैं। ये अजस्र रहते हैं। दोनों एक साथ नहीं, एक अवश्य रहता है।

कर्म-शास्त्र की भाषा में शरीर-नाम-कर्म के उदय-काल में चंचलता रहती है। मानसिक, वाचिक और शारीरिक क्रिया से आत्म-प्रदेशों में कम्पन होता है। उसके द्वारा कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता है। शुभ परिणति के समय शुभ और अशुभ परिणति के समय अशुभ कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता है।

कर्म कौन बांधता है?

अकर्म के कर्म का बन्ध नहीं होता। पूर्व-कर्म से बंधा हुआ जीव ही नये कर्मों का बन्ध करता है। मोह-कर्म के उदय से जीव राग-द्वेष में परिणत होता है तब वह अशुभ कर्मों का बंध करता है। मोह-रहित प्रवृत्ति करते समय शरीर-नाम-कर्म के उदय से जीव शुभ कर्म का बंध करता है। नये-बंधन का हेतु पूर्व-बन्धन न हो, तो अबद्ध (मुक्त) जीव भी कर्म से बंधे बिना नहीं रह सकता। इस दृष्टि से यह सही है कि बंधा हुआ ही बंधता है, नये सिरे से नहीं।

कर्म-बंध कैसे?

गौतम—भगवान्! जीव कर्म-बंध कैसे करता है?

भगवान्—गौतम! ज्ञानावरण के तीव्र उदय से दर्शनावरण का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरण के तीव्र उदय से दर्शन-मोह का तीव्र उदय होता है। दर्शन-मोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्व का उदय होता है। मिथ्यत्व के उदय से जीव के आठ प्रकार के कर्मों का बन्ध होता है।

कर्म-बंध का मुख्य हेतु कषाय है। संक्षेप में कषाय के दो भेद हैं—राग और द्वेष। विस्तार में उसके चार भेद हें—क्रोध, मान, माया, लोभ।

फल-विपाक

एक समय की बात है। भगवान् राजगृह के गुणशील नामक चैत्य में समवसृत थे। उस समय कालोदायी अनगार भगवान् के पास आयें। वन्दना-नमस्कार कर बोले—भगवान्! क्या जीवों के किये हुए पाप-कर्मों का परिपाक पापकारी होता है?

भगवान्—'कालोदायी! होता है।'

कालोदायी—'भगवान्! यह कैसे होता है।'

भगवान्—'कालोदयी !जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ, स्थालीपाक-शुद्ध (परिपक्व), उठारह प्रकार के व्यंजनों से परिपूर्ण विषयुक्त भोजन करता है, वह (भोजन) आपातभद्र (खाते समय अच्छा) होता है, किन्तु ज्यों-ज्यों उसका परिणमन होता है, त्यों-त्यों उसमें दुर्गन्ध पैदा होती है—वह परिणाम भद्र नहीं होता। कालोदायी ! इसी प्रकार प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शन शल्य (अठारह प्रकार के पाप-कर्म) आपात-भद्र और परिणाम-विरस होते हैं। कालोदायी ! इस प्रकार पाप-कर्म पाप-विपाक वाले होते हैं?

कालोदायी—'भगवन् ! क्या जीवों के किए हुए कल्याण-कर्मों का परिपाक कल्याणकारी होता है?'

भगवान्—'कालोदायी ! होता है।'

कालोदायी—'भगवान् ! यह कैसे होता है।'

भगवान्—'कालोदायी ! जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ, स्थालीपाक-शुद्ध (परिपक्व), उठारह प्रकार के व्यंजनों से परिपूर्ण, औषध-मिश्रित भोजन करता है, वह आपात-भद्र नहीं लगता, किन्तु ज्यों-ज्यों उसका परिणमन होता है, त्यों-त्यों उसमें सुरूपता, सुवर्णता और सुखानुभूति उत्पन्न होती है। वह परिणाम-भद्र होता है। कालोदायी ! इसी प्रकार प्राणातिपात-विरति यावत् मिथ्यादर्शन-शल्य-विरति आपातभद्र नहीं लगती, किन्तु परिणाम-भद्र होती है। कालोदायी ! इस प्रकार कल्याण-कर्म कल्याण-विपाक वाले होते हैं।'

कर्म के उदय से क्या होता है?

१. ज्ञानावरण के उदय से जीव ज्ञातव्य विषय को नहीं जानता, जिज्ञासु होने पर भी नहीं जानता। जानकर भी नहीं जानता—पहले जानकर फिर नहीं जानता। उसका ज्ञान आवृत्त हो जाता है।

२. दर्शनावरण के उदय से जीव द्रष्टव्य विषय को नहीं देखता, देखने का इच्छुक होने पर भी नहीं देखता। उसका दर्शन आच्छन्न हो जाता है। निद्रा दर्शनावरण के उदय से आती है।

३. सातवेदनीय कर्म के उदय से जीव सुख की अनुभूति करता है। मनोज्ञ शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श, मनःसुखता, वाक्-सुखता, काय-सुखता—ये इसके उदय से प्राप्त होते हैं।

असातवेदनीय कर्म के उदय से जीव दुःख की अनुभूति करता है। इसके परिणामस्वरूप आठ बातें प्राप्त होती हैं—अमनोज्ञ शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श, मनोदुःखता, वाक्-दुःखता, काय-दुःखता।

४. मोह-कर्म के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि और चारित्रहीन बनता है। इसके पाँच परिणाम हैं—सम्यक्त्व-वेदनीय, मिथ्यात्व-वेदनीय, सम्यक्-मिथ्यात्व-वेदनीय, कषाय-वेदनीय, नोकषाय-वेदनीय।

५. आयु-कर्म के उदय से जीव अमुक समय तक अमुक प्रकार का जीवन जीता है। इसके अनुभाव (परिणाम) चार हैं—नैरयिकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु, देवायु।

६. शुभ नामकर्म के उदय से जीव शारीरिक और वाचिक उत्कर्ष पाता है। इसके अनुभाव चौदह हैं—इष्ट शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श, गति, स्थिति, लावण्य, यश-कीर्ति, उत्थान-कर्म-बल-वीर्य-पुरुषाकार-पराक्रम तथा मनोज्ञ स्वरता।

अशुभ नामकर्म के उदय से जीव शारीरिक और वाचिक अपकर्ष पाता है। इसके अनुभाव चौदह हैं—अनिष्ट शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श, गति, स्थिति, लावण्य यशो-कीर्ति, उत्थान-कर्म-बल-वीर्य-पुरुषाकार-पराक्रम और अमनोज्ञ स्वरता।

७. उच्च गोत्र-कर्म के उदय से जीव विशिष्ट बनता है। इसके अनुभाव आठ हैं—जाति, कुल, बल, रूप, तप, लाभ और ऐश्वर्य—इन आठों की विशिष्टता।

नीच-गोत्र-कर्म के उदय से जीव हीन बनता है। इसके अनुभाव आठ हैं—उपर्युक्त आठ की विहीनता।

८. अन्तराय कर्म के उदय से आत्म-शक्ति का प्रतिघात होता है। इसके अनुभाव पाँच हैं—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में अन्तराय (प्रतिघात)।

फल की प्रक्रिया

कर्म जड़—अचेतन है, तब वह जीव को नियमित फल कैसे दे सकता है? यह प्रश्न न्याय-दर्शन के प्रणेता गौतम ऋषि के 'ईश्वर' के अभ्युपगम का हेतु बना। इसीलिए उन्होंने ईश्वर को कर्म-फल का नियन्ता बताया, जिसका उल्लेख कुछ पहले किया जा चुका है। जैन-दर्शन कर्म-फल का नियमन करने के लिए ईश्वर को आवश्यक नहीं समझता। कर्म-परमाणुओं में जीवात्मा के सम्बन्ध से एक विशिष्ट परिणाम होता है। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव, गति, स्थिति, पुद्गल-परिणाम आदि उदयानुकूल सामग्री से विपाक-प्रदर्शन में समर्थ हो जीवात्मा के संस्कारों को विकृत करता है, उससे उनका फलोपभोग होता है। सही अर्थ में आत्मा अपने किये का अपने आप फल भोगता है, कर्म परमाणु सहकारी या सचेतक का कार्य करते हैं। विष और अमृत, अपथ्य और पथ्य भोजन को कुछ भी ज्ञान नहीं होता, फिर भी जीव का संयोग पा उनकी वैसी परिणति हो जाती है। विज्ञान के क्षेत्र में परमाणु की

विचित्र शक्ति और उसके नियमन के विविध प्रयोगों के अध्ययन के बाद कर्मों की फलदान-शक्ति के बारे में कोई सन्देह नहीं रहता।

उदय

कर्म का बन्ध होते ही उसमें विपाक-प्रदर्शन की शक्ति नहीं हो जाती। वह निश्चित अवधि के पश्चात् ही पैदा होती है। बन्धे हुए कर्म-पुद्गल अपना कार्य करने में समर्थ हो जाते हैं, तब उनके निषेक (कर्म-पुद्गलों की एक काल में उदय होने योग्य रचना-विशेष) प्रकट होने लगते हैं, वह उदय है।

कर्म का उदय दो प्रकार का होता है—

१. प्राप्त-काल कर्म का उदय—बंधी हुई स्थिति के अनुसार उचित समय पर स्वत: कर्म उदय में आते हैं।

२. अप्राप्त-काल कर्म का उदय—काल प्राप्त होने से पूर्व ही परिस्थिति या प्रयत्न-विशेष के द्वारा कर्म का उदय में आना।

कर्म की वह अवस्था 'अबाधा' कहलाती है, जिसमें कर्म बन्धन के बाद उदयावस्था को प्राप्त नहीं करते। उस समय कर्म की सत्ता होती है, किन्तु उसका कर्त्तव्य प्रकट नहीं होता। इसलिए वह कर्म का अवस्थान काल (अबाधाकाल) है। 'अबाधा' का अर्थ है—अन्तर। बंध और उदय के अन्तर का जो काल है, वह 'अबाधाकाल' है।

काल-मर्यादा पूर्ण होने पर कर्म का वेदन या भोग प्रारम्भ होता है। वह 'प्राप्त-काल उदय' है। यदि स्वाभाविक पद्धति से ही कर्म उदय में आयें, तो आकस्मिक घटनाओं की सम्भावना तथा तपस्या की प्रयोजकता ही नष्ट हो जाती है। किन्तु अपवर्तना (कर्म की स्थिति को कम करने) के द्वारा कर्म की उदीरणा या 'अप्राप्त-काल उदय' होता है।

सहेतुक और निर्हेतुक उदय—

कर्म का परिपाक और उदय अपने-आप भी होता है और दूसरों के द्वारा भी, सहेतुक भी होता है और निर्हेतुक भी। कोई बाहरी कारण नहीं मिला, क्रोध-वेदनीय पुद्गलों के तीव्र विपाक से अपने-आप क्रोध आ गया—यह उनका निर्हेतुक उदय है। इसी प्रकार हास्य, भय, वेद (काम-विकार) और कषाय के पुद्गलों का भी दोनों प्रकार का उदय होता है।

अपने आप उदय में आने वाले कर्म के हेतु

गति-हेतुक उदय—नरक गति में असात (असुख) का उदय तीव्र होता है। यह गति-हेतुक विपाक-उदय है।

स्थिति-हेतुक उदय—मोह कर्म की सर्वोत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्वमोह का तीव्र उदय होता है। यह स्थिति-हेतुक विपाक उदय है।

भव-हेतुक उदय—दर्शनावरण (जिसके उदय से नींद आती है) सबके होता है फिर भी नींद मनुष्य और तिर्यंच दोनों को आती है, देव और नारक को नहीं आती। यह भव (जन्म) हेतु विपाक-उदय है।

गति-स्थिति और भव के निमित्त से कई कर्मों का अपने-आप विपाक उदय हो जाता है।

दूसरों द्वारा उदय में आने वाले कर्म-हेतु

पुद्गल-हेतुक उदय—किसी ने पत्थर फेंका, चोट लगी, असात का उदय हो आया—यह दूसरों के द्वारा किया हुआ असात-वेदनीय का पुद्गल हेतुक विपाक-उदय है।

किसी ने गाली दी, क्रोध आ गया—यह क्रोध-वेदनीय-पुद्गलों का सहेतुक विपाक-उदय है।

पुद्गल-परिणाम (Physical/Chemical change) के द्वारा होने वाला उदय—भोजन किया, वह पचा नहीं, अजीर्ण हो गया। उससे रोग पैदा हुआ। यह असात-वेदनीय का विपाक उदय है। मदिरा पी, उन्माद छा गया—ज्ञानावरण का विपाक-उदय हुआ। यह पुद्गल-परिणमन-हेतुक विपाक उदय है।

इस प्रकार के अनेक हेतुओं से कर्मों का विपाक-उदय होता है। अगर ये हेतु नहीं मिलते, तो उन कर्मों का विपाक-रूप में उदय नहीं होता। उदय का एक दूसरा प्रकार और है। वह है प्रदेश-उदय। उसमें कर्म-फल का स्पष्ट अनुभव नहीं होता। यह कर्म-वेदन की अस्पष्टानुभूति वाली दशा है। पर जो कर्म-बन्ध होता है, वह अवश्य भोगा जाता है, चाहे प्रदेश-उदय ही हो।

पुण्य-पाप

मानसिक, वाचिक और शारीरिक क्रिया शुभ होती है तो शुभ-कर्म परमाणु और वह अशुभ होती है तो अशुभ-कर्म परमाणु आत्मा के साथ चिपकते हैं। शुभ कर्म परमाणु पुण्य और अशुभ कर्म परमाणु पाप कहलाते हैं। पुण्य और पाप—दोनों विजातीय तत्त्व हैं। इसलिए ये दोनों आत्मा की परतन्त्रता के हेतु हैं। आचार्यों ने पुण्य कर्म की सोने और पाप-कर्म की लोहे की बेड़ी से तुलना की है। स्वतन्त्रता के इच्छुक मुमुक्षु के लिए ये दोनों हेय हैं। मोक्ष का हेतु रत्नत्रयी (सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-चरित्र) है। जो व्यक्ति इस तत्त्व को नहीं

जानता, वही पुण्य को उपादेय और पाप को हेय मानता है। निश्चय-दृष्टि से ये दोनों हेय हैं।

पुण्य की हेयता के बारे में जैन-परम्परा एकमत है। आचार्य कुन्दकुन्द ने पुण्य और पाप का आकर्षण करने वाली विचारधारा को पर-समय अर्थात् जैन-सिद्धान्त से परे माना है।

पुण्य काम्य नहीं है। योगीन्दु के शब्दों में—"वे पुण्य किस काम के जो राज्य देकर जीव को दु.ख परम्परा की ओर ढकेल दें। आत्म-दर्शन की खोज में लगा हुआ व्यक्ति मर जाए, यह अच्छा है, किन्तु आत्म-दर्शन से विमुख होकर पुण्य चाहे, वह अच्छा नहीं है।"

आचार्य भिक्षु ने कहा है—"पुण्य की इच्छा करने से पाप का बन्ध होता है।" आगम कहते हैं—"इहलोक, परलोक, पूजा-श्लाघा आदि के लिए धर्म मत करो, केवल आत्म-शुद्धि के लिए धर्म करो।"

यही बात वेदांत के आचार्यों ने कही है, "मोक्षार्थी को काम्य और निषिद्ध कर्म में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए।" क्योंकि आत्म-साधक का लक्ष्य मोक्ष होता है और पुण्य संसार-भ्रमण के हेतु हैं।

भगवान् महावीर ने कहा है—"पुण्य और पाप—इन दोनों के क्षय से मुक्ति मिलती है। जीव शुभ और अशुभ कर्मों के द्वारा संसार में परिभ्रमण करता है।"

गीता भी यही कहती है—"बुद्धिमान् सुकृत और दुष्कृत दोनों को छोड़ देता है।"

अभयदेवसूरि ने आस्रव, बन्ध, पुण्य और पाप को संसार-भ्रमण का हेतु कहा है।

आचार्य भिक्षु ने इस प्रकार समझाया है—"पुण्य से भोग मिलते हैं। जो पुण्य की इच्छा करता है, वह भोगों की इच्छा करता है। भोग की इच्छा से संसार बढ़ता है।"

इसका निगमन यह है कि अयोगी-अवस्था (पूर्ण-समाधि-दशा) से पूर्व सत्प्रवृत्ति के साथ पुण्य-बन्ध अनिवार्य रूप से होता है। फिर भी पुण्य की इच्छा से कोई भी सत्प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। प्रत्येक सत्प्रवृत्ति का लक्ष्य होना चाहिए—मोक्ष—आत्म-विकास। भारतीय दर्शनों का यही चरम लक्ष्य है। 'लौकिक अभ्युदय' धर्म का आनुषंगिक फल है—धर्म के साथ अपने आप फलने वाला है। यह शाश्वतिक या चरम लक्ष्य नहीं है।

मिश्रण नहीं होता

पुण्य और पाप के परमाणुओं के आकर्षण-हेतु अलग-अलग हैं। एक ही हेतु से दोनों के परमाणुओं का आकर्षण नहीं होता। आत्मा के परिणाम या तो शुभ होते हैं या अशुभ, किन्तु शुभ और अशुभ दोनों एक साथ नहीं होते।

धर्म और पुण्य

जैन दर्शन में धर्म और पुण्य—ये दो पृथक् तत्त्व हैं। शाब्दिक-दृष्टि से पुण्य शब्द धर्म के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, किन्तु तत्त्व-मीमांसा में ये कभी एक नहीं होते। धर्म आत्मा की राग-द्वेष-हीन परिणति है और पुण्य शुभकर्ममय पुद्गल हैं। दूसरे शब्दों में—धर्म आत्मा की पर्याय है और पुण्य पुद्गल की पर्याय है।

दूसरी बात—निर्जरा-धर्म सत्क्रिया है और पुण्य उसका फल है।

तीसरी बात—धर्म आत्म-शुद्धि (आत्म-मुक्ति) का साधन है और पुण्य आत्मा के लिए बन्धन है।

अधर्म और पाप की भी यही स्थिति है। वे दोनों धर्म और पुण्य के ठीक प्रतिपक्षी हैं। जैसे सत्प्रवृत्ति रूप धर्म के साहचर्य से पुण्य की उत्पत्ति होती है, वैसे अधर्म और पाप के साहचर्य से पाप की उत्पत्ति होती है। पुण्य पाप फल हैं—जीव की अच्छी या बुरी प्रवृत्ति से उनके साथ चिपटने वाले पुद्गल हैं और ये दोनों धर्म और अधर्म के लक्षण हैं।

जीव की क्रिया दो भागों में विभक्त होती है—धर्म या अधर्म, सत् या असत्। अधर्म से आत्मा के संस्कार विकृत होते हैं, पाप का बन्ध होता है। धर्म से आत्मा शुद्ध होती है और उसके साथ-साथ पुण्य का बन्ध होता है। पुण्य-पाप कर्म का ग्रहण होना या न होना आत्मा के अध्यवसाय—परिणाम पर निर्भर है। शुभयोग तपस्या-धर्म है और वही शुभयोग पुण्य का आस्रव है।

पुरुषार्थ भाग्य को बदल सकता है

वर्तमान की दृष्टि से पुरुषार्थ अवंध्य (निष्फल) कभी नहीं होता। अतीत की दृष्टि से उसका महत्त्व है भी और नहीं भी। वर्तमान का पुरुषार्थ अतीत के पुरुषार्थ से दुर्बल होता है, तो वह अतीत के पुरुषार्थ को अन्यथा नहीं कर सकता। वर्तमान का पुरुषार्थ अतीत के पुरुषार्थ से प्रबल होता है, तो वह अतीत के पुरुषार्थ को अन्यथा भी कर सकता है।

कर्म की बन्धन और उदय—ये दो ही अवस्थाएं होतीं, तो कर्मों का बन्ध होता और वेदना के बाद वे निर्वीर्य हो आत्मा से अलग हो जाते। परिवर्तन को कोई अवकाश नहीं मिलता। कर्म की अवस्थाएं इन दो के अतिरिक्त और भी हैं—

१. अपवर्तन के द्वारा कर्म-स्थिति का अल्पीकरण (स्थिति-घात) और रस का मन्दीकरण (रस-घात) होता है।

२. उद्वर्तना के द्वारा कर्म-स्थिति का दीर्घीकरण और रस का तीव्रीकरण होता है।

३. उदीरणा के द्वारा लम्बे समय के बाद तीव्र भाव से उदय में आने वाले कर्म तत्काल और मंद-भाव से उदय में आ जाते हैं।

४. एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक भी शुभ होता है। एक कर्म शुभ होता है, उसका विपाक अशुभ होता है। एक कर्म अशुभ होता है, उसका विपाक शुभ होता है। एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक भी अशुभ होता है। जो कर्म शुभ रूप में ही बंधता है और शुभ रूप में ही उदित होता है, वह शुभ और शुभ-विपाक वाला होता है। जो कर्म शुभ रूप में बंधता है और अशुभ रूप में उदित होता है, वह शुभ और अशुभ विपाक वाला होता है। जो कर्म अशुभ रूप में बंधता है और शुभ रूप में उदित होता है, वह अशुभ और शुभ विपाक वाला होता है, जो कर्म अशुभ रूप में बंधता है और अशुभ रूप में ही उदित होता है, वह अशुभ और अशुभ-विपाक वाला है। कर्म के बंध और उदय में जो यह अन्तर आता है, उसका कारण संक्रमण (बध्यमान कर्म में कर्मान्तर का प्रवेश) है।

जिस अध्यवसाय (आंतरिक परिणाम) से जीव कर्म-प्रकृति का बंध करता है, उसकी तीव्रता के कारण वह पूर्वबद्ध सजातीय प्रकृति के दलिकों को बध्यमान प्रकृति के दलिकों के साथ संक्रांत कर देता है, परिणत या परिवर्तित कर देता है—वह संक्रमण है।

संक्रमण के चार प्रकार हैं—१. प्रकृति-संक्रम, २. स्थिति-संक्रम, ३. अनुभाव-संक्रम, ४. प्रदेश-संक्रम।

प्रकृति-संक्रम से पहले बंधी हुई प्रकृति (कर्म-स्वभाव) वर्तमान में बंधने वाली प्रवृत्ति के रूप में बदल जाती है। इसी प्रकार स्थिति, अनुभाव और प्रदेश का परिवर्तन होता है।

अपवर्तन, उद्वर्तन, उदीरणा और संक्रमण—ये चारों उदयावलिका (उदयक्षण) के बहिर्भूत कर्म-पुद्गलों के ही होते हैं। उदयावलिका में प्रविष्ट कर्म-पुद्गल के

उदय में कोई परिवर्तन नहीं होता। अनुदित कर्म के उदय में परिवर्तन होता है। पुरुषार्थ के सिद्धान्त का यही ध्रुव आधार है। यदि यह नहीं होता, तो केवल नियतिवाद ही होता।

आत्मा स्वतन्त्र है या कर्म के अधीन?

कर्म की मुख्य दो अवस्थाएं हैं—बन्ध और उदय। दूसरे शब्दों में ग्रहण और फल। "कर्म ग्रहण करने में जीव स्वतन्त्र है और उसका फल भोगने में परतंत्र। जैसे कोई व्यक्ति वृक्ष पर चढ़ता है, वह चढ़ने में स्वतन्त्र है—इच्छानुसार चढ़ता है। प्रमाद-वश गिर जाए तो वह गिरने में स्वतन्त्र नहीं है।" इच्छा से गिरना नहीं चाहता, फिर भी गिर जाता है, इसलिए गिरने में परतंत्र है। एक रोगी व्यक्ति भी गरिष्ठ से गरिष्ठ पदार्थ खा सकता है, किन्तु उसके फलस्वरूप होने वाले अजीर्ण से नहीं बच सकता। कर्म-फल भोगने में जीव स्वतन्त्र नहीं है, यह कथन प्रायिक है। कहीं-कहीं जीव उसमें स्वतंत्र भी होते हैं। जीव और कर्म का संघर्ष चलता रहता है। जीव के काल आदि लब्धियों की अनुकूलता होती है, तब वह कर्मों को पछाड़ देता है और कर्मों की बहुलता होती है, तब जीव उनसे दब जाता है। इसलिए यह मानना होता है कि कहीं जीव कर्म के अधीन है और कहीं कर्म जीव के अधीन।

कर्म दो प्रकार के होते हैं—

१. निकाचित—जिनका विपाक अन्यथा नहीं हो सकता है।

२. दलिक—जिनका विपाक अन्यथा भी हो सकता है।

दूसरे शब्दों में, १. निरुपक्रम—इसका कोई प्रतिकार नहीं होता, इसका उदय अन्यथा नहीं हो सकता। २. सोपक्रम—यह उपचार-साध्य होता है।

निकाचित कर्मोदय की अपेक्षा से जीव कर्म के अधीन ही होता है। दलिक की अपेक्षा से दोनों बातें हैं—जहाँ जीव उसको अन्यथा करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता, वहाँ वह उस कर्म के अधीन होता है और जहाँ जीव प्रबल धृति, मनोबल, शरीर-बल आदि सामग्री की सहायता से सत्प्रयत्न करता है, वहाँ कर्म उसके अधीन होता है। उदय-काल से पूर्व कर्म को उदय में ला, तोड़ डालना, उसकी स्थिति और रसको मंद कर देना, यह सब इस स्थिति में हो सकता है। यदि यह न होता, तो तपस्या करने का कोई अर्थ नहीं रहता। पहले बंधे हुए कर्मों की स्थिति और फल-शक्ति नष्ट कर, उन्हें शीघ्र तोड़ डालने के लिए ही तपस्या की जाती है। पातंजल-योगभाष्य में भी अदृष्ट-जन्म-वेदनीय कर्म की तीन गतियाँ बताई गई हैं। उनमें से एक गति है—कई कर्म बिना फल दिए

ही प्रायश्चित आदि के द्वारा नष्ट हो जाते हैं। इसी कर्म को जैन-दृष्टि में उदीरणा कहा है।

उदीरणा

१. उदीर्ण कर्म-पुद्गलों की फिर से उदीरणा करे तो इस उदीरणा की कहीं भी परिसमाप्ति नहीं होती। इसलिए उदीर्ण की उदीरणा का निषेध किया गया है।

२. जिन कर्म-पुद्गलों की उदीरणा सुदूर भविष्य में होने वाली है, अथवा जिनकी उदीरणा नहीं भी होने वाली है, उन अनुदीर्ण-कर्म-पुद्गलों की भी उदीरणा नहीं हो सकती।

३. जो कर्म-पुद्गल उदय में आ चुके हैं, वे सामर्थ्य-हीन बन गए, इस लिए उनकी भी उदीरणा नहीं होती।

४. जो कर्म-पुद्गल वर्तमान में उदीरणा-योग्य (अनुदीर्ण, किन्तु उदीरणा योग्य) हैं, उन्हीं की उदीरणा होती है।

उदीरणा का हेतु

कर्म के स्वाभाविक उदय में नये पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं होती। अबाधाकाल पूरा होता है, कर्म-पुद्गल आपने-आप उदय में आ जाते हैं। उदीरणा द्वारा उन्हें प्रयत्नपूर्वक स्थिति-क्षय से पहले उदय में लाया जाता है। इसलिए इसमें विशेष प्रयत्न या पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है।

यह भाग्य और पुरुषार्थ का समन्वय है। पुरुषार्थ द्वारा कर्म में परिवर्तन किया जा सकता है, यह स्पष्ट है।

कर्म की उदीरणा 'करण' के द्वारा होती है। 'करण' का अर्थ है 'योग'। योग के तीन प्रकार हैं—

१. शारीरिक प्रवृत्ति। २. वाचिक प्रवृत्ति। ३. मानसिक प्रवृत्ति।

योग शुभ और अशुभ—दोनों प्रकार का होता है। आस्रव-चतुष्टय में अप्रवृत्ति शुभ योग है और आस्रव-चतुष्टय में प्रवृत्ति अशुभ योग है। शुभ योग तपस्या है, सत् प्रवृत्ति है। वह उदीरणा का हेतु है। क्रोध, मान, माया और लोभ की प्रवृत्ति अशुभ योग है, उससे भी उदीरणा होती है।

निर्जरा

संयोग का अन्तिम परिणाम वियोग है। आत्मा और परमाणु—ये दोनों भिन्न हैं। वियोग से आत्मा आत्मा है और परमाणु परमाणु। इनका संयोग होता है, तब आत्मा रूपी कहलाती है और परमाणु कर्म।

कर्म-प्रायोग्य परमाणु आत्मा से चिपट कर्म बन जाते हैं। उस पर अपना प्रभाव डालने के बाद वे अकर्म बन जाते हैं। अकर्म बनते ही वे आत्मा से विलग हो जाते हैं। इस विलगाव की दशा का नाम है—निर्जरा।

निर्जरा कर्मों की होती है—यह औपचारिक सत्य है। वस्तु-सत्य यह है कि कर्मों की वेदना—अनुभूति होती है, निर्जरा नहीं होती। निर्जरा अकर्म की होती है। वेदना के बाद कर्म-परमाणुओं का कर्मत्व नष्ट हो जाता है, फिर निर्जरा होती है।

कोई फल डाली पर पककर टूटता है और किसी फल को प्रयत्न से पकाया जाता है। पकते दोनों हैं, किन्तु पकने की प्रकिया दोनों की भिन्न है। जो सहज गति से पकता है, उसका पाक-काल लम्बा होता है और जो प्रयत्न से पकता है, उसका पाक-काल छोटा हो जाता है। कर्म का परिपाक भी ठीक इसी प्रकार होता है। निश्चित काल-मर्यादा से कर्म-परिपाक होता है, उसकी निर्जरा को विपाकी-निर्जरा कहा जाता है। यह अहेतुक निर्जरा है। इसके लिए कोई नया प्रयत्न नहीं करना पड़ता, इसलिए इसका हेतु न धर्म होता है और न अधर्म।

निश्चित काल-मर्यादा से पहले शुभ-योग के व्यापार से कर्म का परिपाक होकर जो निर्जरा होती है, उसे विपाकी निर्जरा कहा जाता है। यह सहेतुक निर्जरा है। इसका हेतु शुभ प्रयत्न है। वह धर्म है। मोक्ष इसी का उत्कृष्ट रूप है। कर्म की पूर्ण निर्जरा (विलय) जो है, वही मोक्ष है। कर्म का अपूर्ण विलय निर्जरा है। दोनों में मात्रा भेद है, स्वरूप-भेद नहीं। निर्जरा का अर्थ है—आत्मा का विकास या स्वभावोदय। अभेदोपचार की दृष्टि से स्वभावोदय के साधनों को भी निर्जरा कहा जाता है।

कर्म-मुक्ति की प्रक्रिया

कर्म परमाणुओं के विकर्षण के साथ-साथ दूसरे कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता रहता है। किन्तु इससे मुक्ति होने में कोई बाधा नहीं आती।

कर्म-सम्बन्ध के प्रधान साधन दो हैं—कषाय और योग। कषाय प्रबल होता है, तब कर्म-परमाणु आत्मा के साथ अधिक काल तक चिपके रहते हैं और तीव्र फल देते हैं। कषाय के मंद होते ही उनकी स्थिति कम और फलशक्ति मंद हो जाती है।

जैसे-जैसे कषाय मन्द होता है, वैसे-वैसे निर्जरा अधिक होती है और पुण्य का बन्ध शिथिल हो जाता है। वीतराग (आत्म-विकास की ११वीं, १२वीं, १३वीं भूमिका में) के केवल दो समय की स्थिति का बंध होता है। पहले समय में कर्म-परमाणु उसके साथ सम्बन्ध करते हैं, दूसरे समय में भोग लिए जाते हैं और तीसरे समय में वे उससे बिछुड़ जाते हैं।

चौदहवीं भूमिका में मन, वाणी और शरीर की सारी प्रवृत्तियाँ रुक जाती हैं। वहाँ केवल पूर्व-संचित कर्म का निर्जरण होता है, नये कर्म का बन्ध नहीं होता। अबन्ध-दशा में आत्मा शेष कर्मों को खपा मुक्त हो जाती है।

मुक्त होने वाले साधक एक ही श्रेणी के नहीं होते। स्थूल-दृष्टि से उनकी चार श्रेणियाँ प्रतिपादित हैं—

१. प्रथम श्रेणी के साधकों के कर्म का भार अल्पतर होता है। उनका साधना-काल दीर्घ हो सकता है। पर उनके लिए कठोर तप करना आवश्यक नहीं होता है और न उन्हें कष्ट सहना होता है। वे सहज जीवन बिता मुक्त हो जाते हैं। इस श्रेणी के साधकों में भरत चक्रवर्ती का नाम उल्लेखनीय है।

२. दूसरी श्रेणी के साधकों के कर्म का भार अल्पतर होता है। उनका साधना-काल भी अल्पतर होता है। वे अत्यल्प तप और अत्यल्प कष्ट का अनुभव कर सहज भाव से मुक्त हो जाते हैं। इस श्रेणी के साधकों में भगवान् ऋषभ की माता मरुदेवा का नाम उल्लेखनीय है।

३. तीसरी श्रेणी के साधकों के कर्म-भार अधिक होता है। उनका साधना-काल अल्प होता है। वे घोर तप और घोर कष्ट का अनुभव कर मुक्त होते हैं। इस श्रेणी के साधकों में मुनि गजसुकुमार का नाम उल्लेखनीय है।

४. चौथी श्रेणी के साधकों के कर्म-भार अत्यधिक होता है। उनका साधना-काल दीर्घतर होता है। वे घोर तप और कष्ट सहन कर मुक्त होते हैं। इस श्रेणी के साधकों में सनत्कुमार चक्रवर्ती का नाम उल्लेखनीय है।

अनादि का अन्त कैसे?

जो अनादि होता है, उसका अन्त नहीं होता, ऐसी दशा में अनादिकालीन कर्म-सम्बन्ध का अन्त कैसे हो सकता है? यह ठीक है, किन्तु इसमें बहुत कुछ समझने जैसा है। अनादि का अन्त नहीं होता, यह सामुदायक नियम है और जाति से सम्बन्ध रखता है। व्यक्ति विशेष पर यह लागू नहीं भी होता। प्रागभाव अनादि है, फिर भी उसका अन्त होता है। स्वर्ण और मृत्तिका का, घी और दूध का सम्बन्ध अनादि है, फिर भी वे पृथक् होते हैं। ऐसे ही आत्मा और कर्म के अनादि-सम्बन्ध का अन्त होता है। यह ध्यान रहे कि इसका सम्बन्ध प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है, व्यक्तिशः नहीं। आत्मा से जितने कर्म पुद्गल चिपटते हैं, वे सब अवधि-सहित होते हैं। कोई भी एक कर्म अनादिकाल से आत्मा के साथ घुल-मिलकर नहीं रहता। आत्मा मोक्षोचित्त सामग्री पा अनास्रव बन जाती है, तब नये कर्मों का प्रवाह रुक जाता है, संचित कर्म तपस्या द्वारा टूट जाते हैं, आत्मा मुक्त बन जाती है।

लेश्या

लेश्या का अर्थ है—पुद्गल-द्रव्य के संसर्ग से उत्पन्न होने वाला जीव का अध्यवसाय—परिणाम, विचार। आत्मा चेतन है, अचेतन स्वरूप से सर्वथा पृथक् है, फिर भी संसार-दशा में इसका अचेतन (पुद्गल) के साथ गहरा संसर्ग रहता है, इसीलिए अचेतन द्रव्य से उत्पन्न परिणामों का जीव पर असर हुए बिना नहीं रहता। जिन पुद्गलों से जीव के विचार प्रभावित होते हैं, वे भी लेश्या कहलाते हैं। लेश्याएं पौद्गलिक हैं, इसलिए इनमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श होते हैं। लेश्याओं का नामकरण पौद्गलिक लेश्याओं के रंग के आधार पर हुआ है, जैसे—कृष्णलेश्या, नीललेश्या आदि-आदि।

लेश्याएं छः हैं—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या। पहली तीन लेश्याएं अप्रशस्त लेश्याएं हैं। इनके वर्ण आदि चारों गुण अशुभ होते हैं। उत्तरवर्ती तीन लेश्याओं के वर्ण आदि शुभ होते हैं, इसलिए वे प्रशस्त होती हैं।

खान-पान, स्थान और बाहरी वातावरण एवं वायुमण्डल का शरीर और मन पर असर होता है, यह प्रायः सर्वसम्मत-सी बात है। 'जैसा अन्न वैसा मन' यह उक्ति निराधार नहीं है। शरीर और मन, दोनों परस्परापेक्ष हैं। इनमें एक-दूसरे की क्रिया का एक-दूसरे पर असर हुए बिना नहीं रहता। 'जिस लेश्या के द्रव्य ग्रहण किये जाते हैं, उसी लेश्या का परिणाम हो जाता है'—इस सिद्धान्त से उक्त विषय की पुष्टि होती है। व्यावहारिक जगत् में भी यही बात पाते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा-प्रणाली में मानस-रोगी को सुधारने के लिए विभिन्न रंगों की किरणों का या विभिन्न रंगों की बोतलों के जलों का प्रयोग किया जाता है। योग-प्रणाली में पृथ्वी, जल आदि तत्त्वों के रंगों के परिवर्तन के अनुसार मानस-परिवर्तन का क्रम बतलाया गया है।

पौद्गलिक विचार (द्रव्यलेश्या) के साथ चैतसिक विचार (भाव लेश्या) का गहरा सम्बन्ध है। चैतसिक विचार के अनुरूप पौद्गलिक विचार होते हैं अथवा पौद्गलिक विचार के अनुरूप चैतसिक विचार होते हैं, यह एक जटिल प्रश्न है। इसके समाधान के लिए हमें लेश्या की उत्पत्ति पर ध्यान देना होगा। चैतसिक विचार की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है—मोह के उदय से या उसके विलय से। औदयिक चैतसिक विचार अप्रशस्त होते हैं और विलय-जनित चैतसिक विचार प्रशस्त होते हैं।

पौद्गलिक विकारों (द्रव्य लेश्याओं) के वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श का विवरण अग्र प्रकार हैं—

लेश्या	वर्ण	रस	गन्ध	स्पर्श
कृष्ण	काजल के समान काला	नीम से अनन्त गुण कटु	मृत सर्प की गन्ध से अनन्त गुण अनिष्ट गन्ध	गाय की जीभ से अनन्त गुण कर्कश
नील	नीलम के समान नील	सोंठ से अनन्त गुण तीक्ष्ण		
कपोत	कबूतर के गले के समान रंग	कच्चे आम के रस से अनन्तगुण तिक्त		
तेजस्	हिंगुल-सिन्दूर के समान रक्त	पके आम के रस से अनन्तगुण मधुर	सुरभि-कुसुम की गन्ध से अनन्तगुण इष्ट गन्ध	मक्खन से अनन्तगुण सुकुमार
पद्म	हल्दी के समान पीला	मधु से अनन्तगुण मिष्ठ		
शुक्ल	शंख के समान सफेद	मिसरी से अनन्त गुण मिष्ट		

कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अप्रशस्त तथा तेज, पद्म और शुक्ल—ये तीन प्रशस्त लेश्याएं हैं। पहली तीन लेश्याएं बुरे अध्यवसाय वाली हैं, इसलिए वे दुर्गति की हेतु हैं। उत्तरवर्ती तीन लेश्याएं भले अध्यवसाय वाली हैं, इसलिए वे सुगति की हेतु हैं।

कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अधर्म लेश्याएं तथा तेज, पद्म और शुक्ल—ये तीन धर्म लेश्याएं हैं।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा के भले और बुरे अध्यवसाय होने का मूल कारण मोह का अभाव या भाव है। कृष्ण आदि पुद्गल-द्रव्य भले-बुरे अध्यवसायों के सहकारी कारण बनते हैं। मात्र काले, नीले आदि पुद्गलों से ही आत्मा के परिणाम बुरे-भले नहीं बनते। केवल पौद्गलिक विचारों के अनुरूप ही चैतसिक विचार नहीं बनते। मोह का भाव-अभाव तथा पौद्गलिक विचार—इन दोनों के कारण आत्मा के बुरे या भले परिणाम बनते हैं।

जैनेतर ग्रन्थों में भी कर्म की विशुद्धि या वर्ण के आधार पर जीवों की कई अवस्थाएं बतलाई गई हैं। पातंजलयोग में वर्णित कर्म की कृष्ण, शुक्ल-कृष्ण, शुक्ल और अशुक्ल-अकृष्ण—ये चार जातियाँ भाव-लेश्या की श्रेणी में आती हैं। सांख्यदर्शन तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् में रज, सत्त्व और तमोगुण को लोहित, शुक्ल और कृष्ण कहा गया है। यह द्रव्यलेश्या का रूप है। रजोगुण मन को मोहरंजित करता है, इसलिए वह लोहित है। सत्त्व गुण से मन मल-रहित होता है, इसलिए वह शुक्ल है। तमोगुण ज्ञान को आवृत करता है, इसलिए वह कृष्ण है।

कर्मों का संयोग और वियोग : आध्यात्मिक विकास और ह्रास

इस विश्व में जो कुछ है, वह होता रहता है। 'होना' वस्तु का स्वभाव है। 'नहीं होना' ऐसा जो है, वह वस्तु ही नहीं है। वस्तुएं तीन प्रकार की हैं—

१. अचेतन और अमूर्त—धर्म, अधर्म, आकाश, काल।

२. अचेतन और मूर्त—पुद्गल ३. चेतन और अमूर्त—जीव।

पहली प्रकार की वस्तुओं का होना—परिणमन—स्वाभाविक ही होता है और वह सतत प्रवाहमान रहता है।

पुद्गल में स्वाभाविक परिणमन के अतिरिक्त जीव-कृत प्रायोगिक परिणमन भी होता है, उसे अजीवोदय-निष्पन्न कहा जाता है। शरीर और उसके प्रयोग में परिणत पुद्गल वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श—ये अजीवोदय-निष्पन्न हैं। यह जितना दृश्य संसार है, वह सब या तो जीवत्-शरीर है या जीव-मुक्त शरीर। जीव में स्वाभाविक और पुद्गलकृत प्रायोगिक परिणमन होता है।

स्वाभाविक परिणमन अजीव और जीव दोनों में समरूप होता है। पुद्गल में जीवकृत परिवर्तन होता है, वह केवल उसके संस्थान—आकार का होता है। वह चेतनाशील नहीं, इसलिए इससे उसके विकास-ह्रास, उन्नति-अवनति का क्रम नहीं बनता। पुद्गल जैविक परिवर्तन पर आत्मिक विकास-ह्रास, आरोह-पतन का क्रम अवलम्बित रहता है। इसी प्रकार उससे नानाविध अवस्थाएं और अनुभूतियाँ बनती हैं। यह दार्शनिक चिन्तन का एक मौलिक विषय बन जाता है।

अभ्यास

१. "कर्म" को विभिन्न दर्शनों ने क्या-क्या नाम दिए? जैन दर्शन के अनुसार कर्म क्या है?

२. कर्म को मानने के क्या आधार हैं?

३. आत्मा और कर्म का सम्बन्ध क्यों और कैसे होता है?

४. कर्म की अवस्थाएं कितनी हैं? उनको समझाइए।

५. कर्म के उदय से क्या-क्या होता है?

६. क्या पुरुषार्थ के द्वारा भाग्य को बदला जा सकता है? जैन दर्शन की दृष्टि से उत्तर दें।

७. कर्म-मुक्ति की प्रक्रिया को सरल शब्दों में स्पष्ट करें।

८. निम्नलिखित शब्दों पर टिप्पणी लिखें—लेश्या, निर्जरा, बंध, उदीरणा, पुण्य-पाप। □ □ □

९

जैन दर्शन का सापेक्षवाद : स्याद्वाद

स्याद्वाद

जैन दर्शन के चिन्तन की शैली का नाम अनेकांत-दृष्टि और प्रतिपादन की शैली का नाम स्याद्वाद है।जानना ज्ञान का काम है, बोलना वाणी का। ज्ञान की शक्ति अपरिमित है, वाणी की परिमित। ज्ञेय अनन्त, ज्ञान अनन्त, किन्तु वाणी अनन्त नहीं, क्योंकि एक क्षण में अनन्त ज्ञान अनन्त ज्ञेयों को जान सकता है, किन्तु वाणी के द्वारा कह नहीं सकता। एक तत्त्व (परमार्थ सत्य) अभिन्न सत्यों की समष्टि होता है। एक शब्द एक क्षण में एक सत्य को बता सकता है।

प्रज्ञापनीय भावों का निरूपण वाणी के द्वारा होता है। यह श्रोता के ज्ञान का साधन बनता है। यहाँ एक समस्या उत्पन्न होती है—हम जानें कुछ और ही और कहें कुछ और ही अथवा सुनें कुछ और ही और जानें कुछ और ही, यह कैसे ठीक हो सकता है?

इसका उत्तर जैनाचार्य 'स्यात्' शब्द के द्वारा देते हैं। 'मनुष्य स्यात् है'—इस शब्दावली में सत्ता धर्म की अभिव्यक्ति है। मनुष्य केवल 'अस्तिधर्म'—मात्र नहीं है। इसमें 'नास्ति-धर्म' भी है। 'स्यात्' शब्द यह बताता है कि अभिव्यक्त सत्यांश को ही पूर्ण सत्य मत समझो। अनन्त धर्मात्मक वस्तु ही सत्य है। ज्ञान अपने आप में सत्य ही है। उसके सत्य और असत्य—ये दो रूप प्रमेय के सम्बन्ध से बनते हैं। शब्द न सत्य है और न असत्य। वक्ता दिन को दिन कहता है, तब वह यथार्थ होने के कारण सत्य होता है और यदि रात को दिन कहे तब वही अयथार्थ होने के कारण असत्य बन जाता है। 'स्यात्' शब्द पूर्ण सत्य के प्रतिपादन का माध्यम है। एक धर्म की मुख्यता से वस्तु को बताते हुए भी हम उसकी अनन्तधर्मात्मकता को ओझल नहीं करते। इस स्थिति को संभालने वाला 'स्यात्' शब्द है। यह प्रतिपाद्य धर्म के साथ शेष अप्रतिपाद्य धर्मों की एकता बनाए रखता है। इसलिए इसे प्रमाण-वाक्य या सकलादेश कहा जाता है।

स्याद्वाद : स्वरूप

'स्यात्' शब्द तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय है। इसके प्रशंसा, अस्तित्व, विवाद, विचारणा, अनेकान्त, संशय, प्रश्न आदि अनेक अर्थ होते हैं। जैन दर्शन में

इसका प्रयोग अनेकान्त के अर्थ में होता है। स्याद्वाद अर्थात् अनेकान्तात्मक वाक्य।

स्याद्वाद की नींव है अपेक्षा। अपेक्षा वहाँ होती है, जहाँ वास्तविक एकता और ऊपर से विरोध दीखे। विरोध वहाँ होता है, जहाँ निश्चय होता है। दोनों संशयशील हों, उस दिशा में विरोध नहीं होता। स्याद् का अर्थ है—कथंचिद्—किसी एक अपेक्षा से।

स्याद्वाद का उद्गम अनेकान्त वस्तु है। तत्स्वरूप वस्तु के यथार्थ ग्रहण के लिए अनेकान्त दृष्टि है। स्याद्वाद उस दृष्टि को वाणी द्वारा व्यक्त करने की पद्धति है। वह निमित्तभेद या अपेक्षाभेद से निश्चित विरोधी धर्म-युगलों का विरोध मिटाने वाला है। जो वस्तु सत् है, वही असत् भी है, किन्तु जिस रूप से सत् है, उसी रूप से असत् नहीं है। स्वरूप की दृष्टि से सत् है और पर-रूप की दृष्टि से असत्। दो निश्चित दृष्टि-बिन्दुओं के आधार पर वस्तु-तत्त्व का प्रतिपादन करने वाला वाक्य संशयरूप हो ही नहीं सकता। स्याद्वाद को अपेक्षावाद या कथंचिद्वाद भी कहा जा सकता है।

भगवान् महावीर ने स्याद्वाद की पद्धति से अनेक प्रश्नों का समाधान किया है। उसे आगमयुग का अनेकान्तवाद या स्याद्वाद कहा जाता है। दार्शनिक युग में उसी का विस्तार हुआ, किन्तु उसका मूल रूप नहीं बदला। 'जीव शाश्वत है'—इसमें शाश्वत धर्म मुख्य है और शाश्वत धर्म गौण। 'जीव अशाश्वत है'—इसमें अशाश्वत धर्म मुख्य है और शाश्वत धर्म गौण। यह द्विरूपता वस्तु का स्वभाव-सिद्ध धर्म है। काल-भेद या एकरूपता हमारे वचन से उत्पन्न है। शाश्वत और अशाश्वत का काल भिन्न नहीं होता। फिर भी हम पदार्थ को शाश्वत या अशाश्वत कहते हैं—यह सापेक्ष व्याख्या है। पदार्थ का नियम न शाश्वतवाद है और न उच्छेदवाद। ये दोनों उसके सतत सहचारी धर्म हैं। भगवान् महावीर ने इन दोनों समन्वित धर्मों के आधार पर जात्यन्तरवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा—"पदार्थ न शाश्वत है और न अशाश्वत। वह 'स्यात् शाश्वत' है—और 'स्यात् अशाश्वत' है—वह उभयात्मक है, फिर भी जिस दृष्टि (द्रव्य-दृष्टि) से शाश्वत है, उससे शाश्वत ही है। जिस दृष्टि (पर्याय-दृष्टि) से अशाश्वत है, उससे अशाश्वत ही है। जिस दृष्टि से शाश्वत है, उसी दृष्टि से अशाश्वत नहीं है और जिस दृष्टि से अशाश्वत है, उसी दृष्टि से शाश्वत नहीं है। एक ही पदार्थ एक ही काल में शाश्वत और अशाश्वत—इस विरोधी धर्मयुगल का आधार है, इसलिए वह अनेक-धर्मात्मक है। ऐसे अनन्त विरोधी धर्मयुगलों का वह आधार है, इसलिए अनन्तधर्मात्मक है।"

वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, इसलिए विसदृश भी है और सदृश भी है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ से विसदृश होता है, इसलिए कि उनके सब गुण समान नहीं होते। वे दोनो सदृश भी होते हैं, इसलिए कि उनके अनेक गुण समान भी होते हैं।

चैतन्य गुण की दृष्टि से जीव पुद्गल से भिन्न है, तो अस्तित्व और प्रमेयत्व गुण की अपेक्षा पुद्गल से अभिन्न भी है। कोई भी पदार्थ दूसरे पदार्थ से न सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न, किन्तु भिन्नाभिन्न है। वह विशेष गुण की दृष्टि से भिन्न है और सामान्य गुण की दृष्टि से अभिन्न।

शरीर आत्मा की पौद्गलिक सुख-दुःख की अनुभूति का साधन बनता है, इसलिए वह उससे अभिन्न है। आत्मा चेतन है, शरीर अचेतन है। वह पुनर्भवी है, शरीर एकभवी है इसलिए वे दोनों भिन्न हैं। स्थूल शरीर की अपेक्षा शरीर रूपी है और सूक्ष्म शरीर की अपेक्षा अरूपी है। शरीर आत्मा से कथंचित् अपृथक् भी है, इस दृष्टि से जीवित शरीर चेतन है। वह पृथक् भी है, इस दृष्टि से अचेतन, मृत शरीर अचेतन होता ही है।

यह पृथ्वी स्यात् है, स्यात् नहीं है और स्यात् अवक्तव्य है। वस्तु स्व-दृष्टि से है, पर-दृष्टि से नहीं है। इसलिए वह सत्-असत् उभयरूप है। एक काल में एक धर्म की अपेक्षा वस्तु वक्तव्य है और एक काल में अनेक धर्मों की अपेक्षा वस्तु अवक्तव्य है। इसलिए वह उभयरूप है। जिस रूप में सत् है, उस रूप में सत् ही है और जिस रूप में असत् है, उस रूप में असत् ही है। वक्तव्य-अवक्तव्य का यही रूप बनता है।

इस आगम-पद्धति के आधार पर दार्शनिक युग में स्याद्वाद का रूप चतुष्टय बना—

१. वस्तु स्यात् नित्य है, स्यात् अनित्य है।
२. वस्तु स्यात् सामान्य है, स्यात् विशेष है।
३. वस्तु स्यात् सत् है, स्यात् असत् है।
४. वस्तु स्यात् वक्तव्य है, स्यात् अवक्तव्य है।

उक्त चर्चा में कहीं भी 'स्यात्' शब्द संदेह के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ।

सप्तभंगी

अपनी सत्ता का स्वीकार और पर-सत्ता का अस्वीकार ही वस्तु का वस्तुत्व है। यह स्वीकार और अस्वीकार दोनों एकाश्रयी होते हैं। वस्तु में 'स्व' की सत्ता की भाँति 'पर' की असत्ता नहीं हो, तो उसका स्वरूप ही नहीं बन सकता। वस्तु के स्वरूपा का प्रतिपादन करते समय अनेक विकल्प करने आवश्यक है :

१. स्यात्-अस्ति—पृथ्वी स्व-दृष्टि से है।

२. स्यात्-नास्ति—पृथ्वी पर दृष्टि से नहीं है।

३. स्यात् अवक्तव्य—पृथ्वी उक्त दोनों धर्मों को युगपत् न बताए जाने के कारण अवक्तव्य है।

४. स्यात्-अस्ति, स्यात्-नास्ति—पृथ्वी स्व की अपेक्षा से है, पर की अपेक्षा से नहीं है—यह दो अंशों की क्रमिक विवक्षा है।

५. स्यात्-अस्ति, स्यात्-अवक्तव्य—स्व की अपेक्षा से है, युगपत् स्व-पर की अपेक्षा से अवक्तव्य है।

६. स्यात्-नास्ति, स्यात्-अवक्तव्य—पर की अपेक्षा से नहीं है, युगपत् स्व-पर की अपेक्षा से अवक्तव्य है।

७. स्यात्-अस्ति, स्यात्-नास्ति, स्यात्-अवक्तव्य—एक अंश स्व की अपेक्षा से है, एक अंश पर की अपेक्षा से नहीं है, युगपत् दोनों की अपेक्षा से अवक्तव्य है।

एक विद्यार्थी में योग्यता, अयोग्यता, ये दो धर्म मान कर सात भंगों की परीक्षा करने पर इनकी व्यावहारिकता का पता लग सकेगा। इनमें दो गुण सद्भावरूप हैं और दो उनके प्रतियोगी।

किसी ने अध्यापक से पूछा—'अमुक विद्यार्थी पढ़ने में कैसा है?'

अध्यापक ने कहा—'बड़ा योग्य है।'

१. यहाँ पढ़ाई की अपेक्षा से उसका योग्यता-धर्म मुख्य बन गया और शेष सब धर्म उसके अन्दर छिप गए—गौण बन गए।

दूसरे ने पूछा—'विद्यार्थी नम्रता में कैसा है?'

अध्यापक ने कहा—'बड़ा अयोग्य है?'

२. यहाँ उद्दण्डता की अपेक्षा से उसका अयोग्यता-धर्म मुख्य बन गया और शेष सब धर्म गौण बन गए।

किसी तीसरे व्यक्ति ने पूछा-'वह पढ़ने में और विनय-व्यवहार में कैसा है?

अध्यापक ने कहा—'क्या कहें बड़ा विचित्र है। इसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता।'

३. यह विचार तब निकलता है, जब उसकी पढ़ाई और उच्छृंखलता, ये दोनों बातें एक साथ मुख्य बन दृष्टि के सामने नाचने लग जाती हैं।

४. कभी-कभी ऐसा भी उत्तर होता है, 'भाई! अच्छा ही है, पढ़ने में योग्य है किन्तु वैसे व्यवहार में योग्य नहीं है।'

पाँचवां उत्तर—'योग्य है, फिर भी बड़ा विचित्र है, उसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता।'

छठा उत्तर—'योग्य नहीं, फिर भी बड़ा विचित्र है, उसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता।'

सातवाँ उत्तर—'योग्य भी है, नहीं भी। अरे क्या पूछते हो, बड़ा विचित्र लड़का है, उसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता।'

उत्तर देनेवाले की भिन्न-भिन्न मनःस्थितियाँ होती हैं। कभी उसके सामने योग्यता की दृष्टि प्रधान हो जाती है और कभी अयोग्यता की। कभी एक साथ दोनों और कभी क्रमशः। कभी योग्यता का बखान होते-होते योग्यता-अयोग्यता दोनों प्रधान बनती हैं, तब आदमी उलझ जाता है। कभी अयोग्यता का बखान होते-होते दोनों प्रधान बनती हैं और उलझन आती है। कभी योग्यता और अयोग्यता दोनों का क्रमिक बखान चलते-चलते दोनों पर एक साथ दृष्टि दौड़ते ही 'कुछ कहा नहीं जा सकता'—ऐसी वाणी निकल पड़ती है।

अहिंसा-विकास में अनेकान्तदृष्टि का योग

अहिंसा का विचार अनेक भूमिकाओं पर विकसित हुआ है। कायिक, वाचिक और मानसिक अहिंसा के बारे में अनेक धर्मों में विभिन्न धाराएं मिलती हैं। स्थूल रूप से सूक्ष्मता के बीज भी न मिलते हों, वैसी बात नहीं, किन्तु बौद्धिक अहिंसा के क्षेत्र में भगवान् महावीर ने जो अनेकान्त-दृष्टि दी, उससे जैन धर्म के साथ अहिंसा का अविच्छिन्न सम्बन्ध हो चला।

भगवान् महावीर ने देखा कि हिंसा की जड़ विचारों की यथार्थता है। वैचारिक असमन्वय से मानसिक उत्तेजना बढ़ती है और वह फिर वाचिक एवं कायिक हिंसा के रूप में अभिव्यक्त होती है।

अखण्ड वस्तु जानी जा सकती है, किन्तु एक शब्द के द्वारा एक समय में कही नहीं जा सकती। मनुष्य जो कुछ कहता है, उसमें वस्तु के किसी एक पहलू का निरूपण होता है। वस्तु के जितने पहलू हैं, उतने ही सत्य हैं, जितने सत्य हैं, उतने ही द्रष्टा के विचार हैं। जितने विचार हैं उतनी ही अपेक्षाएं हैं। जितनी अपेक्षाएं हैं, उतने ही कहने के तरीके हैं। जितने तरीके हैं, उतने ही मतवाद हैं। मतवाद एक केन्द्र-बिन्दु है। उसके चारों ओर विवाद-संवाद, संघर्ष-समन्वय, हिंसा-अहिंसा की परिक्रमा लगती है। एक से अनेक के सम्बन्ध जुड़े हैं, सत्य या असत्य के प्रश्न खड़े होने लगते हैं। बस, यहीं से विचारों का स्रोत दो धाराओं में बह चलता है—अनेकांत या अहिंसा, एकांत या हिंसा।

कोई बात या कोई शब्द सही है या गलत, इसकी परख करने के लिए एक दृष्टि की अनेक धाराएं चाहिए। वक्ता ने जो शब्द कहा, तब वह किस अवस्था में था? उसके आस-पास की परिस्थितियाँ कैसी थीं? उसका शब्द किस शब्द-शक्ति से अन्वित था? विवक्षा में किसका प्राधान्य था? उसका उद्देश्य क्या था? वह किस साध्य को लिये चलता था? उसकी अन्य निरूपण पद्धतियाँ कैसी थीं? तत्कालीन सामयिक स्थितियाँ कैसी थीं? आदि-आदि अनेक छोटे-बड़े बाट मिलकर एक-एक शब्द को सत्य की तराजू में तोलते हैं।

सत्य जितना उपादेय है, उतना ही जटिल और छिपा हुआ है। उसे प्रकाश में लाने का एकमात्र साधन है—शब्द। उसके सहारे सत्य का आदान-प्रदान होता है। शब्द अपने-आप में सत्य या असत्य कुछ भी नहीं है। वक्ता की प्रवृत्ति से वह सत्य या असत्य से जुड़ता है। 'रात' एक शब्द है, वह अपने आप में सही या झूठ, कुछ भी नहीं। वक्ता अगर रात को रात कहे तो वह शब्द सत्य और अगर वह दिन को रात कहे तो वही शब्द असत्य हो जाता है। शब्द की ऐसी स्थिति है, तब कैसे कोई व्यक्ति केवल उसी के सहारे सत्य को ग्रहण कर सकता है?

इसीलिए भगवान् महावीर ने बताया—"प्रत्येक धर्म (वस्त्वंश) को अपेक्षा से ग्रहण करो। सत्य सापेक्ष होता है। एक सत्यांश के साथ लगे या छिपे अनेक सत्यांशों को ठुकराकर कोई उसे पकड़ना चाहे तो वह सत्यांश भी उसके सामने असत्यांश बनकर आता है।"

"दूसरों के प्रति ही नहीं किन्तु उनके विचारों के प्रति भी अन्याय मत करो। अपने को समझने के साथ-साथ दूसरों को समझने की भी चेष्टा करो।"—यही है अनेकान्त दृष्टि, यही है अपेक्षावाद और इसी का नाम है—बौद्धिक अहिंसा।

भगवान् महावीर ने इसे दार्शनिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रखा, इसे जीवन-व्यवहार में भी उतारा। चण्डकौशिक साँप ने भगवान् के डंक मारे, तब उन्होंने सोचा—'यह अज्ञानी है, इसीलिए मुझे काट रहा है, इस दशा में मैं इस पर क्रोध कैसे करूँ?' संगम ने भगवान् को कष्ट दिये तब उन्होंने सोचा—'यह मोह-व्याक्षिप्त है, इसलिए यह ऐसा जघन्य कार्य करता है। मैं मोह-व्याक्षिप्त नहीं हूँ, इसलिए मुझे क्रोध करना उचित नहीं।'

भगवान् ने चण्डकौशिक और अपने भक्तों को समानदृष्टि से देखा, इसलिए देखा कि उनके विश्वमैत्री की दृष्टि से वह उनका शत्रु नहीं माना जा सकता। इस बौद्धिक अहिंसा का विकास होने की आवश्यकता है।

कौटुम्बिक, सामाजिक और राजनीतिक अखाड़े संघर्षों के लिए सदा खुले रहते हैं। उनमें अनेकांतदृष्टिलभ्य बौद्धिक अहिंसा का विकास किया जाए तो बहुत सारे संघर्ष टल सकते हैं। एकान्तिक आग्रह से ही द्वैधीभाव बढ़ता है। एक रोगी कहे, मिठाई बहुत हानिकारक वस्तु है। उस स्थिति में स्वस्थ व्यक्ति को एकाएक झेंपना नहीं चाहिए। उसे सोचना चाहिए—'कोई भी निरपेक्ष वस्तु लाभकारक या हानिकारक नहीं होती।' उसके लाभ और हानि की वृत्ति किसी व्यक्ति-विशेष के साथ जुड़ने से बनती है। जहर किसी के लिए जहर है, वही किसी के लिए अमृत होता है, परिस्थिति के परिवर्तन में जहर जिसके लिए जहर होता है, उसी के लिए अमृत भी बन जाता है। किसी में कुछ और किसी में कुछ विशेष तथ्य मिल ही जाते हैं। इस प्रकार हर क्षेत्र में जैन धर्म अहिंसा को साथ लिए चलता है।

तत्त्व और आचार पर अनेकान्तदृष्टि

एकांतवाद आग्रह या संक्लिष्ट मनोदशा का परिणाम है, इसलिए वह हिंसा है। अनेकान्त दृष्टि से आग्रह या संक्लेश नहीं होता, इसलिए वह अहिंसा है। साधक को उसी का प्रयोग करना चाहिए।

एकांतदृष्टि से व्यवहार भी नहीं चलता, इसलिए उसका स्वीकार अनाचार है। अनेकांतदृष्टि से व्यवहार का भी लोप नहीं होता, इसलिए उसका स्वीकार आचार है। इनके अनेक स्थानों का वर्णन करते हुए सूत्रकृतांग सूत्र में जो बताया गया है, उसमें से कुछ बिन्दु प्रस्तुत हैं—

१. पदार्थ नित्य ही है या अनित्य ही है—यह मानना अनाचार है। पदार्थ कथंचित् (किसी एक अपेक्षा से) नित्य है और कथंचित् अनित्य—यह मानना आचार है।

२. सब जीव विसदृश ही हैं—यह मानना आचार है। चैतन्य, अमूर्तत्व आदि की दृष्टि से प्राणी आपस में समान भी हैं और कर्म, गति, जाति, विकास आदि की दृष्टि से विलक्षण भी हैं—यह मानना आचार है।

३. सब जीव कर्म की गांठ से बन्धे हुए ही रहेंगे अथवा सब छूट जायेंगे—यह मानना अनाचार है। काल, लब्धि, वीर्य पराक्रम आदि सामग्री पाने वाले मुक्त होंगे भी और नहीं पाने वाले नहीं भी होंगे—यह मानना आचार है।

४. छोटे और बड़े जीवों को मारने में पाप सरीखा होता है अथवा सरीखा नहीं होता—यह मानना अनाचार है। हिंसा में बन्ध की दृष्टि से सादृश्य भी है और बन्ध की मन्दता-तीव्रता की दृष्टि से असादृश्य भी—यह मानना आचार है।

५. स्थूल और सूक्ष्म शरीर अभिन्न ही हैं या भिन्न ही हैं—यह मानना अनाचार है। इन शरीरों की घटक वर्गणाएं भिन्न हैं, इस दृष्टि से भिन्न भी हैं और एक देश-काल में उपलब्ध होते हैं, इसलिए अभिन्न भी हैं—यह मानना आचार है।

६. कोई पुरुष कल्याणवान् ही है या पापी है—यह नहीं कहना चाहिए। एकान्ततः कोई भी व्यक्ति कल्याणवान् या पापी नहीं होता।

७. जगत् दुःख रूप ही है—यह नहीं कहना चाहिए। मध्यस्थदृष्टि वाले इस जगत् में परम सुखी भी होते हैं।

भगवान् महावीर ने तत्त्व और आचार दोनों पर अनेकान्त-दृष्टि से विचार किया। इन पर एकान्तदृष्टि से किया जाने वाला विचार मानव-संक्लेश या आग्रह का हेतु बनता है। अहिंसा और संक्लेश का जन्मजात विरोध है। इसलिए अहिंसा को पल्लवित करने के लिए अनेकान्तदृष्टि परम आवश्यक है। आत्मवादी दर्शनों का मुख्य लक्ष्य है—बंध और मोक्ष की मीमांसा करना। बंध, बंध-कारण, मोक्ष और मोक्ष-कारण—यह चतुष्टय अनेकान्त को माने बिना घट नहीं सकता।

अभ्यास

१. "स्याद्" शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए "शायद्" से उसी भिन्नता बताएं तथा सिद्ध करें कि स्याद्वाद संशयवाद नहीं है।

२. क्या जैन दर्शन के स्याद्वाद को सापेक्षवाद कहा जा सकता है? कैसे?

३. अन्य विद्वानों द्वारा कृत स्याद्वाद की गई समीक्षा की समीक्षा करें।

४. 'सप्तभंगी' को किसी सरल उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करें। (उदाहरण अपनी ओर से दें)।

५. अनेकान्त दृष्टि का क्या तात्पर्य है? अहिंसा के विकास में उसका क्या योगदान हो सकता है?

□□□

१०

समन्वय का राजमार्ग : नयवाद

सापेक्ष दृष्टि

प्रत्येक वस्तु में अनेक विरोधी धर्म प्रतीत होते हैं। अपेक्षा (relativity) के बिना उनका विवेचन नहीं किया जा सकता। अखण्ड द्रव्य को जानते समय उसकी समग्रता जान ली जाती है, किन्तु इससे व्यवहार नहीं चलता। उपयोग अखण्ड ज्ञान का हो सकता है। अमुक समय में अमुक कार्य के लिए अमुक वस्तु-धर्म का ही व्यवहार या उपयोग होता है, अखण्ड वस्तु का नहीं। हमारी सहज अपेक्षाएं भी ऐसी ही होती हैं।

विटामिन 'डी' की कमी वाला व्यक्ति सूर्य का आतप लेता है, वह बालसूर्य की किरणों का लेगा। शरीर-विजय (तपस्या) की दृष्टि से सूर्य का ताप सहने वाला तरुण-सूर्य की धूप में आतप लेगा। भिन्न-भिन्न अपेक्षा के पीछे पदार्थ का भिन्न-भिन्न उपयोग होता है। प्रत्येक उपयोग के पीछे हमारी निश्चय अपेक्षा जुड़ी हुई होती है। यदि अपेक्षा न हो तो प्रत्येक वचन और व्यवहार आपस में विरोधी बन जाता है।

एक काठ के टुकड़े का मूल्य एक रुपया होता है, उसका उत्कीर्णन के बाद दस रुपया मूल्य हो जाता है, यह क्यों? काठ नहीं बदला, फिर भी उसकी स्थिति बदल गई। उसके साथ-साथ मूल्य की अपेक्षा बदल गई। काठ की अपेक्षा से उसका अब भी वह एक रुपया मूल्य है, किन्तु खुदाई की अपेक्षा से मूल्य, नौ रुपये और बढ़ गया। एक और दस का मूल्य विरोधी है, पर अपेक्षा-भेद समझने पर विरोध नहीं रहता।

अपेक्षा हमारा बुद्धिगत धर्म है। वह भेद से पैदा होता है। भेद मुख्य-वृत्तया चार होते हैं—

१. वस्तु-भेद।
२. क्षेत्र-भेद या आश्रय-भेद।
३. काल-भेद।
४. अवस्था-भेद।

इसलिये समस्याओं से मुक्ति पाने के लिए अनेकान्तदृष्टि ही शरण है। काठ के टुकड़े के मूल्य पर जो हमने विचार किया, वह अवस्था-भेद से उत्पन्न

अपेक्षा है। यदि हम इस अवस्था-भेद से उत्पन्न होने वाली अपेक्षा की उपेक्षा कर दें, तो भिन्न मूल्यों का समन्वय नहीं किया जा सकता।

आम की ऋतु में रुपये के दो सेर आम मिलते हैं। ऋतु बीतने पर सेर आम का मूल्य दो रुपये हो जाता है। कोई भी व्यवहारी एक ही वस्तु के इन विभिन्न मूल्यों के लिए झगड़ा नहीं करता। उसकी सहज बुद्धि में कालभेद की अपेक्षा समाई हुई रहती है।

कश्मीर में मेवे का जो भाव होता है, वह राजस्थान में नहीं होता। कश्मीर का व्यक्ति राजस्थान में आकर यदि कश्मीर-सुलभ मूल्य में मेवा लेने का आग्रह करे, तो वह बुद्धिमानी नहीं होती। वस्तु एक है, यह अन्वय की दृष्टि से है, किन्तु वस्तु की क्षेत्राश्रित पर्याय एक नहीं है। जिसे आम की आवश्यकता है, वह सीधा आम के पास ही पहुँचता है। उसकी अपेक्षा यही तो है कि आम के अतिरिक्त सब वस्तुओं के अभाव धर्मवाला और आम्र-परमाणु सद्भावी आम उसे मिले। इस सापेक्षदृष्टि के बिना व्यावहारिक समाधान भी नहीं मिलता।

भगवान् महावीर की अपेक्षा-दृष्टियाँ

अपेक्षा-दृष्टि से ये निर्णय निकलते हैं—

१. वस्तु न नित्य है, न अनित्य है, किन्तु नित्य-अनित्य का समन्वय है।

२. वस्तु न भिन्न है, न अभिन्न है, किन्तु भेद-अभेद का समन्वय है।

३. वस्तु न एक है, न अनेक है, किन्तु एक-अनेक का समन्वय है।

वस्तु के विशेष गुण (सहभावी धर्म) का कभी नाश नहीं होता, इसलिए वह नित्य और उसके क्रमभावी धर्म पर्याय बनते-बिगड़ते रहते हैं, इसलिए वह अनित्य है। "वह अनन्त धर्मात्मक है, इसलिए उसका एक ही क्षण में एक स्वभाव से उत्पाद होता है, दूसरे स्वभाव से विनाश और तीसरे स्वभाव से स्थिति होती है।" वस्तु में इन विरोधी धर्मों का सहज सामंजस्य है। ये अपेक्षा-दृष्टियाँ वस्तु के विरोधी धर्मों को मिटाने के लिए नहीं हैं। ये उस विरोध को मिटाती हैं, जो तर्कवाद से उद्भूत होता है।

समन्वय की दिशा

अपेक्षावाद समन्वय की ओर गति है। इसके आधार पर परस्पर विरोधी मालूम पड़ने वाले विचार सरलतापूर्वक सुलझाए जा सकते हैं। मध्ययुगीन दर्शन-प्रणेताओं की गति इस ओर कम रही। यह दुःख का विषय है। जैन दार्शनिक नयवाद के ऋणी होते हुए भी अपेक्षा का खुलकर उपयोग नहीं कर

सके, यह अत्यन्त खेद की बात है। यदि ऐसा हुआ होता, तो सत्य का मार्ग इतना कँटीला नहीं होता।

समन्वय की दिशा बताने वाले आचार्य नहीं हुए, ऐसा भी नहीं। अनेक आचार्य हुए हैं, जिन्होंने दार्शनिक विवादों को मिटाने के लिए प्रचुर श्रम किया। इनमें हरिभद्र आदि अग्रस्थानीय हैं।

आचार्य हरिभद्र ने कर्तृत्ववाद का समन्वय करते हुए लिखा है—"आत्मा में परम ऐश्वर्य, अनन्त शक्ति होती है, इसलिए वह ईश्वर है और वह कर्त्ता है। इस प्रकार कर्तत्ववाद अपने आप व्यवस्थित हो जाता है।"

जैन दर्शन ईश्वर को कर्त्ता नहीं मानता, नैयायिक आदि मानते हैं। अनाकार ईश्वर का प्रश्न है, वहाँ तक दोनों में कोई मतभेद नहीं/ नैयायिक आदि ईश्वर के साकार रूप में कर्तृव्य बतलाते हैं और जैन दर्शन मनुष्य में ईश्वर बनने की क्षमता बतलाता है। नैयायिकों के मतानुसार ईश्वर का साकार अवतार कर्त्ता है और जन-दृष्टि से ऐश्वर्य-शक्ति-सम्पन्न मनुष्य कर्त्ता है, इस बिन्दु पर सत्य अभिन्न हो जाता है, केवल विचार-पद्धति का भेद रहता है।

परिणाम, फल या निष्कर्ष हमारे सामने होते हैं, उनमें विशेष विचार-भेद नहीं होता। अधिकांश मतभेद निमित्त, हेतु या परिणाम-सिद्धि की प्रक्रिया में होते हैं। उदाहरण के लिए एक तथ्य ले लीजिये—ईश्वर-कर्तृत्ववादी संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय मानते हैं। जैन, बौद्ध आदि ऐसा नहीं मानते। दोनों विचारधाराओं के अनुसार जगत् अनादि-अनन्त है। जैन-दृष्टि के अनुसार असत् से सत् उत्पन्न नहीं होता। बौद्ध-दृष्टि के अनुसार सत्-प्रवाह के बिना सत् उत्पन्न नहीं होता। जन्म और मृत्यु, उत्पाद और नाश बराबर चल रहे हैं, इन्हें कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। अब भेद रहा सिर्फ इनकी निमित्त प्रक्रिया में। सृष्टिवादियों के सृष्टि, पालन और संहार के निमित्त हैं—ब्रह्मा, विष्णु और महेश। जैन पदार्थ-मात्र में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य मानते हैं। पदार्थ-मात्र की स्थिति स्व-निमित्त से होती है। उत्पाद और व्यय स्व-निमित्त से होते ही हैं और पर-निमित्त से भी होते हैं। बौद्ध उत्पाद और नाश मानते हैं, स्थिति सीधे शब्दों में नहीं मानते किन्तु सन्तति-प्रवाह के रूप में भी स्थिति भी उन्हें स्वीकार करनी पड़ती है।

जगत् का सूक्ष्म या स्थूल रूप में उत्पाद, नाश और ध्रौव्य चल रहा है, इसमें कोई मतभेद नहीं। जैन-दृष्टि के अनुसार सत् पदार्थ त्रिरूप हैं, और वैदिक दृष्टि के अनुसार ईश्वर त्रिरूप है। मतभेद सिर्फ इसकी प्रक्रिया में है। निमित्त के विचार-भेद से प्रक्रिया को नैनायिक 'सृष्टिवाद', जैन 'परणामि-नित्यवाद' और बौद्ध

'प्रतीत्य-समुत्पादवाद' कहते हैं। इस प्रकार अनेक दार्शनिक तथ्य हैं, जिन पर विचार किया जाए, तो उनके केन्द्र बिन्दु पृथक्-पृथक् नहीं जान पड़ते।

समन्वय के दो स्तम्भ

समन्वय केवल वास्तविक दृष्टि से नहीं किया जाता। निश्चय और व्यवहार दोनों उसके स्तम्भ बनते हैं। निश्चय नय वस्तु-स्थिति जानने के लिए है। व्यवहार नय वस्तु के स्थूल रूप में होने वाली आग्रह-बुद्धि को मिटाता है। वस्तु के स्थूल रूप (जो इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है) को ही अन्तिम सत्य मानकर न चलें, यही समन्वय की दृष्टि है। पदार्थ एक रूप में पूर्ण नहीं होता। वह स्वरूप से सत्तात्मक, पररूप से असत्तात्मक होकर पूर्ण होता है। केवल सत्तात्मक या केवल असत्तात्मक रूप में कोई पदार्थ पूर्ण नहीं होता। सर्व-सत्तात्मक या सर्व-असत्तात्मक रूप जैसा कोई है ही नहीं। पदार्थ की ऐसी स्थिति है, तब नय-निरपेक्ष बनकर उसका प्रतिपादन कैसे कर सकते हैं? इसका अर्थ यह नहीं होता कि नय पूर्ण सत्य तक ले नहीं जाते। वे ले जाते अवश्य हैं, किन्तु सब मिलकर। एक नय पूर्ण सत्य का एक अंश होता है। वह अन्य नय-सापेक्ष रहकर सत्यांश का प्रतिपादक बनता है।

नय

वस्तु के अन्य अंशों का निराकरण न करने वाले तथा उसके एक अंश को ग्रहण करने वाले ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहा जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो अनन्त धर्मात्मक वस्तु के विवक्षित अंश का ग्रहण तथा शेष अंशों का निराकरण न करने वाले प्रतिपादक का अभिप्राय नय कहलाता है। एक धर्म (वस्तु-स्वभाव या वस्तु-गुण) का ज्ञान और धर्म का वाचक शब्द—ये दोनों नय कहलाते हैं। ज्ञानात्मक नय को 'नय' और वचनात्मक नय को 'नय-वाक्य' या 'सद्वाद' कहा जाता है।

नय-ज्ञान विशेषणात्मक होता है, इसलिए यह मानसिक ही होता है, ऐन्द्रियक नहीं होता। नय से अनन्तधर्मक वस्तु के एक धर्म का बोध होता है। इससे जो बोध होता है, वह यथार्थ होता है, इसीलिए यह प्रमाण है, किन्तु इससे अखण्ड वस्तु नहीं जानी जाती, इसलिए यह पूर्ण प्रमाण नहीं बनता। यह एक समस्या बन जाती है। दार्शनिक आचार्यों ने इसे यों सुलझाया कि अखण्ड वस्तु के निश्चय की अपेक्षा से नय प्रमाण नहीं है। वह वस्तु-खण्ड को यथार्थ रूप से ग्रहण करता है, इसलिए अप्रमाण भी नही है। अप्रमाण तो है ही नहीं, पूर्णता की अपेक्षा प्रमाण भी नहीं है, इसलिए इसे प्रमाणांश कहना चाहिए।

सत्य का व्याख्या द्वार

सत्य का साक्षात् होने के पूर्व सत्य की व्याख्या होनी चाहिए। एक सत्य के अनेक रूप होते हैं। अनेक रूपों की एकता और एक की अनेकरूपता ही सत्य है। उसकी व्याख्या का जो साधन है, वही नय है।

सत्य अपने आप में पूर्ण होता है। न तो अनेकता-निरपेक्ष एकता सत्य है और न एकता-निरपेक्ष अनेकता। एकता और अनेकता का समन्वित रूप ही पूर्ण सत्य है। सत्य की व्याख्या वस्तु, क्षेत्र, काल और अवस्था की अपेक्षा से होती है। एक के लिए जो गुरु है, वही दूसरे के लिए लघु, एक के लिए जो दूर है, वही दूसरे के लिए निकट, एक के लिए जो ऊर्ध्व है, वही दूसरे के लिए निम्न, एक के लिए जो सरल है, वही दूसरे के लिए वक्र। अपेक्षा के बिना इनकी व्याख्या नहीं हो सकती। गुरु और लघु क्या है? दूर और निकट क्या है? ऊर्ध्व और निम्न क्या है? सरल और वक्र क्या है? वस्तु, क्षेत्र आदि की निरपेक्ष स्थिति में इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता, क्योंकि पदार्थ अनन्त गुणों का सहज सामंजस्य है। उसके सभी गुण-धर्म या शक्तियाँ अपेक्षा की शृंखला में गुँथे हुए हैं। एक गुण की अपेक्षा से पदार्थ का जो स्वरूप है, वह उसकी अपेक्षा से है, दूसरे की अपेक्षा से नहीं।

अभ्यास

१. सापेक्ष दृष्टि को सरल शब्दों में स्पष्ट करें।

२. सापेक्ष दृष्टि से विभिन्न मतों का समन्वय कैसे किया जा सकता है?

३. प्रवृत्ति और निवृत्ति या श्रद्धा और तर्क के बीच में भी क्या सापेक्ष दृष्टि कारगर हो सकती है? समझाकर लिखिए।

४. नय या स्याद्वाद किसे कहते हैं? नयवाद से वस्तु-विश्लेषण किस प्रकार किया जा सकता है।

५. निश्चय नय और व्यवहार नय का क्या तात्पर्य है?

□□□

खण्ड २

इतिहास और साहित्य

१

भगवान् ऋषभ से पार्श्व तक

कालचक्र

कालचक्र जागतिक ह्रास और विकास के क्रम का प्रतीक है। काल का पहिया नीचे की ओर जाता है तब भौगोलिक परिस्थिति तथा मानवीय सभ्यता और संस्कृति ह्रासोन्मुखी होती है। काल का पहिया जब ऊपर की ओर आता है तब वे विकासोन्मुखी होती हैं।

काल की इस ह्रासोन्मुखी गति को अवसर्पिणी और विकासोन्मुखी गति को उत्सर्पिणी कहा जाता है।

अवसर्पिणी में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, संहनन, संस्थान, आयुष्य, शरीर, सुख आदि पर्यायों की क्रमशः अवनति होती है।

उत्सर्पिणी में उक्त पर्यायों की क्रमशः उन्नति होती है। वह अवनति और उन्नति सामूहिक होती है, वैयक्तिक नहीं होती।

अवसर्पिणी की चरम सीमा ही उत्सर्पिणी का आरम्भ है और उत्सर्पिणी का अन्त अवसर्पिणी का जन्म है। प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के छह-छह विभाग (पूर्व) होते हैं।

अवसर्पिणी के छह विभाग :

१. सुषम-सुषमा	२. सुषमा
३. सुषम-दुःषमा	४. दुःषम-सुषमा
५. दुःषमा	६. दुःषम-दुःषमा

उत्सर्पिणी के छह विभाग इस व्यतिक्रम से होते हैं :

१. दुःषम -दुःषमा	२. दुःषमा	३. दुःषम सुषमा
४. सुषम-दुःषमा	५. सुषमा	६. सुषम-सुषमा

१. सुषम-सुषमा

हमारे युग का जीवन-क्रम सुषम-सुषमा से शुरू होता है। उस समय भूमि स्निग्ध थी। वर्ण, गंध, रस और स्पर्श अत्यन्त मनोज्ञ थे। कर्मयुग का

प्रवर्तन नहीं हुआ था। पदार्थ अति स्निग्ध थे। अतः भोजन की मात्रा बहुत स्वल्प थी। खाद्य पदार्थ अप्राकृतिक नहीं थे। विकार बहुत कम थे, इसलिए उनका जीवन-काल बहुत लम्बा होता था। अकाल-मृत्यु नहीं होती थी। यह चार कोटि-कोट सागरोपम (असंख्यात वर्षों) का एकान्त सुखमय पर्व बीत गया।

२. सुषमा

तीन कोटि-कोटि सागरोपम का दूसरा सुखमय पर्व शुरू हुआ। इसमें भोजन की मात्रा कुछ बढ़ी, फिर भी स्वल्प रह गई। जीवनकाल कुछ छोटा हो गया और पदार्थों की स्निग्धता भी घट गई।

३. सुषम-दुःषमा

तीसरे सुख-दुःखमय पर्व में और कमी आ गई। भोजन की मात्रा बढ़ गई तो जीवन की अवधि घट गई। इस युग की काल-मर्यादा थी—दो कोटि-कोटि सागर। इसके अंतिम चरण में पदार्थों की स्निग्धता में बहुत कमी हुई।

यह कर्म-युग की शैशव-काल की कहानी है। समाज-संगठन अभी नहीं हुआ था। यौगलिक व्यवस्था चल रही थी। एक जोड़ा ही सब कुछ होता था। न कुल था, न वर्ग और न जाति। जनसंख्या कम थी। माता-पिता से एक युगल जन्म लेता, वही दम्पत्ति होता। विवाह-संस्था का उदय नहीं हुआ था। जीवन की आवश्यकता बहुत सीमित भी। भोजन, वस्त्र और निवास के साधन कल्पवृक्ष थे। गाँव बसे नहीं थे। न कोई स्वामी था और न सेवक। शासक-शासित भी नहीं थे। पति-पत्नी या जन्य-जनक के सिवा सम्बन्ध जैसी कोई वस्तु नहीं थी।

धर्म और उसके प्रचारक भी नहीं थे। उस समय के लोग सहज धर्म के अधिकारी और शांत स्वभाव वाले थे। चुगली, निन्दा, आरोप जैसे मनोभाव जन्मे ही नहीं थे। हीनता और उत्कर्ष की भावनाएं भी उत्पन्न नहीं हुई थीं। लड़ने-झगड़ने की मानसिक ग्रंथियाँ भी नहीं थीं। वे शस्त्र और शास्त्र दोनों से अनजान थे।

अब्रह्मचर्य सीमित था। मार-काट और हत्या नहीं होती थी। न संग्रह था, न चोरी और न असत्य। वे सदा सहज आनन्द और शांति में लीन रहते थे।

काल चक्र का पहला और दूसरा भाग बीत गया और तीसरे भाग का अधिकांश बीत गया। ये यौगलिक व्यवस्था के अन्तिम दिनों की कहानी है।[१]

कुलकर-व्यवस्था

असंख्य वर्षों के बाद नये युग का आरम्भ हुआ। यौगलिक व्यवस्था धीरे-धीरे टूटने लगी। दूसरी कोई व्यवस्था अभी जन्म नहीं पाई। सक्रांन्ति-काल

१. वैदिक परम्परामें १४ मन्वन्तर काल की दृष्टि है। राजर्षि मनु ने १४ मन्वन्तरों में स्वायंभुव, स्वारोचिष, औत्तम, नाभस, रेवत और चाक्षुस छह मन्वन्तरों की बीतने पर सातवें मन्वन्तर—वैवस्वत में मानवोत्पत्ति कही है, और उसके पश्चात् सात और मन्वन्तरों तक सृष्टि की आयु बताई है।

"शतं मे अयुतं हायनान्द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः"—वेदोक्ति के अनुसार यह सृष्टि-आयु सौ अयुत हायनों—वर्षों के पीछे क्रमशः २, ३, ४ अंक लिखने पर ४३२ करोड़ वर्ष होती है।

अथर्ववेद में लिखा है कि भूत, भविष्यमय काल रूपी घर एक हजार खम्भों पर खड़ा है। मनुस्मृति (अध्याय-एक) में लिखा है कि कृत-युग में चार हजार वर्षों के साथ ४०० वर्षों की संध्या और ४०० वर्षों का संध्यांश शामिल है जबकि त्रेता, द्वापर, कलियुग में क्रमशः तीन, दो, एक हिस्सा होता है। तदनुसार चार युगों की वर्ष संख्या १२००० बनती है जो देव वर्ष कहे गए हैं। शतपथ ब्राह्मण में इसे प्रकारान्तर से लिखा हुआ है कि प्रजापति ने कुल १२ हजार बृहती छन्द बनाये। एक बृहती छन्द में ३६ अक्षर होने से ऋग्वेद में ३६×१२००० = ४,३२,००० अक्षर हैं। यही कलियुग की वर्ष संख्या भी है। ऋग्वेद के अनुसार इसका दस गुणा महायुग होता है और उसका हजार गुणा कल्पकाल अथवा सृष्टि की आयु होती है जिसे ऊपर कालरूपी घर कहा गया है।

इन हजार महायुगों के कल्पकाल को १४ मन्वन्तरों में बाँटा गया है और प्रत्येक मन्वन्तर में ७१ महायुग माने गए हैं। गणनाम वैवस्वत मनु का जन्म (सं. २०४७) १२०. ५३३, ०९१ वर्ष पूर्व हुआ। इस गणना में सत्ताईस महायुगों का काल ११६,६४०००० वर्ष और वर्तमान २८वें महायुग के तीन युग— सतयुग—१७२८०००, त्रेता—१२९६००० और द्वापर—८६४००० वर्ष शामिल हैं। वर्तमान कलियुग का आरंभ आज से ५०९१ वर्ष पूर्व उस समय हुआ जबकि वृहस्पति ग्रह ने पुष्य नक्षत्र में प्रवेश किया। गणना अनुसार बृहस्पति के पुष्य नक्षत्र में प्रवेश को सं. २०४७ में ५०९१ वर्ष बीत चुके हैं और यह साठ वर्षीय संवत्सर चक्र में उसका ८५वाँ चक्र है जिसके ५१ वर्ष बीत गए हैं।

चल रहा था। एक ओर आवश्यकता-पूर्ति के साधन कम हुए, तो दूसरी ओर जनसंख्या और जीवन की आवश्यकताएं कुछ बढ़ीं। इस स्थिति में आपसी संघर्ष और लूट-खसोट होने लगी। उसके फलस्वरूप 'कुल' व्यवस्था का विकास हुआ। लोग 'कुल' के रूप में संगठित होकर रहने लगे। कुलों का एक मुखिया होता, वह 'कुलकर' कहलाता। वह सब कुलों की व्यवस्था करता, उनकी सुविधाओं का ध्यान रखता और लूट-खसोट पर नियन्त्रण रखता। यह शासन तंत्र का आदिम रूप था।

मनुष्य प्रकृति में भलाई और बुराई दोनों के बीज होते हैं। परिस्थिति का योग पा वे अंकुरित हो उठते हैं। देश, काल, पुरुषार्थ, कर्म और नियति के योग की सह-स्थिति का नाम है—परिस्थिति। वह व्यक्ति की स्वभावगत वृत्तियों की उत्तेजना का हेतु बनती है। उससे प्रभावित व्यक्ति बुरा या भला बन जाता है।

जीवन की आवश्यकताएं कम थीं। उसके निर्वाह के साधन सुलभ थे। मनुष्य को संग्रह करने और दूसरों द्वारा अधिकृत वस्तु को हड़पने की बात नहीं सूझी। इसके बीज उसमें थे, पर उन्हें अंकुरित होने का अवसर नहीं मिला। ज्यों ही जीवन की आवश्यकताएं बढ़ीं, उसके निर्वाह के साधन दुर्लभ हुए कि संग्रह और अपहरण की भावना उभर आयी। स्वगत शासन टूटता गया, बाहरी शासन बढ़ता गया।

कुलकर सात हुए हैं। उनके नाम हैं—विमलवाहन, चक्षुष्मान, यशस्वी, अभिचन्द्र, प्रसेनजित्, मरुदेव व नाभि।

तीन दंडनीतियाँ

कुलकर-व्यवस्था में तीन दण्ड-नीतियाँ प्रचलित हुईं। पहले कुलकर विमलवाहन के समय में 'हाकार' नीति का प्रयोग हुआ। उस समय के मनुष्य स्वयं अनुशासित और लज्जाशील थे। 'हा! तूने यह क्या किया'—ऐसा कहना गुरुतर दण्ड था।

दूसरे कुलकर चक्षुष्मान् के समय भी यही नीति चली। तीसरे और चौथे—यशस्वी और अभिचन्द्र कुलकर के समय में छोटे अपराध के लिए 'हाकार' और बड़े अपराध के लिए 'माकार' (मत करो) नीति का प्रयोग किया गया।

पाँचवें, छठे और सातवें—प्रसेनजित्, मरुदेव और नाभि कुलकर के समय में 'धिक्कार' नीति चली। छोटे अपराध के लिए 'हाकार', मध्यम अपराध के लिए 'माकार' और बड़े अपराध के लिए 'धिक्कार' नीति का प्रयोग किया। उस

समय के मनुष्य बहुत सरल, मर्यादा-प्रिय और स्वयं शासित थे। खेद-प्रदर्शन, निषेध और तिरस्कार—ये मृत्यु-दंण्ड में अधिक होते।

युगलों को जो कल्प-वृक्षों से प्रकृतिसिद्ध भोजन मिलता था, वह अपर्याप्त हो गया। जो युगल शांत और प्रसन्न थे, उनमें क्रोध का उदय होने लगा। वे आपस में लड़ने-झगड़ने लगे। धिक्कार नीति का उल्लंघन होने लगा। जिन युगलों ने क्रोध, लड़ाई जैसी स्थितियाँ कभी न देखीं और न कभी सुनीं—वे इन स्थितियों से घबरा गये। इस स्थिति पर नियन्त्रण पाने के लिए राजा की आवश्यकता हुई।

कुलकर नाभि की उपस्थिति में विचार हुआ और नाभि ने ऋषभ को राजा घोषित किया। इस प्रकार नाभि-पुत्र ऋषभ पहले राजा बने। उनका राज्याभिषेक हुआ। उन्होंने राज्य-संचालन के लिए नगर बसाया।

लोग अरण्य-वास से हट नगरवासी बन गये। असाधु लोगों पर शासन और साधु लोगों की सुरक्षा के लिए उन्होंने व्यवस्था की। चोरी, लूट-खसोट न हो, नागरिक जीवन व्यवस्थित रहे—इसके लिए आरक्षक-दल स्थापित किया गया। राज्य की शक्ति को कोई चुनौती न दे सके, इसलिए सेना और सेनापतियों की व्यवस्था हुई। जैसे औषध को व्याधि का प्रतिकार माना जाता, वैसे ही दण्ड अपराध का प्रतिकार माना जाने लगा। राजा ऋषभ की दण्ड-व्यवस्था में चार प्रकार का दण्ड-विधान था—

१. **परिभाषक**—थोड़े समय के लिए नजरबन्द करना—क्रोध-पूर्ण शब्दों में अपराधी को 'यहीं बैठ जाओ' का आदेश देना।

२. **मंडलिबन्ध**—नजरबन्द करना—नियमित क्षेत्र से बाहर न जाने का आदेश देना।

३. **बन्ध**—बंधन का प्रयोग।

४. **घात**—डंडे का प्रयोग।

राजतन्त्र में चार प्रकार के अधिकारी थे। आरक्षक वर्ग के सदस्य 'उग्र', मंत्रि परिषद् के सदस्य 'भोज', परामर्शदात्री समिति के सदस्य या प्रान्तीय प्रतिनिधि 'राजन्य' और शेष कर्मचारी 'क्षत्रिय' कहलाए।

ऋषभ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को अपना उत्तराधिकारी चुना। यह क्रम राजतन्त्र का अंग बन गया। यह युगों तक विकसित होता रहा।

खाद्य-समस्या का समाधान

कुलकर युग में लोगों की भोजन सामग्री थी—कन्द, मूल, पत्र, पुष्प और फल। बढ़ती जनसंख्या के लिए कन्द आदि पर्याप्त नहीं रहे और वनवासी लोग

गृहस्वामी होने लगे। इससे पूर्व प्राकृतिक वनस्पति पर्याप्त थी। अब बोये बीज से अनाज होने लगा।

वे पकाना नहीं जानते थे और न उनके पास पकाने का कोई साधन था। वे कच्चा अनाज खाते थे। समय बदला। कच्चा अनाज दुष्पाच्य हो गया। लोग ऋषभ के पास पहुँचे और अपनी समस्या का समाधान माँगा। ऋषभ ने अनाज को हाथों से घिसकर खाने की सलाह दी। लोगों ने वैसा ही किया। कुछ समय बाद वह विधि भी असफल होने लगी।

समय के चरण आगे बढ़े। काल स्निग्ध-रूक्ष बना, तब वृक्षों के पारस्परिक घर्षण से अग्नि उत्पन्न हुई। वह फैली। वन जलने लगे। लोगों ने उस अग्नि को देखा, अग्नि का उपयोग और पाक-विद्या सीखी। खाद्य-समस्या का समाधान हो गया।

शिल्प और व्यवसाय

अग्नि की उत्पत्ति ने विकास का स्रोत खोल दिया। पात्र, औजार, वस्त्र, चित्र आदि शिल्पों का जन्म हुआ। अन्नपाक के लिए पात्र-निर्माण आवश्यक थे, इसलिए लौहकार-शिल्प का आरम्भ हुआ। सामाजिक जीवन ने वस्त्र-शिल्प और गृह-शिल्प को जन्म दिया। नख, केश आदि काटने के लिए नापित-शिल्प (क्षौर-कर्म) का प्रवर्तन हुआ। इन पाँचों शिल्पों का प्रवर्तन आग की उत्पत्ति के बाद हुआ।

पदार्थों के विकास के साथ-साथ उनके विनिमय की आवश्यकता अनुभूत हुई। कृषिकार, व्यापारी और रक्षक-वर्ग भी अग्नि की उत्पत्ति के बाद बने। कहा जा सकता है—अग्नि ने कृषि के उपकरण, आयात-निर्यात के साधन और अस्त्र-शस्त्रों को जन्म दे मानव के भाग्य को बदल दिया।

पदार्थ बढ़े तब परिग्रह में ममता बढ़ी, संग्रह होने लगा। कौटुम्बिक ममत्व भी बढ़ा। लोकैषणा और धनैषणा के भाव जाग उठे।

सामाजिक और सांस्कृतिक परम्पराओं का सूत्रपात

पहले मृतकों की दाह-क्रिया नहीं की जाती थी, अब लोक मृतकों को जलाने लगे। पहले पारिवारिक ममत्व नहीं था, अब वह विकसित हो गया। इसलिए मृत्यु के बाद लोग रोने लगे। उसकी स्मृति में वेदी और स्तूप बनाने की प्रथा चल पड़ी। इस प्रकार समाज में कुछ परम्पराओं ने जन्म ले लिया।

ऋषभ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को ७२ कलाएं सिखलाईं। कनिष्ठ पुत्र बाहुबली को प्राणी की लक्षण-विद्या का उपदेश दिया। बड़ी पुत्री ब्राह्मी को अठारह लिपियों और सुन्दरी को गणित अध्ययन कराया। धनुर्वेद, अर्थशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, क्रीड़ा-विधि आदि-आदि विद्याओं का प्रवर्तन कर लोगों को सुव्यवस्थित और सुसंस्कृत बना दिया।

कर्त्तव्य-बुद्धि से लोक-व्यवस्था का प्रवर्तन कर ऋषभ राज्य करने लगे। बहुत लम्बे समय तक वे राजा रहे।

जीवन के अन्तिम भाग में वे राज्य त्याग कर मुनि बने। मोक्ष-धर्म का प्रवर्तन हुआ। वर्षों की साधना के बाद भगवान् ऋषभ को कैवल्य-लाभ हुआ। उन्होंने साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका—इन चार तीर्थों की स्थापना की। मुनि-धर्म के पाँच महाव्रत और गृहस्थ-धर्म के बारह व्रतों का उपदेश दिया। साधु-साध्वियों का संघ बना। श्रावक-श्राविकाएं भी बनीं।

साम्राज्य-लिप्सा

भगवान् ऋषभ कर्मयुग के पहले राजा थे। अपने सौ पुत्रों को अलग-अलग राज्यों का भार सौंप वे मुनि बन गए। सबसे बड़ा पुत्र भरत था। वह चक्रवर्ती सम्राट बनना चाहता था। उसने अपने ९८ भाइयों को अपने अधीन करना चाहा। सबके पास दूत भेजे। ९८ भाई मिले। आपस में परामर्श कर भगवान् ऋषभ के पास पहुँचे। सारी स्थिति भगवान् ऋषभ के सामने रखी। दुविधा की भाषा में पूछा—'भगवन्! क्या करें? बड़े भाई से लड़ना नहीं चाहते और अपनी स्वतन्त्रता को खोना भी नहीं चाहते। भाई भरत ललचा गया है। आपके दिए हुए राज्य को वह हमसे वापस लेना चाहता है। हम उससे लडें, तो भ्रातृ-युद्ध की गलत परम्परा पड़ जाएगी। बिना लड़े राज्य सौंप दें, तो साम्राज्य का रोग बढ़ जाएगा। परमपिता! इस दुविधा से उबारिये।'

भगवान् ने कहा—'पुत्रों! तुमने ठीक सोचा। लड़ना भी बुरा है और क्लीव होना भी बुरा है। राज्य दो परों वाला पक्षी है। उसका मजबूत पर युद्ध है। उसकी उड़ान में पहले वेग होता है, अन्त में थकान। वेग में से चिनगारियाँ उछलती हैं। उड़ान वाले लोग उसमें जल जाते हैं। उड़ने वाला चलता-चलता थक जाता है, शेष रहती है निराशा और अनुताप।

'पुत्रो! तुम्हारी समझ सही है। युद्ध बुरा है—विजेता के लिए भी और पराजित के लिए भी। पराजित अपनी सत्ता को गंवाकर पछताता है और विजेता कुछ नहीं पाकर पछताता है। प्रतिशोध की चिता जलाने वाला उसमें स्वयं न जले, यह कभी नहीं होता।

'राज्य रूपी पक्षी का दूसरा पर दुर्बल है। वह है कायरता। मैं तुम्हें कायर बनने की सलाह भी कैसे दे सकता हूँ? पुत्रो! मैं तुम्हें ऐसा राज्य देना चाहता हूँ जिसके साथ लड़ाई और कायरता की कड़ियाँ जुड़ी हुई नहीं हैं।'

भगवान् की आश्वासन-भरी वाणी सुन वे सारे खुशी से झूम उठे। आशाभरी दृष्टि से एकटक भगवान् की ओर देखने लगे। भगवान् की भावना को वे नहीं पकड़ सके। भौतिक जगत् की सत्ता और अधिकारों से परे कोई राज्य हो सकता है—यह उनकी कल्पना में नहीं समाया। उनकी किसी विचित्र भू-खंड को पाने की लालसा तीव्र हो उठी। भगवान् इसलिए तो भगवान् थे कि उनके पास कुछ भी नहीं था। उत्सर्ग की चरम रेखा पर पहुँचने वाले ही भगवान् बनते हैं। संग्रह के चरम बिन्दु पर पहुँच कोई भगवान् बना हो—ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है।

भगवान् ने कहा—'संयम का क्षेत्र निर्बाध राज्य है। इसे लो। न तुम्हें वहाँ कोई अधीन करने आएगा और न वहाँ युद्ध और कायरता का प्रसंग होगा।'

पुत्रों ने देखा, पिता उन्हें राज्य त्यागने की सलाह दे रहे हैं। पूर्व कल्पना का पटाक्षेप हो गया। अकल्पित चित्र सामने आया। आखिर वे भी भगवान् के बेटे थे। भगवान् के मार्ग-दर्शन का सम्मान किया। वे राज्य को त्याग स्व-राज्य की ओर चल पड़े। स्व-राज्य की अपनी विशेषताएं हैं। इसे पाने वाला सब कुछ पा जाता है। राज्य की मोहकता तब तक रहती है, जब तक व्यक्ति स्व-राज्य की सीमा में नहीं चला आता। एक संयम के बिना व्यक्ति सब कुछ पाना चाहता है। संयम के पाने पर कुछ भी पाए बिना सब कुछ पाने की कामना नष्ट हो जाती है।

त्याग शक्तिशाली अस्त्र है। इसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। भरत का आक्रामक दिल पसीज गया। वह दौड़ा-दौड़ा आया। अपनी भूल पर पछतावा हुआ। भाइयों से क्षमा माँगी। स्वतन्त्रतापूर्वक अपना-अपना राज्य सम्भालने को कहा। किन्तु वे अब राज्य-लोभी सम्राट भरत के भाई नहीं रहे थे। वे अकिंचन जगत् के भाई बन चुके थे। भरत का भ्रातृ-प्रेम अब उन्हें नहीं ललचा सका। वे उसकी लालची आंखों को देख चुके थे। इसलिए उसकी गीली आंखों का उन पर कोई असर नहीं हुआ। भरत हाथ मलते हुए घर लौट गया।

साम्राज्यवाद एक मानसिक प्यास है। वह उभरने के बाद सहसा नहीं बुझती। भरत ने एक-एक कर सारे राज्यों को अपने अधीन कर लिया। बाहुबली को उसने नहीं छुआ। अट्ठानवे भाइयों के राज-त्याग को वह अब भी नहीं भूला था। अन्तर्द्वन्द्व चलता रहा। एकछत्र राज्य का सपना पूरा नहीं हुआ। असंयम का

जगत् ही ऐसा है, जहाँ सब कुछ पाने पर भी व्यक्ति को अकिंचनता की अनुभूति होती रहती है।

युद्ध का पहला चरण

दूत के मुँह से भरत का संदेश सुन कर बाहुबलीजी की भृकुटि तन गई। दबा हुआ रोष उभर आया। कांपते होठों से कहा—'दूत! भरत अब भी भूखा है? अपने अट्ठानवे सगे भाइयों का राज्य हड़पकर तृप्त नहीं बना? हाय! यह कैसी मनोदशा है? साम्राज्यवादी के लिए निषेध जैसा कुछ होता ही नहीं। मेरा बाहुबल किससे कम है? क्या मैं दूसरे राज्यों को नहीं हड़प सकता? किन्तु यह मानवता का अपमान, शक्ति का दुरुपयोग और व्यवस्था का भंग है, मैं ऐसा कार्य नहीं कर सकता। व्यवस्था के प्रवर्तक हमारे पिता हैं। उनके पुत्रों को तोड़ने में लज्जा का अनुभव होना चाहिये। शक्ति का प्राधान्य पशु-जगत का चिह्न है। मानव-जगत् में विवेक का प्राधान्य होना चाहिए। शक्ति का सिद्धान्त पनपा, तो बच्चों और बूढ़ों का क्या बनेगा? युवक उन्हें चट कर जायेंगे। रोगी, दुर्बल और अपंग के लिए यहाँ कोई स्थान नहीं रहेगा। फिर तो यह सारा विश्व रौद्र बन जाएगा। क्रूरता के साथी हैं—ज्वाला-स्फुलिंग, ताप और सर्वनाश। क्या मेरा भाई अभी-भी समूचे जगत् को सर्वनाश की ओर धकेलना चाहता है? आक्रमण एक उन्माद है। आक्रांता उससे बेभान हो दूसरों पर टूट पड़ता है।

'भरत ने ऐसा ही किया। मैं उसे चुप्पी साधे देखता रहा। अब उस उन्माद के रोग का शिकार मैं हूँ। हिंसा से हिंसा की आग नहीं बुझती—यह मैं जानता हूँ। आक्रमण को अभिशाप मानता हूँ। किन्तु आक्रमणकारी को सहूँ—यह मेरी तितिक्षा (सहनशक्ति) से परे है। तितिक्षा मनुष्य के उदात्त चरित्र की विशेषता है। किन्तु उसकी भी एक सीमा है। मैंने उसे निभाया है। तोड़ने वाला समझता ही नहीं, तो आखिर जोड़ने वाला कब तक जोड़े?

भरत की विशाल सेना 'बहली' की सीमा पर पहुँच गई। इधर बाहुबली अपनी छोटी-सी सेना सजा आक्रमण को विफल करने आ गया। भाई-भाई के बीच युद्ध छिड़ गया। स्वाभिमान और स्वदेश-रक्षा की भावना से भरी हुई बाहुबली की छोटी-सी सेना ने सम्राट् की विशाल सेना को भागने के लिए विवश कर दिया। सम्राट् की सेना ने फिर पूरी तैयारी के साथ आक्रमण किया। दुबारा भी मुँह की खानी पड़ी। लम्बे समय तक आक्रमण और बचाव की लड़ाइयाँ होती रहीं। आखिर दोनों भाई सामने आ खड़े हुए। तादात्म्य आंखों पर छा गया। संकोच के घेरे में दोनों ने अपने आपको छिपाना चाहा, किन्तु दोनों विवश थे। एक के सामने साम्राज्य के सम्मान का प्रश्न था, दूसरे के सामने स्वाभिमान का। वे विनय और

वात्सल्य की मर्यादा को जानते हुए भी रणभूमि में उतर आए। दृष्टि-युद्ध, मुष्टि-युद्ध आदि पाँच प्रकार के युद्ध होने निश्चित हुए। उन सब में सम्राट् पराजित हुआ। विजयी हुआ बाहुबली। भरत को छोटे भाई से पराजित होना बहुत चुभा। वह आवेग को रोक न सका। मर्यादा को तोड़ बाहुबली पर चक्र का प्रयोग कर डाला। इस अप्रत्याशित घटना से बाहुबली का खून उबल गया। प्रेम का स्रोत एक साथ ही सूख गया। बचाव की भावना से विहीन हाथ उठा तो सारे सन्न रह गए। भूमि और आकाश बाहुबली की बिरुदावलियों से गूँज उठे। भरत अपने अविचारित प्रयोग से लज्जित हो सिर झुकाए खड़ा रहा। सारे लागे भरत की भूल को भुला देने की प्रार्थना में लग गये।

एक साथ लाखों कण्ठों से एक ही स्वर गूंजा—'महान् पिता के पुत्र भी महान् होते हैं। सम्राट् ने अनुचित किया, पर छोटे भाई के हाथ से बड़े भाई की हत्या और अधिक अनुचित कार्य होगा। महान् ही क्षमा कर सकता है। क्षमा करने वाला कभी छोटा नहीं होता। महान् पिता के महान् पुत्र! हमें क्षमा कीजिए, हमारे सम्राट् को क्षमा कीजिए।' इन लाखों कण्ठों की विनम्र स्वर-लहरियों ने बाहुबली के शौर्य को मार्गान्तरित कर दिया। बाहुबली ने अपने आपको सम्हाला। महान् पिता की स्मृति ने वेग का शमन किया। उठा हुआ हाथ विफल नहीं लौटता। उसका प्रहार भरत पर नहीं हुआ। वह अपने सिर पर लगा। सिर के बाल नोच डाले और अपने पिता के पथ की ओर चल पड़ा।

बाहुबली के पैर आगे नहीं बढ़े। वे पिता की शरण में चले गए, पर उनके पास नहीं गए। अहंकार अब भी बच रहा था। पूर्व-दीक्षित छोटे भाइयों को नमस्कार करने की बात आते ही उनके पैर रुक गये। वे एक वर्ष तक ध्यान-मुद्रा में खड़े रहे। विजय और पराजय की रेखाएं अनगिनत होती हैं। असंतोष पर विजय पाने वाले बाहुबली अहं से पराजित हो गए। उनका त्याग और क्षमा उन्हें आत्म-दर्शन की ओर ले गए। उनके अहं ने उन्हें पीछे ढकेल दिया। बहुत लम्बी ध्यान-मुद्रा के उपरान्त भी आगे नहीं बढ़ सके।

'ये पैर रुक क्यों रहे हैं? सरिता का प्रवाह रुक क्यों रहा है?' ये शब्द बाहुबली के कानों को बींध हृदय को पार कर गए। बाहुबली ने आंखों खोलीं। देखा, बाह्मी और सुन्दरी सामने खड़ी हैं। बहनों की विनम्र-मुद्रा को देख उनकी आंखें झुक गईं।

'अवस्था से छोटे-बड़े की मान्यता एक व्यवहार है। वह सार्वभौम सत्य नहीं है। ये मेरे पैर गणित के छोटे-से प्रश्न में उलझ गए। छोटे भाइयों को नमस्कार कैसे करूँ—इस तुच्छ चिन्तन में मेरा महान्-साध्य विलीन हो गया। अवस्था लौकिक मानदण्ड है। लोकोत्तर जगत् में छुटपन और बड़प्पन के मानदण्ड बदल देते

हैं। वे भाई मुझसे छोटे नहीं हैं, उनका चरित्र विशाल है। मेरे अहं ने मुझे छोटा बना दिया। अब मुझे अविलम्ब भगवान् के पास चलना चाहिए।'

पैर उठे कि बन्धन टूट पड़े। नम्रता के उत्कर्ष में समता का प्रवाह बह चला। बाहुबली केवली बन गए। सत्य का साक्षात् ही नहीं हुआ, वे स्वयं सत्य बन गए। शिव अब उनका आराध्य नहीं रहा, वे स्वयं शिव बन गए। आनन्द अब उनके लिए प्राप्य नहीं रहा, वे स्वयं आनन्द बन गए।

भरत का अनासक्त योग

भरत अब असहाय जैसा हो गया। भाई जैसा शब्द उसके लिए अर्थवान न रहा। वह सम्राट् बना रहा, किन्तु उसका हृदय अब साम्राज्यवादी नहीं रहा। पदार्थ मिलते रहे, पर आसक्ति नहीं रही। वह उदासीन भाव से राज्य-संचालन करने लगा।

भगवान् अयोध्या आए। प्रवचन हुआ। एक प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा। 'भरत मोक्ष-गामी।' एक सदस्य भगवान् पर बिगड़ गया और उन पर पुत्र के पक्षपात का आरोप लगाया। भरत ने उसे फांसी की सजा सुना दी। वह घबरा गया। भरत के पैरों में गिर पड़ा और अपराध के लिए क्षमा माँगी। भरत ने कहा—'तेल भरा कटोरा लिए सारे नगर में धूम आओ। तेल की एक बूँद नीचे न डालो, तो तुम छूट सकते हो। दूसरा कोई विकल्प नहीं है।'

अभियुक्त ने वैसा ही किया। वह बड़ी सावधानी से नगर में घूम आया और सम्राट् के सामने प्रस्तुत हुआ।

सम्राट् ने पूछा—नगर में घूम आये?

'जी हाँ।' अभियुक्त ने सफलता के भाव से कहा।

सम्राट्—नगर में कुछ देखा तुमने?

अभियुक्त—नहीं सम्राट्! कुछ नहीं देखा।

सम्राट्—कई नाटक देखे होंगे?

अभियुक्त—जी नहीं! मौत के सिवा कुछ भी नहीं देखा।

सम्राट्—कुछ गीत तो सुने होंगे?

अभियुक्त—सम्राट् की साक्षी से कहता हूँ, मौत की गुनगुनाहट के सिवा कुछ नहीं सुना।

सम्राट्—मौत का इतना डर?

अभियुक्त—सम्राट् इसे क्या जाने? यह मृत्युदण्ड पाने वाला ही समझ सकेगा है।

सम्राट्—क्या सम्राट् अमर रहेगा? कभी नहीं। मौत के मुँह से कोई नहीं बच सकता। तुम एक जीवन की मौत से डर गये। न तुमने नाटक देखे और न गीत सुने। मैं मौत की लम्बी परम्परा से परिचित हूँ। यह साम्राज्य मुझे नहीं लुभा सकता।

सम्राट् की करुणापूर्ण आंखों ने अभियुक्त को अभय बना दिया। मृत्यु दण्ड उसे लिए केवल शिक्षाप्रद था। सम्राट् की अमरत्व-निष्ठा ने उसे मौत से सदा के लिए उबार लिया।

श्रामण्य की ओर

सम्राट् भरत नहाने को थे। स्नानघर में गये, अंगूठी खोली। अंगुली की शोभा घट गई। फिर उसे पहना, शोभा बढ़ गई। 'पर पदार्थ से शोभा बढ़ती है, यह सौन्दर्य कृत्रिम है।'—इस चिन्तन में लगे और लगे सहज सौन्दर्य ढूँढ़ने। भावना का प्रवाह आगे बढ़ा। कर्म-मल को धो डाला। क्षणों में ही मुनि बने, न वेश बदला, न राजप्रासाद से बाहर निकले, किन्तु इनका आन्तरिक संयम इनसे बाहर निकल आया और वे पिता के पथ पर चल पड़े।

४. दुःषम-सुषमा

ऋषभ के पश्चात् जैन धर्म के चौथे तीर्थंकर तक काल का तीसरा चरण समाप्त हुआ। काल का चौथा चरण दुःषम-सुषमा आया, जिसमें शेष बीस तीर्थंकर हुए।

तीर्थंकर अरिष्टनेमि

जैन धर्म के बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि हुए। उस समय सोरियपुर नगर में अन्धक कुल के नेता समुद्रविजय राज्य करते थे। उनकी पटरानी का नाम शिवा था। उसके चार पुत्र थे—अरिष्टनेमि, रथनेमि, सत्यनेमि और दृढ़नेमि।

अरिष्टनेमि का जीव जब शिवारानी के गर्भ में आया तब माता ने चौदह स्वप्न देखे। श्रावण-कृष्णा पंचमी को रानी ने पुत्र-रत्न का प्रसव किया। स्वप्न में रिष्टरत्नमय नेमि देखे जाने के कारण पुत्र का नाम अरिष्टनेमि रखा।

अरिष्टनेमि युवा हुए। इंद्रिय-विषयों की ओर उनका अनुराग नहीं था। वे विरक्त थे। पिता समुद्रविजय ने सोचा कि ऐसा उपक्रम किया जाये जिससे कि अरिष्टनेमि विषयों के प्रति आसक्त होकर गृहस्थ जीवन जीये। अनेक प्रयत्न किये। अनेक प्रलोभन दिए गए। पर वे अपने लक्ष्य से विचलित नहीं हुए। कुछ

समय बीता। अन्त में श्री कृष्ण के समझाने पर वे विवाह करने के लिए राजी हो गए।

भोज कुल के राजन्य उग्रसेन की पुत्री राजीमती के साथ उनका विवाह निश्चित हुआ। विवाह से पूर्व किए जाने वाले सारे रीति-रिवाज सम्पन्न हुए। विवाह का दिन आया। राजीमती अलंकृत हुई। कुमार अरिष्टनेमि भी अलंकृत होकर हाथी पर आरूढ़ हुए। मंगलदीप सजाए गए। बाजे बजने लगे। वर-यात्रा प्रारम्भ हुई। हजारों लोगों ने उसे देखा। वह विवाह-मण्डप की ओर धीरे-धीरे बढ़ रही थी। एक स्थान पर अरिष्टनेमि को करुण शब्द सुनाई दिए। उन्होंने महावत से पूछा—'ये शब्द कहाँ से आ रहे हैं?' महावत ने कहा—'देव! ये शब्द पशुओं की चीत्कार के हैं। वे आपके विवाह में सम्मिलित होने वाले व्यक्तियों के लिए भोज्य बनेंगे। मरण-भय से वे आक्रन्दन कर रहे हैं।'

अरिष्टनेमि का मन खिन्न हो गया। उन्होंने कहा—'यह कैसा आनन्द! यह कैसा विवाह! जहाँ हजारों मूक पशुओं का वध किया जाता है। यह तो संसार में परिभ्रमण का हेतु है। मैं इसमें क्यों पड़ूँ!' उन्होंने हाथी को वहाँ से अपने निवास-स्थान की ओर मोड़ दिया। वे माता-पिता के पास गए और प्रव्रजित होने की इच्छा व्यक्त की। माता-पिता की आज्ञा प्राप्त करके वे तीन दिन की तपस्या में उज्जयंत पर्वत पर सहस्राम्रबन में श्रावण शुक्ला षष्ठी के दिन एक हजार व्यक्तियों के साथ प्रव्रजित हो गए।

उन्हें चोपन दिन के बाद आश्विन कृष्णा अमावस्या के दिन कैवल्य प्राप्ति हो गई। वे केवली बने। वे धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कर बाईसवें तीर्थंकर हो गए।

छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु घोर आंगिरस ऋषि थे।

जैन आगमों के अनुसार श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि थे। घोर आंगिरस ने श्रीकृष्ण को जिस धारणा का उपदेश दिया है, वह जैन परम्परा से भिन्न नहीं है। 'तू अक्षित-अक्षय है, अच्युत-अविनाशी है और प्राण-संशित—अतिसूक्ष्मप्राण है।' इस त्रयी को सुनकर श्रीकृष्ण अन्य विद्याओं के प्रति तृष्णाहीन हो गए। जैन दर्शन आत्मवाद की भित्ति पर अवस्थित है। घोर आंगिरस ने जो उपदेश दिया, उसका सम्बन्ध आत्मवादी धारणा से है। 'इसीभासिय' में आंगिरस नामक प्रत्येक-बुद्ध का उल्लेख है। वे भगवान्-अरिष्टनेमि के शासनकाल में हुए थे। इस आधार पर यह सम्भावना की जा सकती है कि घोर आंगिरस या तो अरिष्टनेमि के शिष्य या उनके विचारों से प्रभावित कोई सन्यासी रहे होंगे।

इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि श्रीकृष्ण और अरिष्टनेमि का पारिवारिक सम्बन्ध था। अरिष्टनेमि समुद्रविजय के और श्रीकृष्ण वसुदेव के पुत्र थे। समुद्रविजय और वसुदेव सगे भाई थे। श्रीकृष्ण ने अरिष्टनेमि के विवाह के लिए प्रयत्न किया। अरिष्टनेमि की दीक्षा के समय वे उपस्थित थे। राजीमती को भी दीक्षा के समय में उन्होंने भावुक शब्दों में आशीर्वाद दिया।

श्री कृष्ण के प्रिय अनुज गजसुकुमार ने अरिष्टनेमि के पास दीक्षा ली।

श्री कृष्ण की आठ पत्नियाँ अरिष्टनेमि के पास प्रव्रजित हुईं। श्री कृष्ण के पुत्र और उनके पारिवारिक लोग अरिष्टनेमि के शिष्य बने। जैन साहित्य में अरिष्टनेमि और श्री कृष्ण के वार्तालापों, प्रश्नोत्तरों और विविध चर्चाओं के अनेक उल्लेख मिलते हैं।

वेदों में श्री कृष्ण के देव रूप की चर्चा नहीं है। छान्दोग्य-उपनिषद् में भी श्री कृष्ण के यथार्थ रूप का वर्णन है। पौराणिक काल में श्री कृष्ण का रूप-परिवर्तन होता है। वे सर्वशक्तिमान देव बन जाते हैं। श्री कृष्ण के यथार्थ-रूप का वर्णन जैन आगमों में मिलता है। अरिष्टनेमि और उनकी वाणी से वे प्रभावित थे, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

उस समय सौराष्ट्र की आध्यात्मिक चेतना का आलोक समूचे भारत को आलोकित कर रहा था।

तीर्थंकर पार्श्व

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्व हुए। उनका तीर्थ-प्रवर्तन भगवान् महावीर से २५० वर्ष पहले हुआ। भगवान् महावीर के समय तक उनकी परम्परा अविच्छिन्न थी। भगवान् महावीर के माता-पिता भगवान् पार्श्व के अनुयायी थे। अहिंसा और सत्य की साधना को समाजव्यापी बनाने का श्रेय भगवान् पार्श्व को है। भगवान् पार्श्व अहिंसक परम्परा के उन्नयन द्वारा बहुत लोकप्रिय हो गये थे। इसकी जानकारी हमें 'पुरिसादाणीय' (पुरुषादानीय) विशेषण के द्वारा मिलती है। भगवान् महावीर भगवान् पार्श्व के लिए इस विशेषण का सम्मानपूर्वक प्रयोग करते थे।

ये काशी नरेश अश्वसेन के पुत्र थे। इनकी माता का नाम वामादेवी था। ये ३० वर्ष की अवस्था में दीक्षित हुए। वर्षों तक साधना कर केवली बने। तीर्थ की स्थापना कर ऋषभ की शृंखला में तेईसवें तीर्थंकर हुए।

इनका जन्म ई.पू. ८७७ में हुआ। इन्होंने सौ वर्षों की आयु व्यतीत कर ई.पू. ७७७ में सम्मेदशिखर (पारसनाथ पहाड़ी) पर परि-निर्वाण को प्राप्त किया।

इनके १७८ वर्ष पश्चात् भगवान् महावीर का जन्म हुआ। पार्श्व के समय में चातुर्याम धर्म प्रवर्तित था।

एक बार राजकुमार पार्श्व गंगा के किनारे घूमने निकले। वहाँ एक तापस पंचाग्नि तप कर रहा था। चारों दिशाओं में अग्नि जल रही थी। ऊपर से सूर्य का प्रचण्ड ताप आ रहा था। पार्श्व वहाँ आकर रुके। उन्हें जन्म से अवधिज्ञान (एक प्रकार का अतीन्द्रिय ज्ञान) प्राप्त था। उस दिव्य ज्ञान से उन्होंने लक्कड़ में जल रहे सर्प-युगल को जान लिया। उन्होंनें तापस से कहा—'यह क्या? जल रहे इस लक्कड़ में साँप का एक जोड़ा है। वह जलकर भस्म हो जाएगा।' लक्कड़ को बाहर निकाला गया। साँप का जोड़ा अधजला हो चुका था। उसे देखकर सब आश्चर्यचकित रह गए। राजकुमार पार्श्व ने उसे नमस्कार मन्त्र सुनाया। वह सर्प-युगल मर कर देव-रूप में उत्पन्न हुए। धरणेन्द्र-पद्मावती के नाम से वह युगल पार्श्वनाथ का परम उपासक बना।

पार्श्व का धर्म बिल्कुल सीधा-सादा था। हिंसा, असत्य, स्तेय तथा परिग्रह इन चार बातों के त्याग करने का वे उपदेश देते थे। इतने प्राचीन काल में अहिंसा को इतना सुसम्बद्ध रूप देने का यह पहला ही उदाहरण है।

पार्श्व मुनि ने एक और भी बात की। उन्होंने अहिंसा को सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह—इन तीन नियमों के साथ जकड़ दिया। इस कारण पहले जो अहिंसा ऋषि-मुनियों के आचरण तक ही सीमित थी और जनता के व्यवहार में जिसका कोई स्थान न था, अब वह इन नियमों के सम्बन्ध में सामाजिक और व्यावहारिक हो गई।

पार्श्व मुनि ने तीसरी बात यह की कि अपने नवीन धर्म के प्रचार के लिए उन्होंने संघ बनाए। बौद्ध साहित्य में इस बात का पता लगता है कि बुद्ध के समय जो संघ विद्यमान थे, उन सब में जैन साधु और साध्वियों का संघ सबसे बड़ा था।

पार्श्व के पहले ब्राह्मणों के बड़े-बड़े समूह थे, पर वे सिर्फ यज्ञ-याग का प्रचार करने के लिए ही थे। यज्ञ-याग का तिरस्कार कर उसका त्याग कर जंगलों में तपस्या करने वालों के संघ भी थे। तपस्या का एक अंग समझकर ही वे अहिंसा-धर्म का पालन करते थे, पर समाज में उसका उपदेश नहीं देते थे। वे लोगों से बहुत कम मिलते-जुलते थे।

"बुद्ध के पहले यज्ञ-याग को धर्म मानने वाले ब्राह्मण थे और उसके बाद यज्ञ-याग से ऊबकर जंगलों में जाने वाले तपस्वी थे। बुद्ध के समय ऐसे ब्राह्मण और तपस्वी न थे, ऐसी बात नहीं है। पर इन दो प्रकार के दोषों को देखने वाले

तीसरे प्रकार के सन्यासी भी थे और उन लोगों में पार्श्व मुनि के शिष्यों को पहला स्थान देना चाहिए।"[१]

जैन परम्परा के अनुसार चातुर्याम धर्म के प्रथम प्रवर्तक भगवान् अजितनाथ और अन्तिम प्रवर्तक भगवान् पार्श्व हैं। दूसरे तीर्थंकर से लेकर तेईसवें तीर्थंकर तक चातुर्याम का उपदेश चला। केवल भगवान् ऋषभ और भगवान् महावीर ने पाँच महाव्रत-धर्म का उपदेश दिया।

अभ्यास

१. मानवीय सभ्यता से पूर्व यौगलिक व्यवस्था का क्या स्वरूप था?

२. क्या ऋषभ को मानवीय-सभ्यता का संस्थापक कहा जा सकता है? क्यों?

३. भरत-बाहुबली युद्ध का अपने शब्दों में वर्णन करें।

४. भरत की अनासक्ति को कैसे प्रमाणित किया गया?

५. तीर्थंकर अरिष्टनेमि या पार्श्व का पूर्ण परिचय देते हुए बतायें कि जैन धर्म ऐतिहासिक दृष्टि से महावीर से भी प्राचीन है।

१. पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म—लेखक धर्मानन्द कौशम्बी।

२

भगवान् महावीर और उनकी शिक्षाएं

जन्म और परिवार

दुःषम-सुषमा नामक काल-खण्ड पूरा होने में ७४ वर्ष, ११ महीने, साढ़े सात दिन बाकी थे। ग्रीष्म ऋतु थी। चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की मध्यरात्रि की वेला थी। उस समय भगवान् महावीर का जन्म हुआ। यह ईस्वी पूर्व ५९९ की बात है। विदेह में कुण्डपुर नामक एक नगर था। उसके दो भाग थे। उत्तर भाग का नाम क्षत्रिय कुण्डग्राम और दक्षिण भाग का नाम ब्राह्मण कुण्डग्राम । भगवान् का जन्म दक्षिण कुण्डग्राम में हुआ था।

भगवान् की माता त्रिशला और पिता सिद्धार्थ थे। वे भगवान् पार्श्व की परम्परा के श्रमणोपासक थे। वैशाली गणतन्त्र के प्रमुख महाराज चेटक भगवान् के मामा थे। भगवान् के पिता सिद्धार्थ उस गणराज्य के एक सदस्य थे और क्षत्रिय कुण्डग्राम के अधिपति थे। भगवान् महावीर वैशाली गणतन्त्र के वातावरण में पले-पुसे।

भगवान् के बड़े भाई का नाम नन्दिवर्धन था। उनका विवाह चेटक की पुत्री ज्येष्ठा के साथ हुआ था। भगवान् के काका का नाम सुपार्श्व और बड़ी बहन का नाम सुदर्शना था।

नाम और गोत्र

भगवान् जब त्रिशला के गर्भ में आये, तब से सम्पदाएं बढ़ीं, इसलिए माता-पिता ने उनका नाम वर्धमान रखा।

वे ज्ञात (नाग) नामक क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न हुए, इसलिए कुल के आधार पर उनका नाम नागपुत्र (नायपुत्त) हुआ।

साधना के दीर्घकाल में उन्होंने अनेक कष्टों का वीर-वृत्ति से सामना किया। अपने लक्ष्य से कभी भी विचलित नहीं हुए, इसलिए उनका नाम महावीर हुआ। यही नाम सबसे अधिक प्रचलित है।

सिद्धार्थ काश्यप गोत्रीय थे। पिता का गोत्र ही पुत्र का गोत्र होता है। इसलिए महावीर काश्यप गोत्रीय कहलाए।

यौवन और विवाह

बाल क्रीड़ा के बाद अध्ययन का समय आया। तीर्थंकर गर्भकाल से अवधि-ज्ञानी (अतीन्द्रिय-ज्ञानी) होते हैं। महावीर भी अवधि-ज्ञानी थे। वे पढ़ने के लिए गये। अध्यापक जो पढ़ाना चाहता था, वह उन्हें ज्ञात था। आखिर अध्यापक ने कहा—आप स्वयं सिद्ध हैं। आपको पढ़ने की आवश्यकता नहीं।

यौवन आया। महावीर का विवाह हुआ। वे सहज विरक्त थे। विवाह करने की उनकी इच्छा नहीं थी। पर माता-पिता के आग्रह से उन्होंने विवाह किया।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार महावीर अविवाहित ही रहे। श्वेताम्बर साहित्य के अनुसार उनका विवाह क्षत्रिय कन्या यशोदा के साथ हुआ। उनके प्रियदर्शना नाम की एक कन्या हुई। उसका विवाह जमालि के साथ हुआ।

महावीर के एक शेषवती (दूसरा नाम यशस्वी) नाम की दौहित्री (धेवती) थी।

महाभिनिष्क्रमण

वे जब अट्ठाईस वर्ष के हुए, तब उनके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया। उन्होंने तत्काल श्रमण बनना चाहा पर नन्दिवर्धन के आग्रह से वैसा हो न सका। उन्होंने महावीर के घर में रहने का आग्रह किया। वे उसे टाल न सके। दो वर्ष तक फिर घर में रहे। जब जीवन उनका एकांत विरक्तिमय बीता। इस समय उन्होंने कच्चा जल पीना छोड़ दिया, रात्रि-भोज नहीं किया और ब्रह्मचारी रहे।

तीस वर्ष की अवस्था में उनका अभिनिष्क्रमण हुआ।

उन्होंने बारह वर्ष तक ध्यान-साधना की तथा शांत, मौन और दीर्घ तपस्वी जीवन बिताया।

साधन और सिद्धि

साधना के लिए एकांतवास और मौन—ये आवश्यक हैं। जो पहले अपने को न साधे, वह दूसरों का हित नहीं साध सकता। स्वयं अपूर्ण, पूर्णता का मार्ग नहीं दिखा सकता।

भगवान् गृहस्थों से मिलना-जुलना छोड़ ध्यान करते, पूछने पर भी नहीं बोलते। कई आदमी भगवान् को मारते-पीटते, किन्तु उन्हें भी वे कुछ नहीं कहते। भगवान् वैसी कठोरचर्या में रम रहे थे जो सबके लिए सुलभ नहीं है।

भगवान असह्य कष्टों को सहते। कठोरतम कष्टों की वे परवाह नहीं करते। व्यवहार दृष्टि से उनका जीवन नीरस था। वे नृत्य और गीतों से जरा भी नहीं ललचाते। भगवान् ने विजातीय तत्त्वों (पुद्गल-आसक्ति) को न शरण दी और न उनकी शरण ली। वे निरपेक्ष भाव से जीते रहे।

भगवान् श्रमण बनने से दो वर्ष पहले ही अपेक्षाओं को ठुकराने लगे। सजीव पानी पीना छोड़ दिया, अपना अकेलापन देखने लग गए, क्रोध, मान, माया और लोभ की ज्वाला को शांत कर डाला। सम्यक्-दर्शन का रूप निखर उठा। पौद्गलिक आस्थाएं हिल गईं।

भगवान् ने मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और चर जीवों का अस्तित्व जाना। उन्हें सजीव मान वे उनकी हिंसा से विलग हो गये।

भगवान् ने संसार के उत्पादन को ढूँढ़ निकाला। उसके अनुसार उपाधि—परिग्रह से बन्धे हुए जीव ही कर्म-बद्ध होते हैं। कर्म ही संसार-भ्रमण का हेतु है। वे कर्मों के स्वरूप को जान उनसे अलग हो गये। भगवान् ने स्वयं अहिंसा को जीवन में उतारा। दूसरों को उनका मार्गदर्शन दिया।

अहिंसा और ब्रह्मचर्य—ये दोनों साधना के आधारभूत तत्त्व हैं। अहिंसा अवैर-साधना है। ब्रह्मचर्य जीवन की पवित्रता है। अवैर भाव के बिना आत्म-साम्य की अनुभूति और पवित्रता के बिना विकास का मार्गदर्शन नहीं हो सकता।

भगवान् अपने लिए बनाया हुआ भोजन नहीं लेते। वे शुद्ध भिक्षा के द्वारा अपना जीवन चलाते। आहार का विवेक करना अहिंसा और ब्रह्मचर्य—इन दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। जीव-हिंसा का हेतुभूत आहार जैसे सदोष होता है, वैसे ही ब्रह्मचर्य में बाधा डालने वाला आहार भी सदोष है। आहार की मीमांसा में अहिंसा-विशुद्धि के बाद ब्रह्मचर्य की विशुद्धि की ओर ध्यान देना सहज प्राप्त होता है।

भगवान् का दृष्टि-संयम अनुत्तर था। वे चलते-चलते इधर-उधर नहीं देखते, पीछे नहीं देखते, बुलाने पर नहीं बोलते, सिर्फ मार्ग को देखते हुए चलते।

भगवान् प्रकृति-विजेता थे। वे सर्दी में नंगे बदन घूमते। सर्दी से डरे बिना हाथों को फैला कर चलते। भगवान् अप्रतिबद्ध-विहारी थे, परिव्राजक थे। भगवान् बारह वर्ष और साढ़े छह मास तक कठोर चर्या का पालन करते हुए आत्म-समाधि में लीन रहे।

ध्यान करने के लिए समाधि (आत्म-लीनता या चित्त स्वास्थ्य), यतना और जागरूकता—ये सहज अपेक्षित हैं। भगवान् ने आत्मिक वातावरण को ध्यान

अनुकूल बना लिया। बाहरी वातावरण पर विजय पाना व्यक्ति के सामर्थ्य की बात है, उसे बदलना उसके सामर्थ्य से परे भी हो सकता है। आत्मिक वातावरण बदला जा सकता है। भगवान् ने इस सामर्थ्य का पूरा उपयोग किया। भगवान् ने नींद पर भी विजय पा ली। वे दिन-रात का अधिक भाग खड़े रहकर ध्यान में बिताते। विश्राम के लिए थोड़े समय लेटते, तब भी नींद नहीं लेते। जब कभी नींद सताने लगती तो भगवान् फिर खड़े होकर ध्यान में लग जाते। कभी-कभी तो सर्दी की रातों में घड़ियों तक बाहर रहकर नींद टालने के लिए ध्यानमग्न हो जाते।

भगवान् ने पूरे साधना-काल में सिर्फ एक मुहूर्त तक नींद ली शेष सारा समय ध्यान और आत्म-जागरण में बीता।

भगवान् तितिक्षा की परीक्षा-भूमि थे। चंडकौशिक साँप ने उन्हें काट खाया और भी साँप, नेवले आदि सरीसृप जात के जन्तु उन्हें सताते। पक्षियों ने उन्हें नोचा।

भगवान् को मौन और शून्यगृह-वास के कारण अनेक कष्ट झेलने पड़े। ग्राम-रक्षक राजपुरुष और दुष्कर्मा व्यक्तियों का कोपभाजन बनना पड़ा। उन्होंने कुछ प्रसंगों पर भगवान् को सताया, यातना देने का प्रयत्न किया। भगवान् अबहुवादी थे। वे प्रायः मौन रहते। स्व-धर्म मानते हुए सब कुछ सह लेते। वे अपनी समाधि (मानसिक संतुलन या स्वास्थ्य) को भी नहीं खोते।

अरति (संयम में उत्साह) और रति (असंयम में उत्साह)—दोनों साधना के बाधक हैं। भगवान् महावीर इन दोनों को पचा लेते थे। वे मध्यस्थ भाव से तृण-स्पर्श को सहते। तिनकों के आसन पर नंगे बदन बैठते, लेटते और नंगे पैर चलते तब वे चुभते। मध्यस्थ वही होता है, जो अरति और रति की ओर न झुके।

भगवान् ने शीत-स्पर्श सहा। भगवान् ने आतपनाएं लीं। सूर्य के सम्मुख होकर ताप सहा। वस्त्र न पहनने के कारण मच्छर और क्षुद्र जन्तु काटते, वे समभाव से सब सह लेते।

भगवान् ने साधना की कसौटी चाही। वे वैसे जनपदों में गए, जहाँ के लोग निर्ग्रंथ साधुओं से परिचित नहीं थे। वहाँ भगवान् ने स्थान और आसन सम्बन्धी कष्टों को हंसते-हंसते सहा। वहाँ के लोग रूक्ष-भोजी थे, इसलिए उनमें क्रोध की मात्रा अधिक थी। उसका फल भगवान् को भी सहना पड़ा। भगवान् वहाँ के लिए पूर्णतया अपरिचित थे, इसलिए कुत्ते भी उन्हें एक ओर से दूसरी ओर सुविधापूर्वक नहीं जाने देते। बहुत सारे कुत्ते भगवान् को घेर लेते। तब

कुछेक व्यक्ति ऐसे थे, जो उनको हटाते। बहुत से लोग ऐसे थे, जो कुत्तों को भगवान् को काटने के लिए प्रेरित करते। वहाँ जो दूसरे श्रमण थे वे लाठी रखते, फिर भी कुत्तों के उपद्रव से मुक्त नहीं थे। भगवान् के पास अपने बचाव का कोई साधन नहीं था, फिर वे शांतभाव से वहाँ घूमते रहे।

भगवान् का संयत अनुत्तर था। वे स्वस्थ दशा में भी कम खाते। रोग होने पर भी वे औषध नहीं लेते। अन्न-जल के बिना दो दिन, पक्ष, मास, छह मास बिताए। उत्कटुक, गोदोहिका आदि आसन किए, ध्यान किया, कषाय को जीता, आसक्ति को जीता, यह सब निरपेक्षभाव से किया। भगवान् ने मोह को जीता, इसलिए वे 'जिन' कहलाए। भगवान् की अप्रमत्त साधना सफल हुई।

ग्रीष्म ऋतु का वैशाख महीना था। शुक्ल दशमी का दिन था। छाया पूर्व की ओर ढल चुकी थी। पिछले पहर का समय, विजय मुहूर्त और उत्तरा-फाल्गुनी का योग था। उस बेला में भगवान् महावीर जंभियग्राम नगर के बाहर ऋजुबालिका नदी के उत्तर किनारे श्यामक गाथापति की कृषि-भूमि में व्यावर्त नामक चैत्य के निकट शालवृक्ष के नीचे 'गोदोहिका' आसन में बैठे हुए ईशानकोण की ओर मुँह कर सूर्य का आतप ले रहे थे।

दो दिन का निर्जल उपवास था। भगवान् शुक्ल ध्यान में लीन थे। ध्यान का उत्कर्ष बढ़ा। क्षपक श्रेणी ली। भगवान् उत्क्रांत बन गए। उत्क्रांति के कुछ ही क्षणों में वे आत्म-विकास की आठवीं, नवीं और दसवीं भूमिका को पार कर गए। बारहवीं भूमिका में पहुँचते ही उनके मोह का बन्धन भी पूर्णतः टूट गया। वे वीतराग बन गए। तेरहवीं भूमिका का प्रवेश-द्वार खुला। वहाँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय के बन्धन भी पूर्णतः टूट गए। भगवान् अब अनन्त-ज्ञानी, अनन्त-दर्शनी, अनन्त-आनन्दमय और अनन्त-वीर्यवान् बन गए। अब वे सर्वलोक के, सर्व जीवों के सर्वभाव जानने-देखने लगे। उनका साधना-काल समाप्त हो गया। अब वे सिद्धि-काल की मर्यादा में पहुँच गए, तेरहवें वर्ष के सातवें महीने में केवली बन गए।

धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन

भगवान् जंभियग्राम नगर से विहार कर मध्यम पावापुरी पधारे। वहाँ सोमिल नामक ब्राह्मण ने एक विराट् यज्ञ का आयोजन कर रखा था। उस अनुष्ठान की पूर्ति के लिए वहाँ इन्द्रभूति प्रमुख ग्यारह वेदविद् ब्राह्मण आये हुए थे।

भगवान् की जानकारी पा उनमें पांडित्य का भाव जागा। इन्द्रभूति उठे। भगवान् को पराजित करने के लिए वे अपनी शिष्य-सम्पदा के साथ भगवान् के

समवसरण में आए। उन्हें जीव के बारे में सन्देह था। भगवान् ने उनके गूढ़ प्रश्न को स्वयं सामने ला रखा। इन्द्रभूति सहम गए। उन्हें सर्वथा प्रच्छन्न अपने विचार के प्रकाशन पर अचरज हुआ। उनकी अन्तर-आत्मा भगवान् के चरणों में झुक गई। भगवान् ने उनका सन्देह-निवर्तन किया। वे उठे, नमस्कार किया और श्रद्धापूर्वक भगवान् के शिष्य बन गए। भगवान् ने उन्हें छह जीव-निकाय, पाँच महाव्रत और पच्चीस भावनाओं का उपदेश दिया।

इन्द्रभूति गौतमगोत्री थे। जैन-साहित्य में इनका सुविश्रुत नाम गौतम है। भगवान् के साथ इनके संवाद और प्रश्नोत्तर इसी नाम से उपलबध होते हैं। ये भगवान् के पहले गणधर और ज्येष्ठ शिष्य बने।

इन्द्रभूति की घटना सुन दूसरे पण्डितों का क्रम बन्ध गया। एक-एक कर वे सब आए और भगवान् के शिष्य बन गए। उन सबके एक-एक संदेह था—

१. इन्द्रभूति—जीव है या नहीं?

२. अग्निभूति—कर्म है या नहीं?

३. वायुभूति—शरीर आदि जीव एक है या भिन्न?

४. व्यक्त—पृथ्वी आदि भूत हैं या नहीं?

५. सुधर्मा—यहाँ जो जैसा है वह परलोक में भी वैसा होता है या नहीं?

६. मंडितपुत्र—बन्ध-मोक्ष है या नहीं?

७. मौर्यपुत्र—देव हैं या नहीं?

८. अकम्पित—नरक है या नहीं?

९. अचलभ्राता—पुण्य ही मात्रा-भेद से सुख-दुःख का कारण बनता है या पाप उससे पृथक् है?

१०. मेतार्य—आत्मा होने पर भी परलोक है या नहीं?

११. प्रभास—मोक्ष है या नहीं?

भगवान् उनके प्रच्छन्न संदेहों को प्रकाश में लाते गए और वे उनका समाधान पा अपने को समर्पित करते गए। इस प्रकार पहले प्रवचन में ही भगवान् की शिष्य-सम्पदा समृद्ध हो गई—४४०० शिष्य बन गए।

भगवान् ने इन्द्रभूति आदि ग्यारह विद्वान शिष्यों को गणधर पद पर नियुक्त किया और अब भगवान् महावीर का तीर्थ विस्तार पाने लगा। स्त्रियों ने प्रव्रज्या ली। साध्वी-संघ का नेतृत्व चन्दनबाला को सौंपा। आगे चलकर १४ हजार साधु और ३६ हजार साध्वियाँ हुईं।

स्त्रियों को साध्वी होने का अधिकार देना भगवान् महावीर का विशिष्ट मनोबल था। इस समय दूसरे धर्म के आचार्य ऐसा करने में हिचकते थे। पुरुषों

को जितने आध्यात्मिक अधिकार मिलते हैं, उतने ही स्त्रियों को भी अधिकार हो सकते हैं। इन आध्यात्मिक अधिकारों में महावीर ने कोई भेद-बुद्धि नहीं रखी, जिसके परिणामस्वरूप उनके शिष्यों में जितने श्रमण थे, उनसे ज्यादा श्रमणियाँ थीं। वह प्रथा आज तक जैन धर्म में चली आयी है।

भगवान् ने गृहस्थों को धर्म का उपदेश दिया। उसे स्वीकार करने वाले पुरुष और स्त्रियाँ, उपासक और उपासिकाएं या श्रावक और श्राविकाएं कहलाए। भगवान् के आनन्द आदि दस प्रमुख श्रावक थे। ये बारह-व्रती थे। इनकी जीवनचर्या का वर्णन करने वाला एक अंग-ग्रन्थ 'उपासकदशा' है। जयन्ती आदि श्राविकाएं थीं, जिनके प्रौढ़ तत्त्व-ज्ञान की सूचना भगवती सूत्र से मिलती है। धर्म-आराधना के लिए भगवान् का तीर्थ सचमुच तीर्थ बन गया। भगवान् ने तीर्थ-चतुष्टय (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका) की स्थापना की, इसलिए वे तीर्थंकर कहलाए।

संघ-व्यवस्था

सभी तीर्थंकरों की भाषा में धर्म का मौलिक रूप एक रहा है। धर्म का साध्य मुक्ति है, उसका साधन द्विरूप नहीं हो सकता। उसमें मात्रा-भेद हो सकता है, किन्तु स्वरूप-भेद नहीं हो सकता।

जैन मनीषियों का चिन्तन साधना के पक्ष में जितना वैयक्तिक है, उतना ही साधना-संस्थान के पक्ष में सामुदायिक है। जैन तीर्थंकरों ने धर्म को एक ओर वैयक्तिक कहा, दूसरी ओर तीर्थ का प्रवर्तन किया—श्रमण-श्रमणी और श्रावक-श्राविकाओं के संघ की स्थापना की।

भगवान् ने श्रमण-संघ की बहुत ही सुदृढ़ व्यवस्था की। अनुशासन की दृष्टि से भगवान् का संघ सर्वोपरि था। पाँच महाव्रत और अणुव्रत—ये मूलगुण थे। इनके अतिरिक्त उत्तर गुणों की व्यवस्था की। विनय, अनुशासन और आत्म-विजय पर अधिक बल दिया। व्यवस्था की दृष्टि से श्रमण-संघ को ग्यारह या नौ भागों में विभक्त किया गया। पहले सात गणधर सात गुणों के और आठवें-नौवें तथा दसवें-ग्यारहवें क्रमशः आठवें और नौवें गण के प्रमुख थे।

मुनि की दिनचर्या

अपर रात्रि में उठकर आत्मालोचन व धर्म-जागरिका करना—यह चर्या का पहला अंग है। स्वाध्याय, ध्यान आदि के पश्चात् आवश्यक कर्म करना। आवश्यक—अवश्य करणीय कर्म छह हैं :

१. **सामायिक**—समभाव का अभ्यास, उसकी प्रतिज्ञा का पुनरावर्तन।

२. **चतुर्विंशतिस्तव**—चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति।

३. **वन्दना**—आचार्य को द्वादशावर्त-वन्दना।

४. **प्रतिक्रमण**—कृत दोषों की आलोचना।

५. **कायोत्सर्ग**—काया का स्थिरीकरण।

६. **प्रत्याख्यान**—त्याग करना।

इससे निवृत्त होकर सूर्योदय होते-होते मुनि भण्ड-उपकरणों का प्रतिलेखन करे, उन्हें देखे। उसके पश्चात् हाथ जोड़कर गुरु से पूछे—मैं क्या करूँ? आप मुझे आज्ञा दें—मैं किसी की सेवा में लगूं या स्वाध्याय में? यह पूछने पर आचार्य सेवा में लगाए तो ग्लानि-रहित भाव से सेवा करे और यदि स्वाध्याय में लगाए तो स्वाध्याय करे। दिनचर्या के प्रमुख अंग हैं—स्वाध्याय और ध्यान। कहा है :

स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां ध्यानात् स्वाध्यायामामनेत्।
ध्यान-स्वाध्याय-संपत्त्या परमात्मा प्रकाशे॥

—स्वाध्याय के पश्चात् ध्यान करे और ध्यान के पश्चात् स्वाध्याय। इस प्रकार ध्यान और स्वाध्याय के क्रम से परमात्मा प्रकाशित हो जाता है।

श्रावक

धर्म की आराधना में जैन साधु-साध्वियाँ संघ के अंग हैं, वैसे श्रावक-श्राविकाएं भी हैं। ये चारों मिलकर ही चतुर्विध संघ को पूर्ण बनाते हैं। भगवान् ने श्राविक-श्राविकाओं को साधु-साध्वियों के माता-पिता तुल्य कहा है।

श्रावक की धार्मिकचर्या यह है:

१. सामायिक के अंगों का अनुपालन करना।

२. दोनों पक्षों में पौषधोपवास करना।

आवश्यक कर्म जैसे साधु-संघ के लिए हैं, वैसे ही श्रावक-संघ के लिए भी हैं।

श्रावक के गुण

अणुव्रतों का पालन करने वाला श्रद्धा-सम्पन्न व्यक्ति कहलाता है। उसके मुख्य गुण ये हैं—

१. ग्रहण किये हुए व्रतों का सम्यक् पालन करना।

२. जहाँ बहुश्रुत साधार्मिक लोग हों, उस स्थान में आना-जाना।

३. बिना प्रयोजन दूसरों के घर न जाना।

४. चमकीला-भड़कीला वस्त्र न पहनना। सदा सादगीमय जीवन बिताना।

५. जुआ आदि कुव्यसनों का त्याग करना।

६. मीठी वाणी से काम चलाना। कठोर वचन नहीं कहना।

७. तप, नियम, वन्दना आदि धार्मिक अनुष्ठानों में सदा तत्पर रहना।

८. विनम्र रहना। कभी दुराग्रह नहीं करना।

९. जिनवाणी के प्रति अटूट श्रद्धावान रहना।

१०. ऋजु व्यवहार करना। मन की ऋजुता, वचन की ऋजुता और शरीर की ऋजुता रखना।

११. गुरु-वचन को सुनने के लिए तत्पर रहना।

१२. प्रवचन या शास्त्रों की प्रवीणता प्राप्त करना।

शिष्टाचार

शिष्टाचार के प्रति जैन आचार्य बड़ी सूक्ष्मता से ध्यान देते हैं। वे आशातना (शिष्टाचार का पालन न करना) को सर्वथा परिहार्य मानते हैं। किसी के प्रति अनुचित व्यवहार करना हिंसा है। आशातना हिंसा है। अभिमान भी हिंसा है।

श्रावक व्यवहार-दृष्टि से दूसरे श्रावकों को भी नमस्कार करते हैं। धर्म-दृष्टि से उनके लिए वंदनीय मुनि होते हैं।

यह आध्यात्मिक और त्याग-प्रधान संस्कृति का एक संक्षिप्त रूप है। इसका सामाजिक जीवन पर भी प्रतिबिम्ब पड़ा है।

भगवान् महावीर के समकालीन धर्म-सम्प्रदाय

भगवान् महावीर का युग धार्मिक मतवादों और कर्मकाण्डों से संकुल था। बौद्ध साहित्य के अनुसार उस समय तिरेसठ श्रमण-सम्प्रदाय विद्यमान थे। जैन साहित्य में तीन सौ तिरसेठ धर्म-मतवादों का उल्लेख मिलता है। संक्षेप में सारे सम्प्रदाय चार वर्गों में समाते थे—

१. **क्रियावाद**—आत्मा, पुनर्जन्म और कर्मवाद में विश्वास रखने वाला।

२. **अक्रियावाद**—आत्मा, पुनर्जन्म और कर्मवाद में विश्वास न रखने वाला।

३. **विनयवाद**—अहं-विसर्जन/समर्पण को सर्वोपरि मूल्य देने वाला।

४. **अज्ञानवाद**—ज्ञान को दुःख का मूल मानने वाला।

भगवान् महावीर ने चारों वादों की समीक्षा कर क्रियावाद का सिद्धान्त स्वीकार किया। उनका स्वीकार एकांगी दृष्टि से नहीं था, इसलिए उनके दर्शन को सापेक्ष-क्रियावाद की संज्ञा दी जा सकती है।

कुछ विद्वानों का अभिमत है कि यज्ञ, जातिवाद आदि ब्राह्मण-सिद्धान्तों का विरोध करने के लिए महावीर ने जैन धर्म का प्रवर्तन किया। किन्तु यह सत्य नहीं है। महावीर जिस श्रमण-परम्परा में दीक्षित हुए वह बहुत प्राचीन है। उसका अस्तित्व वेदों की रचना से पूर्ववर्ती है। वेदों में स्थान-स्थान पर श्रमण-परम्परा की विचारधारा का उल्लेख मिलता है।

भगवान् महावीर का परिवार तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्व के धर्म का अनुगामी था। इन साक्ष्यों से यह प्रतिध्वनित नहीं होता कि महावीर ने ब्राह्मण सिद्धान्तों का विरोध करने के लिए जैन धर्म का प्रवर्तन किया।

अहिंसा और मुक्ति—ये श्रमण-संस्कृति के आधार-स्तम्भ हैं। महावीर ने स्वयं द्वारा व्याख्यात अहिंसा की प्राचीन तीर्थंकरों द्वारा व्याख्यात अहिंसा के साथ एकता प्रतिपादित की है।

भगवान् महावीर जैन धर्म के प्रवर्तक नहीं, किन्तु उन्नायक थे। उन्होंने प्राचीन परम्पराओं को आगे बढ़ाया, अपने समसामयिक विचारों की परीक्षा की और उनके आलोक में अपने अभिमत जनता को समझाए। उनके विचारों का आलोचनापूर्वक विवेचन सूत्रकृतांग में मिलता है।

श्रमण-परम्परा प्रागवैदिक है और भारतीय जीवन में आदिकाल से परिव्याप्त है। श्रमणों की अनेक धाराएं रही हैं। उनमें सबसे प्राचीन धारा भगवान् ऋषभ की और सबसे अर्वाचीन भगवान् बुद्ध की है और सब मध्यवर्ती हैं। वैदिक और पौराणिक दोनों साहित्य-विधाओं में भगवान् ऋषभ श्रमण धर्म के प्रवर्तक के रूप में उल्लिखित हुए हैं। भगवान् ऋषभ का धर्म विभिन्न युगों में विभिन्न नामों से अभिहित होता रहा। आदि में उसका नाम श्रमण-धर्म था। फिर अर्हत् धर्म हुआ। भगवान् महावीर के युग में उसे निर्ग्रन्थ धर्म कहा जाता था। बौद्ध साहित्य में भगवान् का उल्लेख 'निग्गंथ नातपुत्ते' के नाम से हुआ। उनके निर्वाण की दूसरी शताब्दी में वह 'जैन धर्म' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भगवान् महावीर के अस्तित्व-काल में श्रमणों के चालीस से अधिक सम्प्रदाय थे। उनमें पाँच बहुत प्रभावशाली थे :

१. निर्ग्रंथ—महावीर का शासन।

२. शाक्य—बुद्ध का शासन।

३. आजीवक—मंक्खली गोशालक का शासन।

४. गैरिक—तापस शासन।

५. परिव्राजक—सांख्य शासन।

बौद्ध-साहित्य में छह श्रमण-सम्प्रदायों, उनके आचार्यों तथा सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है जिसमें एक थे—निग्गंथ नातपुत्र (भगवान् महावीर)।

महावीर सिद्धान्त

महावीर का पहला सिद्धान्त था—समानता।

आत्मिक समानता की अनुभूति के बिना अहिंसा विफल हो जाती है। गणराज्य की विफलता का मूल हेतु है—विषमता।

महावीर का दूसरा सिद्धान्त था—आत्म-निर्णय का अधिकार।

हमारे भाग्य का निर्णय किसी दूसरी सत्ता के हाथ में हो, वह हमारी सार्वभौम सत्ता के प्रतिकूल है—यह उन्होंने बताया। उन्होंने कहा—"दुःख और सुख दोनों तुम्हारी ही सृष्टि है। तुम्हीं अपने मित्र हो और तुम्हीं अपने शत्रु। यह निर्णय तुम्हीं को करना है, तुम क्या होना चाहते हो?" जनतंत्र के लिए यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। जहाँ व्यक्ति को आत्म-निर्णय का अधिकार नहीं होता, वहाँ उसका कर्तृव्य कुंठित हो जाता है। नव-निर्माण के लिए पुरुषार्थ और पुरुषार्थ के लिए आत्म-निर्णय का अधिकार आवश्यक है।

महावीर का तीसरा सिद्धान्त था—आत्मानुशासन।

उन्होंने कहा—"दूसरों पर हुकूमत मत करो। हुकूमत करो अपने शरीर पर, अपनी वाणी पर और मन पर। आत्मा पर शासन करो, संयम के द्वारा, तपस्या के द्वारा। यह अच्छा नहीं होगा कि कोई व्यक्ति बध और बंधन के द्वारा तुम्हारे पर शासन करे।"

जनतन्त्र की सफलता आत्मानुशासन पर निर्भर है। बाहरी नियन्त्रण जितना अधिक होता है, उतना ही जनतन्त्र निस्तेज होता है। उसकी तेजस्विता इस बात पर निर्भर है कि देशवासी लोग अधिक से अधिक आत्मानुशासित हों।

महावीर का चौथा सिद्धान्त था—सापेक्षता।

उसका अर्थ है—सबको समान अवसर। बिलौना करते समय एक हाथ पीछे जाता है और दूसरा आगे आता है, फिर आगे वाला पीछे और पीछे वाला आगे जाता है। इस क्रम से नवनीत निकलता है। चलते समय एक पैर आगे बढ़ता है, दूसरा पीछे। फिर आगे वाला पीछे और पीछे वाला आगे आ जाता है। इस क्रम में गति होती है। आदमी आगे बढ़ता है।

यह सापेक्षता ही स्याद्वाद का रहस्य है। इसी के द्वारा सत्य का ज्ञान और उसका निरूपण होता है। यह सिद्धान्त जनतंत्र की रीढ़ है। कुछेक व्यक्ति सत्ता, अधिकारी और पद से चिपककर बैठ जाएं, दूसरों को अवसर न दें, तो असंतोष की ज्वाला भभक उठती है। यह सापेक्ष नीति गुटबन्दी को कम करने में काफी काम कर सकती है। नीतियाँ भिन्न होने पर भी यदि सापेक्षता हो, तो अवांछनीय अलगाव नहीं होता।

महावीर ने जो किया, वह मुक्ति के लिए किया। उन्होंने जो कहा, वह मुक्ति के लिए कहा। जनतन्त्र भी व्यावहारिक मुक्ति का प्रयोग है, इसलिए महावीर की करनी और कथनी दोनों में पथदर्शन की क्षमता है।

मनुष्य की ईश्वरीय सत्ता का संगान

भगवान् महावीर का जन्म उस युग में हुआ, जिसमें मनुष्य भाग्य के झूले में झूल रहा था। भाग्य ईश्वरीय सत्ता का प्रतिनिधि तत्त्व है। जब मनुष्य ईश्वरीय सत्ता का यंत्र बनकर जीता है, तब उसके जीवन-रथ का सारथी भाग्य ही होता है। भगवान् महावीर भाग्यवादी नहीं थे, इसका सहज फलित यह है वे चालू अर्थ में ईश्वरवादी नहीं थे। वे गणतन्त्र के संस्कारों में पले-पुसे थे। वे किसी भी महासत्ता को अपनी सम्पूर्ण स्वतन्त्रता सौंप देने के पक्ष में नहीं थे। उनकी अहिंसा की व्याख्या में अधिनायकवादी मनोवृत्ति के लिए कोई अवकाश नहीं था। भगवान् ने कहा—"दूसरों पर शासन करना हिंसा है, इसलिए किसी की स्वतन्त्रता का अपहरण मत करो।" जहाँ स्वतन्त्रता का अपहरण हो वहाँ ईश्वरीय तत्त्व नहीं हो सकता।

भगवान् महावीर आत्मवादी थे। वे ईश्वर के अस्तित्व का प्रतिपादन करते थे, किन्तु मनुष्य से भिन्न उसकी सत्ता स्वीकार नहीं करते थे। मनुष्य ईश्वर की सृष्टि है, ईश्वर उसका सर्जक है, यह कृति और कर्त्ता का सिद्धान्त उन्हें स्वीकार्य नहीं था। उनकी स्थापना में आत्मा की तीन कक्षाएं हैं :

१. **बहिर्-आत्मा**—यह पहली कक्षा है। इसमें देह ही सब कुछ होती है। उसमें विराजमान चिन्मय आत्मा का अस्तित्व ज्ञात नहीं होता।

२. **अन्तर्-आत्मा**—यह दूसरी कक्षा है। इस कक्षा में सत्य उद्घाटित हो जाता है कि जैसे दूध में नवनीत व्याप्त होता है, वैसे ही देह में चिन्मय सत्ता व्याप्त है।

३. **परम-आत्मा**—यह तीसरी कक्षा है। इसमें चिन्मय सत्ता पर आई हुई देह-रूपी भस्म दूर होने लग जाती है। आत्मा परमात्मा के रूप में प्रकट हो जाती है।

आत्मा और परमात्मा मानवीय पुरुषार्थ की प्रक्रिया से वियुक्त नहीं है। भगवान् महावीर के दर्शन में परमात्मा अस्वीकार नहीं है, उसकी विश्व-सृजनसत्ता का अस्वीकार है।

भगवान् महावीर ने ईश्वरोपासना के स्थान में श्रमणोपासना का प्रवर्तन किया। ईश्वर परोक्ष शक्ति है और वह अगम्य है। उसके प्रति जितना आकर्षण

हो सकता है, उतना जीवित मनुष्य और गम्य व्यक्तित्व के प्रति नहीं हो सकता। भगवान् ने मुनष्य को ईश्वर के स्थान पर प्रतिष्ठित किया और यह उद्घोष किया कि ईश्वर कोई कल्पनातीत सत्ता नहीं है, वह मनुष्य का ही चरम विकास है। जो मनुष्य विकास की उच्च कक्षा तक पहुँच जाता है, वह परमात्मा या ईश्वर है।

भगवान् महावीर ने परम-आत्मा की पाँच कक्षाएं निर्धारित कीं।

१. अर्हत्—धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक।

२. सिद्ध—मुक्त आत्मा।

३. आचार्य—धर्म-तीर्थ के संचालक।

४. उपाध्याय—धर्म-ज्ञान के संवाहक।

५. साधु—धर्म के साधक।

इनमें चार कक्षाओं के अधिकारी मनुष्य हैं और एक कक्षा के अधिकारी मुक्त आत्माएं हैं। इनमें पहला स्थान मनुष्य का है, दूसरा स्थान मुक्त आत्मा का है। मुक्त आत्मा मनुष्य-मुक्ति का हेतु नहीं है। उसकी मुक्ति के हेतु अर्हत् हैं इसलिए नमस्कार महामन्त्र में प्रथम स्थान उनको मिला।

जैन धर्म-दर्शन व्यक्ति-पूजा को मान्यता नहीं देता। वह गुण का पुजारी है। वह प्रत्येक व्यक्ति की अर्हताओं-योग्यताओं को मान्य कर उसकी पूजा करता है। इसका प्रत्यक्ष साक्ष्य है—नमस्कार महामंत्र और चतुःशरण सूत्र। इनमें किसी व्यक्ति-विशेष का नामोल्लेख नहीं है।

नमस्कार महामन्त्र

नमस्कार महामन्त्र मन्त्र-शृंखला का विशिष्ट मन्त्र ही नहीं, महामन्त्र है और यह समस्त जैन परम्परा द्वारा एक रूप से मान्य है। इसमें पाँच पद और पैंतीस अक्षर हैं।

णमो अरहंताणं—मैं अर्हत् (धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक) को नमस्कार करता हूँ।

णमो सिद्धाणं—मैं सिद्ध (मुक्तात्मा) को नमस्कार करता हूँ।

णमो आयरियाणं—मैं आचार्य (धर्म-तीर्थ के संचालक) को नमस्कार करता हूँ।

णमो उवज्झायाणं—मैं उपाध्याय (श्रुतज्ञान के संवाहक) को नमस्कार करता हूँ।

णमो लोए सव्वसाहूणं—मैं लोक के समस्त साधुओं को नमस्कार करता हूँ।

चतुःशरण सूत्र

अरहंते सरणं पवज्जामि—मैं अर्हत् की शरण स्वीकार करता हूँ।

सिद्धे सरणं पवज्जामि—मैं सिद्ध की शरण स्वीकार करता हूँ।

साहू सरणं पवज्जामि—मैं साधु की शरण स्वीकार करता हूँ।

केवलिपन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि—मैं केवली-प्रज्ञप्त धर्म की शरण स्वीकार करता हूँ।

भगवान् महावीर ने श्रमणों को उपासना के साथ कोई कर्म-कांड नहीं जोड़ा। उनकी भाषा में उपासना का अर्थ है—पास बैठना। महावीर के अनुयायी श्रमणों के पास जाते और उनसे धर्म का ज्ञान प्राप्त करते। भगवान् ने श्रमणोपासना को बहुत महत्त्व दिया। उन्होंने कहा—"श्रमण की उपासना करने वाला सुनता है, जानता है, हेय और उपादेय का विवेक करता है, नये ग्रंथिपात से बचता है, पुरानी ग्रन्थियों का मोक्ष करता है और मुक्त हो जाता है।"

भगवान् महावीर मानवीय समस्या का मूल और उसका समाधान मनुष्य में ही खोजते थे। महावीर का युग देववाद का युग था। कुछ दार्शनिक देवों को बहुत महत्त्व देते थे। पर महावीर ने मानवीय चेतना को दिव्य चेतना से कभी अभिभूत नहीं होने दिया। उनका ध्रुव सिद्धान्त था कि मनुष्य संयम कर सकता है, देव नहीं कर सकता।

इन्द्र ने अपने वैभव का प्रदर्शन कर दशार्णभद्र राजा को पराजित करना चाहा, तब भगवान् ने कहा—'दशार्णभद्र! तुम मनुष्य हो। अपनी शक्ति को जानने वाला मनुष्य देवगण से पराजित नहीं होता।' दशार्णभद्र राज्य को त्यागकर मुनि बन गए। इन्द्र त्याग के साथ स्पर्धा नहीं कर सका। उसका सिर राजर्षि के सामने झुक गया।

महावीर जब दीक्षित हुए, तब उनकी शिविका को उठाने में सबसे आगे मनुष्य थे, देव नहीं। यह अग्रगामिता का अधिकार मनुष्यों को इसलिए प्राप्त था कि महावीर मनुष्य थे। महावीर ने अपना सारा जीवन इस व्याख्या में बिताया कि ईश्वरीय सृष्टि का सर्जक मनुष्य है, पर मानवीय सृष्टि का सर्जक ईश्वर नहीं है।

धर्म की व्यापक धारणा

महावीर की धर्म की धारण बहुत ही व्यापक थी। उसका कारण उनकी आस्था का अहिंसक परम्परा में विकसित होना है। वैदिक परम्परा में धर्म की स्वीकृति एक विशिष्ट वर्ग के लिए थी। उनके सामने महावीर ने श्रमण-परम्परा के शाश्वत स्वर को बहुत प्रभावी पद्धति से उच्चारित किया।

भगवान् ने सब मनुष्यों को अहिंसा के आचरण की प्रेरणा दी। उन्होंने कहा—

१. धर्म की आराधना में स्त्री-पुरुष का भेद नहीं हो सकता। फलस्वरूप श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका—ये चार तीर्थ स्थापित हुए।

२. धर्म की आराधना में जाति-पांति का भेद नहीं हो सकता। फलस्वरूप सभी जातियों के लोग उनके संघ मे प्रव्रजित हुए।

३. धर्म की आराधना में क्षेत्र का भेद नहीं हो सकता। वह गाँव में भी की जा सकती है और अरण्य में भी की जा सकती है। फलस्वरूप उनके साधु अरण्यवासी कम संख्या में थे।

४. धर्म की आराधना में वेश का भेद नहीं हो सकता। उसका अधिकार श्रमण को भी है, गृहस्थ को भी है।

भगवान् ने अपने श्रमणों से कहा—"धर्म का उपदेश जैसे पुण्यवान् को दो, वैसे ही तुच्छ को दो। जैसे तुच्छ को दो, वैसे ही पुण्यवान् को दो।"

इस व्यापक दृष्टिकोण का मूल असाम्प्रदायिकता और जातीय का अभाव है।

महावीर तीर्थ के प्रवर्तक थे। तीर्थ एक सम्प्रदाय है। किन्तु उन्होंने धर्म को सम्प्रदाय के साथ बांधा नहीं। उनकी दृष्टि में जैन सम्प्रदाय की अपेक्षा जैनत्व प्रधान था। जैनत्व का अर्थ है—सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चरित्र की आराधना। इनकी आराधना करने वाला अन्य सम्प्रदाय के वेश में भी मुक्त हो जाता है, गृहस्थ के वेश में भी मुक्त हो जाता है।

सहज ही प्रश्न होता है—जैन-संस्कृति का स्वरूप इतना व्यापक और उदार था, तब वह लोक-संग्रह करने में अधिक सफल क्यों नहीं हुई?

इसके उत्तर में पाँच कारण प्रस्तुत होते हैं—

१. जैन दर्शन की सूक्ष्म सिद्धान्तवादिता।

२. तपोमार्ग की कठोरता।

३. अहिंसा की सूक्ष्मता।

४. सामाजिक बन्धन का अभाव।

५. जैन साधु-संघ का प्रचार के प्रति उदासीन मनोभाव।

ये सारे तत्त्व लोक-संग्राहात्मक पक्ष को अशक्त करते रहे हैं।

तप और ध्यान का समन्वय

भगवान् महावीर का युग धर्म के प्रयोगों का युग था। उस समय हजारों वैदिक सन्यासी धर्म के विविध प्रयोगों में संलग्न थे। कुछ श्रमण और संन्यासी

कठोर तपस्या कर रहे थे। कुछ श्रमण और संन्यासी ध्यान की उत्कृष्ट आराधना में लीन थे। आत्मानुभूति के विभिन्न मार्गों की खोज चल रही थी। भगवान् बुद्ध छह वर्ष तक कठोर तपश्चर्या करते रहे। उससे शांति नहीं मिली तब उन्होंने ध्यान मार्ग अपनाया। उससे उन्हें बोधि-लाभ हुआ। उन्होंने मध्यम प्रतिपदा का प्रतिपादन किया, यह स्वाभाविक ही था।

भगवान् महावीर की दृष्टि हर क्षेत्र में समन्वय की थी। उन्होंने जीवन के हर क्षेत्र में सापेक्षता का प्रयोग किया था। उन्होंने अपनी साधना में तपश्चर्या का पूर्ण बहिष्कार भी नहीं किया और ध्यान को आत्मानुभूति का एकमात्र साधन भी नहीं माना। उन्होंने तपश्चर्या और ध्यान दोनों को मान्यता दी।

कुछ विद्वानों का मत है कि भगवान् महावीर की साधना-पद्धति बहुत कठोर है। यह सर्वथा निराधार नहीं है। उनकी साधना-पद्धति में कठोर-चर्या के अंश अवश्य हैं, किन्तु वे अनिवार्य नहीं हैं।

सबकी शक्ति और रुचि समान नहीं होती। कुछ लोगों में तपस्या की रुचि और क्षमता होती है, किन्तु ध्यान की रुचि और क्षमता नहीं होती। कुछ लोगों में ध्यान की रुचि और क्षमता होती है। किन्तु तपस्या की रुचि और क्षमता नहीं होती। भगवान् महावीर ने अपनी साधना-पद्धति में दोनों कोटि की रुचि और क्षमता का समावेश किया। ध्यान की कक्षा तपस्या की कक्षा से ऊंची है। फिर भी तपस्या साधना के क्षेत्र में सर्वथा मूल्यहीन नहीं है। भगवान् महावीर की साधना-पद्धति का वह महत्त्वपूर्ण अंग है। उनकी तप की परिभाषा में ध्यान भी सम्मिलित है।

भगवान् महावीर ने अज्ञानमय तप का प्रबल विरोध किया और ज्ञानमय तप का समर्थन। अहिंसा-पालन में बाधा न आए, उतना तप सब साधकों के लिए आवश्यक है। विशेष तप उन्हीं के लिए है, जिनका दैहिक बल या विराग तीव्र हो। भगवान् महावीर ने धार्मिक जीवन की अनेक कथाएं प्रतिपादित कीं। गृहवासी के लिए चार कक्षाएं हैं—

१. **सुलभ बोधि**—यह प्रथम कक्षा है। इसमें न धर्म का ज्ञान होता है और न अभ्यास ही। केवल उसके प्रति अज्ञात अनुराग होता है। सुलभ बोधि व्यक्ति निकट भविष्य में धर्माचरण की योग्यता पा सकता है।

२. **सम्यग्-दृष्टि**—यह दूसरी कक्षा है। इसमें धर्म का अभ्यास नहीं होता किन्तु उसका ज्ञान होता है।

३. **अणुव्रती**—यह तीसरी कक्षा है। इसमें धर्म का ज्ञान और अभ्यास दोनों होते हैं।

४. **प्रतिमाधर**—यह चौथी कक्षा है। इसमें धर्म का विशेष अभ्यास होता है।

मुनि के लिए निम्न दो कक्षाएं हैं—

१. **संघवासी मुनि**—यह पहली कक्षा है। इसमें अहिंसाचरण की प्रधानता है, तपस्या की प्रधानता नहीं है।

२. **एकलविहारी मुनि**—यह दूसरी कक्षा है। इसमें अहिंसाचरण के साथ-साथ तपस्या भी प्रधान होती है।

इन कक्षाओं में मुनि के लिए दूसरी (एकल विहारी) कक्षा और गृहवासी के लिए चौथी (प्रतिमाधर) कक्षा में कुछ कठोर साधना का अभ्यास होता है, शेष कक्षाओं की साधना का मार्ग ऋजु है।

भगवान् महावीर की साधना-पद्धति में मृदु, मध्य और अधिक—तीनों मात्राओं का समन्वय है। मनुष्य भी मन्द, मध्य और प्राज्ञ—तीन कोटि के होते हैं। इन तीनों कोटियों को एक कोटि में रखकर धर्म की व्याख्या करने की अपेक्षा विभिन्न कोटि के लोगों के लिए विभिन्न दृष्टिकोणों से धर्म की व्याख्या करना अधिक मनोवैज्ञानिक है।

संप्रदायविहीन धर्म

एक व्यक्ति ने आचार्य श्री तुलसी से पूछा—क्या भगवान् महावीर जैन थे? आचार्यश्री ने कहा—नहीं वे जैन नहीं थे। वे जिन थे, उनको मानने वाले जैन होते हैं। वे जैन न होकर भी, दूसरे शब्दों में अजैन होकर भी, महान् धार्मिक थे। इसका फलित स्पष्ट है कि कोई व्यक्ति जैन होकर ही धार्मिक हो सकता है ऐसा अनुबन्ध नहीं है। जैन, वैष्णव, शैव, बौद्ध—ये सब नाम धर्म की परम्परा के सूचक हैं। इनकी धर्म के साथ व्याप्ति नहीं है। इसी सत्य की स्वीकृति का नाम असाम्प्रदायिक दृष्टि है।

साम्प्रदायिकता एक उन्माद है। उसके आक्रमण का ज्ञान तीन लक्षणों से होता है—१. सम्प्रदाय और मुक्ति का अनुबन्ध—मेरे सम्प्रदाय में आओ, तुम्हारी मुक्ति होगी अन्यथा नहीं होगी। २. प्रशंसा और निन्दा—अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा और दूसरे सम्प्रदायों की निंदा। ३. ऐकान्तिक आग्रह—दूसरों के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न न करना।

भगवान् महावीर अहिंसा की गहराई में पहुँच चुके थे। इसलिए उन पर साम्प्रदायिक उन्माद आक्रमण नहीं कर सका। इसे उलटकर भी कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर पर साम्प्रदायिक उन्माद का आक्रमण नहीं हुआ, इसलिए वे अहिंसा की गहराई में जा सके। आत्मौपम्य (सभी जीवों को अपनी आत्मा के

समान समझना) की दृष्टि को विकसित किए बिना जो धर्म के मंच पर आता है, उसके सामने धर्म गौण और सम्प्रदाय मुख्य होता है। आत्मौपम्य की दृष्टि को विकसित कर धर्म के मंच पर आने वाले व्यक्ति के सामने धर्म मुख्य और सम्प्रदाय गौण होता है। भगवान् महावीर ने सम्प्रदाय को मान्यता दी, पर मुख्यता नहीं दी। जो लोग सम्प्रदाय को मुख्यता दे रहे थे, उनके दृष्टिकोण को महावीर ने सारहीन बताया।

जो धर्म-नेता अपने उत्थान में आने वाले के लिए ही मुक्ति का द्वार खोलते हैं और दूसरों के लिए उसे बन्द रखते हैं, वे महावीर की दृष्टि में अहिंसक नहीं हैं। वे अपनी ही कल्पना के ताने-बाने में उलझे हुए हैं।

भगवान् महावीर ने मोक्ष का अनुबन्ध किसी सम्प्रदाय के साथ नहीं माना, किन्तु धर्म के साथ माना। भगवान् 'अश्रुत्वा केवली' के सिद्धान्त की स्थापना कर असाम्प्रदायिक दृष्टि को चरम बिन्दु तक ले गए। 'अश्रुत्वा केवली' उस व्यक्ति का नाम है जिसने कभी धर्म नहीं सुना, किन्तु अपनी नैसर्गिक निर्मलता के कारण केवली की कक्षा तक पहुँच गया। 'अश्रुत्वा केवली' के साथ किसी भी सम्प्रदाय, परम्परा या धर्माराधना की पद्धति का सम्बन्ध नहीं होता। उस सम्प्रदाय-मुक्त व्यक्ति को मोक्ष का अधिकारी मानकर महावीर ने धर्म की असाम्प्रदायिक सत्ता को मान्यता दी।

महावीर ने एक सिद्धान्त की स्थापना और की। उसके अनुसार किसी भी सम्प्रदाय में प्रव्रजित व्यक्ति मुक्त हो सकता है। इस स्थापना में सम्प्रदाय के बीच व्यवधान डालने वाली खाइयों को पाटने का प्रयत्न है। कोई भी सम्प्रदाय किसी व्यक्ति को मुक्ति का आश्वासन दे सकता है, यदि वह व्यक्ति धर्म अनुप्राणित हो। कोई भी सम्प्रदाय किसी व्यक्ति को मुक्ति का आश्वासन नहीं दे सकता, यदि वह व्यक्ति धर्म से अनुप्राणित न हो। मोक्ष को सम्प्रदाय की सीमा से मुक्त कर भगवान् महावीर ने धर्म की असाम्प्रदायिक सत्ता के सिद्धान्त पर दोहरी मोहर लगा दी।

भगवान् महावीर मुनित्व के महान् प्रवर्तक थे। वे मोक्ष की साधना के लिए मुनि-जीवन बिताने को बहुत आवश्यक मानते थे। फिर भी उनकी प्रतिबद्धता का अन्तिम स्पर्श सच्चाई के साथ था, किसी नियम के साथ नहीं। भगवान् ने 'गृहलिग-सिद्ध' की स्वीकृति दे क्या मोक्ष-सिद्धि के लिए मुनि-जीवन की एकछत्रता को चुनौती नहीं दी? घरवासी गृहस्थ भी किसी क्षण मुक्त हो सकता है, इसका अर्थ है कि धर्म की आराधना अमुक प्रकार के वेश या अमुक परम्परा की जीवन-प्रणाली को स्वीकार किए बिना भी हो सकती है। जीवन-व्यापी सत्य जीवन को कभी और कहीं भी आलोकित कर सकता है। इस सत्य को

अनावृत कर भगवान् ने धर्म को आकाश की भाँति व्यापक बना दिया। 'प्रत्येक-बुद्ध-सिद्ध' का सिद्धान्त भी साम्प्रदायिक दृष्टि के प्रति मुक्त विद्रोह है। 'प्रत्येक-बुद्ध' किसी सम्प्रदाय से प्रभावित तथा किसी धर्म परम्परा से प्रतिबद्ध होकर प्रव्रजित नहीं होते। वे अपने ज्ञान से ही प्रबुद्ध होते हैं। भगवान् ने उनको उतनी ही मान्यता दी, जितनी अपनी परम्परा में प्रव्रजित होने वालों को प्राप्त थी।

जो लोग अपने धर्म की प्रशंसा और दूसरों की निंदा करते थे, उनके सामने महावीर ने कटु-सत्य प्रस्तुत किया। भगवान् ने कहा—'जो ऐसा करते हैं, वे धर्म के नाम पर अपने बंधन की शृंखला को और अधिक सुदृढ़ बना रहे हैं।'

भगवान् महावीर से पूछा गया—'भंते! शाश्वत धर्म कौन-सा है?'

भगवान् ने कहा—'किसी भी प्राणी को मत मारो, उपद्रुत मत करो, परितप्त मत करो, स्वतन्त्रता का अपहरण मत करो—यह शाश्वत धर्म है।'

भगवान् महावीर ने कभी नहीं कहा कि जैन धर्म शाश्वत है। तत्त्व शाश्वत हो सकता है, किन्तु नाम और रूप कभी शाश्वत नहीं होते।

भगवान् महावीर का युग धर्म के प्रभुत्व का युग था। उस समय पचासों धर्म सम्प्रदाय थे। उनमें कुछ तो बहुत ही प्रभावशाली थे। कुछ शाश्वतवादी थे और कुछ अशाश्वतवादी। शाश्वतवादी अशाश्वतवादी सम्प्रदाय पर प्रहार करते और अशाश्वतवादी शाश्वतवादी धारा पर। इस पद्धति को महावीर ने साम्प्रदायिक अभिनिवेश की संज्ञा दी।

नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा

भगवान् महावीर का युग क्रियाकाण्डों का युग था। महाभारत की ध्वंस-लीला का जनमानस पर अभी असर मिटा नहीं था। जनता त्राण की खोज में भटक रही थी। अनेक दार्शनिक उसे परमात्मा की शरण में ले जा रहे थे। समर्पण का सिद्धान्त बल पकड़ रहा था। श्रमण-परम्परा इसका विरोध कर रही थी। भगवान् पार्श्व के निर्वाण के बाद कोई शक्तिशाली नेता नहीं रहा, इसलिए उसका स्वर जनता का ध्यान आकृष्ट नहीं कर पा रहा था। भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध ने उस स्वर को फिर शक्तिशाली बनाया।

भगवान् महावीर ने कहा—'पुरुष! तेरा त्राण तू ही है। बाहर कहाँ त्राण ढूँढ रहा है? इस आत्मकर्तृत्व की वाणी ने भारतीय जनमानस में फिर एक बार पुरुषार्थ की लौ प्रज्वलित कर दी। श्रमण-परम्परा ने ईश्वर-कर्तृत्व को मान्यता नहीं दी। इसलिए उसमें उपासना या भक्तिमार्ग का विकास नहीं हुआ। भगवान् महावीर के धार्मिक निरूपण में आध्यात्मिक और नैतिक सिद्धान्त हैं। उसमें उपासना और भक्ति के सिद्धान्त नहीं हैं।

भगवान् महावीर की व्याख्या में व्रत धार्मिक जीवन की आधारशिला (मूल गुण) है। धर्म का भव्य प्रासाद उसी के आधार पर खड़ा किया जा सकता है।

भगवान् महावीर ने मुनिधर्म के लिए पाँच महाव्रतों तथा गृहवासी के लिए पाँच अणुव्रतों की व्यवस्था दी।

पाँच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।

पाँच अणुव्रत—एकदेशीय अहिंसा, एकदेशीय सत्य, एकदेशीय अचौर्य, स्वदार-संतोष, इच्छा-परिमाण।

व्रतों के विस्तार में भगवान् ने उस समय के अनैतिक आचरणों की ओर अंगुली-निर्देश किया और उन्हें छोड़ने की प्रेरणा दी। भगवान् महावीर के अस्तित्वकाल में उनका धर्म बहुत व्यापक नहीं बना। उनके श्रावकों की संख्या लाखों में ही सीमित थी।

भगवान् के निर्वाण के बाद उत्तरवर्ती आचार्यों ने उपासना और भक्तिमार्ग को भी स्थान दिया। उस अवधि में जैन धर्म की प्रतीकों की पूजा उपासना प्रचलित हुई। मंत्र-जप का महत्त्व बढ़ा। महावीर की आत्म-केन्द्रित साधना विस्तार-केन्द्रित हो गई। उस युग में जन-साधारण जैन धर्म की ओर आकृष्ट हुआ और वह भारत के बहुत बड़े भाग में एक प्रभावी धर्म के रूप में सामने आ गया।

भगवान् महावीर के अनुयायियों में सामान्य निर्धन व्यक्ति से लेकर तत्कालीन जनपदों के बड़े-बड़े सम्राट् तक सम्मिलित हुए। उस युग में शासक सम्मत धर्म को अधिक महत्त्व मिलता था। इस दृष्टि से राजाओं का धर्म के प्रति आकृष्ट होना उल्लेखनीय माना जाता था। ऐसे राजाओं में मुख्य थे—मगध सम्राट् बिम्बसार श्रेणिक और महारानी चिल्लणा (चेलणा), उनका पुत्र अजातशत्रु कूणिक, श्रेणिक का महामंत्री अभयकुमार (जो श्रेणिक का ही पुत्र था), वैशाली गणतन्त्र का प्रमुख राजा चेटक, हस्तिनापुर का राजा शिव, सिन्धु-सौवीर का राजा उद्रायण आदि। राजपरिवार के लोग न केवल श्रावक-श्राविका के रूप में व्रती बने अपितु बहु संख्या में प्रव्रजित भी हुए। श्रेणिक का पुत्र मेघकुमार, महामंत्री अभयकुमार आदि की प्रव्रज्या त्याग के महत्त्व को भली-भाँति उजागर करने वाली थी।

शाश्वत सत्यों की आराधना के साथ-साथ समाज के वर्तमान दोषों से बचने के लिए भी श्रावक प्रयत्नशील थे।

निर्वाण

भगवान् महावीर ग्रामानुग्राम विहार करते हुए पावापुर पहुँचे। राजा हस्तिपाल और उसकी प्रजा ने भगवान् की वंदना की। भगवान् ने उन्हें निर्वाण

का रहस्य समझाया। वे निर्वाण के सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न प्रवक्ता थे। प्रवचन के बाद भगवान् ने गौतम को बुलाकर कहा—'गौतम! यहाँ से कुछ दूरी पर सोमशर्मा ब्राह्मण रहता है। वह तत्त्व का जिज्ञासु है। तुम्हारा उपदेश पाकर वह प्रतिबुद्ध होगा। तुम वहाँ जाओ और उसे प्रतिबुद्ध करो।'

गौतम भगवान् के वचन को शिरोधार्य कर सोमशर्मा को प्रतिबोध देने चले गए।

भगवान् दो दिन से उपवास कर रहे थे। जल भी नहीं ले रहे थे। उन्होंने इन दिनों में बहुत लम्बे प्रवचन किए। उनमें कर्मफल का विस्तार से विवेचन किया। अपना प्रवचन सम्पन्न कर भगवान् मौन हो गए। वे पद्मासन में बैठे थे। उनका शरीर स्थिर और शांत हो गया। वे इस स्थूल शरीर के साथ-साथ सूक्ष्म शरीर से भी मुक्त हो गए। जन्म और मृत्यु की शृंखला उनसे विच्छिन्न हो गई। ज्योति केवल ज्योति रह गई।

वि.पू. ४७० (ई.पू. ५२७) पावापुर में कार्तिक कृष्णा अमावस्या के उषाकाल (चार घड़ी शेष रात्रि) में भगवान् का निर्वाण हुआ। उस समय भगवान् के पास सुधर्मा आदि अनेक साधु थे। मल्ल और लिच्छवि गणराज्य के अठारह राजे भी वहाँ उपस्थित थे। उस अवसर पर उन्होंने दीप जलाकर ज्योति से ज्योति की प्रशस्ति की।

भगवान् तीस वर्ष की अवस्था में श्रमण बने, साढ़े बारह वर्ष तक तपस्वी जीवन बिताया और तीस वर्ष तक धर्मोपदेश दिया। भगवान् ने काशी, कौशल, पंचाल, कलिंग, कम्बोज, कुरु-जंगाल, बाह्लिक, गांधार, सिन्धु-सौवीर आदि देशों में विहार किया।

भगवान् के चौदह हजार साधु और छत्तीस हजार साध्वियाँ बनीं। नन्दी सूत्र के अनुसार भगवान् के चौदह हजार साधु प्रकीर्णकार थे। इससे जान पड़ता है, सर्व साधुओं की संख्या और अधिक थी। १,५९,००० श्रावक और ३,१८,००० श्राविकाएं थी। यह व्रती श्रावक-श्राविकाओं की संख्या प्रतीत होती है। जैन धर्म का अनुगमन करने वालों की संख्या इससे अधिक थी, ऐसा सम्भव है।

भगवान् राजकुल में जन्मे। वैभव में पले-पुसे। जैसे युवा बने वैसे ही उनका समत्व-चक्षु विकसित हुआ। वे समता की साधना में लगे। उसमें सिद्धि प्राप्त की। वे जनता के बीच रहे। उन्होंने जनता को शांति, समता और अनेकांत का मार्ग-दर्शन दिया। उनका दर्शन केवल व्यक्ति के लिए नहीं, समाज के लिए भी है। उनका धर्म केवल परलोक के लिए नहीं, वर्तमान लोक के लिए भी है। उनकी आधार-पद्धति से आन्तरिक समस्याएं ही नहीं सुलझतीं, समाज-व्यवस्था की

समस्याएं भी सुलझती हैं। उनकी अहिंसा कायर की अहिंसा नहीं है, वह योद्धा की अहिंसा है, अभय और पराक्रम उसके साथ जुड़े हुए हैं। उनकी निवृत्ति अकर्मण्यता नहीं है, वह कर्म के परिष्कार की अजेय शक्ति और मानसिक शक्ति का महान् साधन है। आज भी उनकी वाणी मे विश्व-शांति के पथ-दर्शन की क्षमता है, इसलिए हम सब उनके प्रति प्रणत हैं।

अभ्यास

१. भगवान् महावीर का संक्षिप्त परिचय दें।

२. "भगवान् महावीर की साधना वस्तुतः एक वीर पुरुष की साधना थी", इसे सिद्ध करें।

३. भगवान् महावीर द्वारा स्थापित धर्म-संघ का स्वरूप और उसकी व्यवस्था को विस्तार से समझाएं।

४. भगवान् महावीर के युग की धार्मिक परिस्थितियों का वर्णन करें।

५. भगवान् महावीर के मुख्य सिद्धान्त कौन-कौन से थे?

६. भगवान् महावीर ने ईश्वर के स्थान पर मनुष्य को किस प्रकार प्रतिष्ठित किया?

७. भगवान् महावीर ने धर्म की व्यापक धारणा को किस रूप में प्रस्तुत किया था।

८. क्या सम्प्रदाय-विहीन धर्म भी हो सकता है? भगवान् महावीर के विचारों के आधार पर इसे स्पष्ट करें।

□□□

३

उत्तरकालीन परम्परा

गणधर गौतम

जिस समय भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, उस समय उनके प्रमुख शिष्य प्रथम गणधर गौतम प्रतिबोध देने के लिए दूसरे गाँव गए हुए थे। निर्वाण की सूचना मिलते ही वे शोक से विह्वल हो गए। चिन्तन की धारा मुड़ी और वे वहीं केवली हो गए। उनका मूल नाम इन्द्रभूति था। ये बोब्बर ग्रामवासी गौतम-गोत्रीय ब्राह्मण के पुत्र थे। वे पचास वर्ष की अवस्था में प्रव्रजित हुए थे। तीस वर्ष तक वे भगवान् महावीर के साथ छद्मस्थ अवस्था में ग्रामानुग्राम विहार करते हुए धर्म का प्रचार करते रहे। जब केवली बने, तब उनकी अवस्था अस्सी वर्ष की थी। वे केवलज्ञानी के रूप में भगवान् महावीर के बाद बारह वर्ष तक रहे और बानवें वर्ष की आयु समाप्त कर निर्वाण को प्राप्त हो गए।

गणधर सुधर्मा

दिगम्बर परम्परा का अभिमत है कि भगवान् महावीर के प्रथम उत्तराधिकारी गौतम थे। श्वेताम्बर परम्परा का अभिमत है कि केवली कभी किसी परम्परा का वाहक नहीं होता। गौतम केवली हो चुके थे। सुधर्मा के अतिरिक्त शेष नौ गणधर भगवान् की उपस्थिति में ही निर्वाण को प्राप्त हो गए थे। इसलिए संघ के संचालन का भार गणधर सुधर्मा पर आया और वे भगवान् महावीर के प्रथम उत्तराधिकारी हुए। उनका जन्म ईसवी पूर्व ६०७ में कोल्लाग सन्निवेश के अग्निवेश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण धम्मिल के यहाँ हुआ। उनकी माता का नाम भद्दिला था। उनका संपूर्ण आयुष्य सौ वर्ष का था। वे पचास वर्ष की अवस्था में दीक्षित हुए, बयालीस वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में (तीस वर्ष तक भगवान् के पास और बारह वर्ष तक भगवान् के निर्वाण के बाद) और आठ वर्ष तक केवलज्ञानी की अवस्था में रहे। वे वैभारगिरि (राजगृह) पर एक मास का अनशन कर वीर निर्वाण २० (ई. पूर्व ५०७) में निर्वाण को प्राप्त हुए।

आर्य जम्बूकुमार

जब जम्बूकुमार सुधर्मा के पास दीक्षित हुए, तब उनकी आयु सोलह वर्ष की थी। अट्ठाईस वर्ष की आयु में वे आचार्य बने और छत्तीस वर्ष की आयु में उन्हें केवलज्ञान की उपलब्धि हुई। इनका पूरा आयुष्य ८० वर्ष का था। चौसठ वर्ष के श्रमण-पर्याय में ये चंवालीस वर्ष तक युगप्रधान आचार्य के रूप में रहे। वे इस युग के अन्तिम केवली थे। उनका निर्वाण ईस्वी पूर्व ४५३ में हुआ।

आचार्य जम्बू के पश्चात् क्रमशः छह आचार्य श्रुतकेवली हुए—प्रभव, शय्यम्भव, यशोभद्र, संभूतविजय, भद्रबाहु और स्थूलभद्र।

संप्रदाय-भेद

विचार का इतिहास जितना पुराना है, लगभग उतना ही पुराना विचार-भेद का इतिहास है। दीर्घकालीन परम्परा में विचार-भेद होना अस्वाभाविक नहीं है। जैन परम्परा में भी ऐसा ही हुआ। जैन परम्परा का भेद मूल तत्त्वों की अपेक्षा ऊपरी बातों या गौण प्रश्नों पर अधिक टिका हुआ है।

आमूलचूल विचार-परिवर्तन होने पर कुछ जैन साधु निग्रन्थ शासन को छोड़कर अन्य शासन (धर्म-परम्परा) में जाकर वहाँ श्रमण बन गए। गोशालक भी उनमें एक था। ऐसे श्रमणों को निह्नव की संज्ञा नहीं दी गई। निह्नव उन्हीं साधुओं को कहा गया जिनका चालू परम्परा के साथ किसी एक विषय में मतभेद हो जाने के कारण, वे वर्तमान शासन से पृथक् हो गए, किन्तु किसी अन्य धर्म को स्वीकार नहीं किया। इसलिए उन्हें अन्यधर्मी न कहकर, जैन शासक ने निह्नव (किसी एक विषय का अपलाप करने वाले) कहा गया है। इस प्रकार के निह्नव सात हुए हैं। इनमें से दो (जमाली और तिष्यगुप्त) भगवान् महावीर की कैवल्य-प्राप्ति के बाद हुए हैं और शेष पाँच निर्वाण के बाद। इन सब निह्नवों का अस्तित्व-काल भगवान् महावीर को कैवल्य-प्राप्ति के चौदह वर्ष से निर्वाण के बाद ५८४ वर्ष तक रहा।[1]

---

१. निम्नलिखित कोष्ठक में सातों निह्नवों का विवरण है—

आचार्य	मत-स्थापना	उत्पत्ति-स्थान	कालमान
१. जमाली	बहुरतवाद	श्रावस्ती	कैवल्य के १४ वर्ष पश्चात्
२. तिष्यगुप्त	जीवप्रादेशिकवाद	ऋषभपुर	कैवल्य के १६ वर्ष "
३. आषाढ़-शिष्य	अव्यक्तवाद	श्वेतविका	निर्वाण के ११४ वर्ष
४. अश्वमित्र	सामुच्छेदिकवाद	मिथिला	निर्वाण के २२० वर्ष "
५. गंग	द्वैक्रियवाद	उल्लुकातीर	निर्वाण के २२८ वर्ष "
६. रोहगुप्त	त्रैराशिकवाद	अंतरंजिका	निर्वाण के ५५४ वर्ष "
७. गोष्ठामाहिल	अबद्धिकवाद	दशपुर	निर्वाण के ६०९ वर्ष "

श्वेताम्बर-दिगम्बर

श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदाय-भेद कब हुआ—यह अब भी अनुसंधान-सापेक्ष है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सापेक्ष शब्द हैं। इनमें से एक का नामकरण होने के बाद ही दूसरे के नामकरण की आवश्यकता हुई।

उनके पश्चात् आचार्य-परम्परा का भेद मिलता है। श्वेताम्बर-पट्टावलि के अनुसार जम्बू के पश्चात् प्रभव, शय्यम्भव, यशोभद्र, सम्भूतविजय और भद्रबाहु हुए और दिगम्बर-मान्यता के अनुसार नन्दी, नंदीमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु हुए।

जम्बू के पश्चात् कुछ समय तक दोनों परम्पराएं आचार्यों का भेद स्वीकार करती हैं और भद्रबाहु के समय फिर दोनों एक बन जाती हैं। इस भेद और अभेद के सैद्धान्तिक मतभेद का निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। उस समय संघ एक था, फिर भी गण और शाखाएं अनेक थीं। आचार्य और चतुर्दशपूर्वी भी अनेक थे। किन्तु प्रभवस्वामी के समय से ही कुछ मतभेद के अंकुर फूटने लगे हों, ऐसा प्रतीत होता है।

किंवदन्ती के अनुसार वीर-निर्वाण ६०९ वर्ष के पश्चात् दिगम्बर-सम्प्रदाय का जन्म हुआ, यह श्वेताम्बर मानते हैं और दिगम्बर-मान्यता के अनुसार वीर-निर्वाण ६०६ में (ईसा पूर्व ७९) श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का प्रारंभ हुआ।

चैत्यवास परम्परा

वीर-निर्वाण की नवीं शताब्दी (८५०) में चैत्यवास की स्थापना हुई। कुछ मुनि मंदिरों के परिपार्श्व में रहने लगे। वीर-निर्वाण की दसवीं शताब्दी तक इनका प्रभुत्व नहीं बढ़ा। देवर्द्धिगणी के दिवंगत होते ही इनका सम्प्रदाय शक्तिशाली हो गया। आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'सम्बोध-प्रकरण' में इनके आचार-विचार का सजीव वर्णन किया है।

चैत्यवासी शाखा के उद्भव के साथ दूसरा पक्ष संविग्न, विधिमार्ग या सुविहितमार्ग कहलाया।

स्थानकवासी

स्थानकवासी संप्रदाय का उद्भव मूर्ति-पूजा के अस्वीकार पक्ष में हुआ। विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में लोकाशाह ने मूर्ति-पूजा का विरोध किया और

आचार की कठोरता का पक्ष प्रबल किया। वे गृहस्थावस्था में ही थे। उनकी परम्परा में ऋषि लवजी, आचार्य धर्मसिंहजी और आचार्य धर्मदासजी प्रतिभाशाली आचार्य हुए। आचार्य धर्मदासजी के निन्यानवे शिष्य थे। उन्होंने अपने विद्वान् शिष्यों को बाईस दलों में बांटा और विभिन्न प्रान्तों में उन्हें धर्म-प्रचार करने के लिए भेजा। उसके बाद लोकाशाह का सम्प्रदाय 'बाईस टोला' या बाईस-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आगे चलकर, स्थानकों की मुख्यतया के कारण यही 'स्थानकवासी' सम्प्रदाय के नाम से पहचाना जाने लगा। वर्तमान में इसका नाम 'श्रमण संघ' कर दिया गया है।

तेरापंथ

स्थानकवासी सम्प्रदाय के आचार्य रुघनाथजी के शिष्य 'सन्त भीखणजी' (आचार्य भिक्षु) ने विक्रम संवत् १८१७ में तेरापंथ का प्रवर्तन किया। आचार्य भिक्षु ने आचार-शुद्धि और संगठन पर बल दिया। एकसूत्रता के लिए उन्होंने अनेक मर्यादाओं का निर्माण किया, शिष्य-प्रथा को समाप्त कर दिया। थोड़े ही समय में एक आचार्य, एक आचार और एक विचार के लिए तेरापंथ प्रसिद्ध हो गया। आचार्य भिक्षु आगम के अनुशीलन द्वारा कुछ नये तत्त्वों को प्रकाश में लाए। आध्यात्मिक दृष्टि से वे बहुत ही मूल्यवान् हैं। कुछ तथ्य वर्तमान समाज के पथ-दर्शक बन गए हैं।

अभ्यास

१. भगवान् महावीर के पश्चात् जैन धर्म के अन्तर्गत कौन-कौन से सम्प्रदाय विकसित हुए? उनकी पारस्परिक समानताएं तथा भिन्नताएं स्पष्ट करें।
२. निह्नव किसे कहते हैं? निह्नव कितने और कब-कब हुए?

□□□

४

जैन साहित्य : संक्षिप्त परिचय

जैन साहित्य आगम और आगमेतर—इन दो भागों में बंटा हुआ है। साहित्य का प्राचीनतम भाग आगम कहलाता है।

भगवान् की वाणी आगम बन गई। उनके प्रधान शिष्य गौतम आदि ग्यारह गणधरों ने उसे सूत्र-रूप में गूंथा। आगम के दो विभाग हो गए—सूत्रागम और अर्थागम। भगवान् के प्रकीर्ण उपदेश को अर्थागम और उनके आधार पर की गई सूत्र-रचना को सूत्रागम कहा गया। वे आचार्यों के लिए निधि बन गए। इसलिए उनका नाम गणि-पिटक हुआ। उस गुम्फन के मौलिक भाग बारह हुए। इसलिए उसका दूसरा नाम हुआ—द्वादशांगी।

स्थविरों ने इसका पल्लवन किया। आगम-सूत्रों की संख्या हजारों तक पहुँच गई।

भगवान् के चौदह हजार शिष्य प्रकरणकार (ग्रन्थकार) थे। उस समय लिखने की परम्परा नहीं थी। सारा वाङ्मय स्मृति पर आधारित था।

आगमों का रचना-क्रम

बारहवें अंग दृष्टिवाद के पाँच विभाग हैं—परिकर्म, सूत्र, पूर्वानुयोग, पूर्वगत और चूलिका।

पूर्वगत के चौदह विभाग हैं। वे पूर्व कहलाते हैं। उनका परिमाण बहुत ही विशाल है। वे श्रुत या शब्द-ज्ञान के समस्त विषयों के अक्षय-कोष होते हैं।

पूर्वों में सारा श्रुत समा जाता है। पूर्वों की भाषा संस्कृत मानी जाती है, किन्तु साधारण बुद्धि वाले उसे पढ़ नहीं सकते। उनके लिए द्वादशांगी की रचना की गई। आगम-साहित्य में अध्ययन-परम्परा के तीन क्रम मिलते हैं। कुछ श्रमण चतुर्दशपूर्वी होते थे, कुछ द्वादशांगी के विद्वान् और कुछ सामायिक आदि ग्यारह अंगों के अध्येता। चतुर्दशपूर्वी श्रमणों का अधिक महत्त्व रहा है। उन्हें श्रुत-केवली कहा गया है।

जैन आगमों की भाषा अर्ध-मागधी है। यह प्राकृत का ही एक रूप है। यह मगध के एक भाग में बोली जाती है तथा इसमें मागधी और दूसरी

भाषाओं—अट्ठारह देशी भाषाओं के लक्षण मिश्रित हैं; इसलिए यह अर्धमागधी कहलाती है। भगवान् महावीर के शिष्य मगध, मिथिला, कौशल आदि अनेक प्रदेश, वर्ग और जाति के थे। इसलिए जैन साहित्य की प्राचीन-प्राकृत में देश्य शब्दों की बहुलता है। इसे आर्ष कहा जाता है। उसका मूल आगम का 'ऋषि-भाषित' शब्द है।

आगम-विभाग

आगम-साहित्य प्रणेता की दृष्टि से दो भागों में विभक्त होता है—अंग-प्रविष्ट और अनंग-प्रविष्ट। भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरों ने जो साहित्य रचा, वह अंग-प्रविष्ट कहलाता है। स्थविरों ने जो साहित्य रचा, वह अनंग-प्रविष्ट कहलाता है। बारह अंगों के अतिरिक्त सारा आगम-साहित्य अनंग-प्रविष्ट है।

द्वादशांगी का स्वरूप सभी तीर्थंकरों के समक्ष नियत होता है। अनंग-प्रविष्ट नियम नहीं होता। अभी जो एकादश अंग उपलब्ध हैं वे सुधर्मा गणधर की वाचना के हैं, इसलिए सुधर्मा द्वारा रचित माने जाते हैं।

अनंग-प्रविष्ट आगम-साहित्य की दृष्टि से दो भागों में बंटता है : कुछेक आगम स्थविरों के द्वारा रचित हैं और कुछेक निर्यूढ। जो आगम द्वादशांगी या पूर्वो से उद्धृत किये गए वे निर्यूढ कहलाते हैं। दशवैकालिक, आचारांग का दूसरा श्रुतस्कंध, निशीथ, व्यवहार, बृहत्कल्प, दशाश्रुतस्कंध—ये निर्यूढ आगम हैं।

दशवैकालिक का निर्यूहण अपने पुत्र मनक की आराधना के लिए आर्य शय्यम्भव ने किया, शेष आगमों के निर्यूहक श्रुत-केवली भद्रबाहु हैं। प्रज्ञापना के कर्ता श्यामार्य, अनुयोगद्वार के कर्ता आर्यरक्षित और नंदी के कर्ता देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण माने जाते हैं।

भाषा की दृष्टि से आगमों को दो युगों में विभक्त किया जा सकता है। ई. पू. ४०० से ई. १०० तक का पहला युग है। इसमें रचित अंगों की भाषा अर्ध-मागधी है। दूसरा युग ई. १०० से ई. ५०० तक का है। इसमें रचित या निर्यूढ आगमों की भाषा जैन महाराष्ट्री प्राकृत है।

आगम-वाचनाएं

वीर-निर्वाण की दूसरी शताब्दी में (१६० वर्ष पश्चात्) पाटलिपुत्र में बारह वर्ष का दुर्भिक्ष हुआ। उस समय श्रमण-संघ छिन्न-भिन्न-सा हो गया। बहुत सारे बहुश्रुत मुनि अनशन कर स्वर्गवासी हो गए। आगम-ज्ञान की श्रृंखला टूट-सी

गई। दुर्भिक्ष मिटा, तब संघ मिला। श्रमणों ने ग्यारह अंग संकलित किए। बारहवें अंग के ज्ञाता भद्रबाहु स्वामी के सिवाय कोई नहीं रहा। वे नेपाल में महाप्राण-ध्यान की साधना कर रहे थे। संघ की प्रार्थना पर उन्होंने बारहवें अंग की वाचना देना स्वीकार कर लिया। पन्द्रह सौ साधु गए। उनमें पाँच सौ विद्यार्थी थे और एक हजार साधु उनकी परिचर्या में नियुक्त थे।

आगम-संकलन का दूसरा प्रयत्न वीर-निर्वाण ८२७ और ८४० (ई. सन् ३००-३१३) के बीच हुआ। आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में आगम लिखे गए। यह कार्य मथुरा में हुआ, इसलिए इसे माथुरी-वाचना कहा जाता है। इसी समय वल्लभी में आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व में आगम संकलित हुए। उसे वल्लभी वाचना या नागार्जुनीय-वाचना कहा जाता है।

माथुरी-वाचना के अनुयायियों के अनुसार वीर-निर्वाण के ९८० वर्ष पश्चात् (ई. सन् ४५३ में) तथा वल्लभी-वाचना के अनुयायियों के अनुसार वीर-निर्वाण के ९९३ वर्ष पश्चात् (ईस्वी सन् ४६६ में— देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व में श्रमण-संघ मिला। द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के कारण बहुत सारे बहुश्रुत मुनि काल-कवलित हो चुके थे। अन्य मुनियों की संख्या भी कम हो गई थी। श्रुत की अवस्था चिन्तनीय थी। दुर्भिक्ष-जनित कठिनाइयों के कारण प्रासुक भिक्षाजीवी साधुओं की स्थिति बड़ी विचारणीय थी। क्रमशः श्रुत की विस्मृति हो रही थी।

देवर्द्धिगणी ने अवशिष्ट बहुश्रुत मुनियों तथा श्रमण-संघ को एकत्रित किया। उन्हें जो श्रुत कंठस्थ था, वह उनसे सुना और लिपिबद्ध कर लिया। आगमों के आलापक न्यूनाधिक और छिन्न-भिन्न मिले। उन्होंने उन सबका अपनी मति से संकलन और संपादन कर पुस्तकारूढ़ कर लिया। इसके पश्चात् फिर कोई सर्वमान्य वाचना नहीं हुई। वीर-निर्वाण की दसवीं शताब्दी के बाद पूर्वज्ञान की परम्परा विच्छिन्न हो गई।

आगम का मौलिक रूप

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार वीर-निर्वाण के ६८३ वर्ष (ई. १५६) के पश्चात् आगमों का मौलिक स्वरूप लुप्त हो गया।

श्वेताम्बर-मान्यता है कि आगम-साहित्य का मौलिक स्वरूप बड़े परिमाण में लुप्त हो गया किन्तु पूर्ण नहीं, अब भी वह शेष है। अंगों और उपांगों की जो तीन बार संकलना हुई, उसमें मौलिक रूप अवश्य ही बदला है। उत्तरवर्ती घटनाओं और विचारणाओं का समावेश भी हुआ है। स्थानांग में सात निह्नवों और नवगणों का उल्लेख इसका स्पष्ट प्रमाण है। प्रश्न-व्याकरण का जो

विषय-वर्णन है, वह वर्तमान रूप में उपलब्ध नहीं है। इस स्थिति के उपरान्त भी अंगों का अधिकांश भाग मौलिक है। भाषा और रचना-शैली की दृष्टि से वह प्राचीन है। आयारो रचना-शैली की दृष्टि से शेष सब अंगों से भिन्न है। आज के भाषाशास्त्री उसे ढाई हजार वर्ष प्राचीन बतलाते हैं। सूत्रकृतांग, स्थानांग और भगवती भी प्राचीन हैं। इसमें कोई संदेह नहीं, आगम का मूल आज भी सुरक्षित है।

आगम-लोप के पश्चात् दिगम्बर-परम्परा में जो साहित्य रचा गया, उसमें सर्वोपरि महत्त्व षट्-खण्डागम और कषाय-प्राभृत का है।

पूर्वों और अंगों के बचे-खुचे अंशों के लुप्त होने का प्रसंग आया, तब आचार्य धरसेन (विक्रम की दूसरी शताब्दी) ने भूतबलि और पुष्पदन्त नामक दो साधुओं को श्रुताभ्यास कराया। इन दानों ने षट् खण्डागम की रचना की। लगभग इसी समय में आचार्य गुणधर हुए। उन्होंने कषाय-प्राभृत रचा। ये पूर्वों के शेषांश हैं। इसलिए इन्हें पूर्वों से उद्धृत माना जाता है। इन पर कई प्राचीन टीकाएं लिखी गई हैं। वे उपलब्ध नहीं हैं। जो टीका वर्तमान में उपलब्ध है, वह आचार्य वीरसेन की है। इन्होंने विक्रम संवत् ८७३ में षट् खण्डागम की ७२,००० श्लोक-प्रमाण धवला टीका लिखी एवं कषाय-पाहुड़ पर २०,००० श्लोक-प्रमाण टीका लिखी। वह पूर्ण न हो सकी, बीच में ही उनका स्वर्गवास हो गया। उसे उन्हीं के शिष्य जिनसेनाचार्य ने पूर्ण किया। उसकी पूर्ति विक्रम सम्वत् ८९४ में हुई। उसका शेष भाग ४०,००० श्लोक-प्रमाण और लिखा गया। दोनों को मिलाकर इसका प्रमाण ६०,००० श्लोक होता है। इसका नाम जय-धवला है। यह प्राकृत और संस्कृत के संक्रांति-काल की रचना है। इसलिए इसमें दोनों भाषाओं का मिश्रण है।

षट्-खण्ड का अन्तिम भाग महाबंध है। इसके रचियता आचार्य भूतबलि हैं। यह ४१,००० श्लोक-प्रमाण है। इन तीनों ग्रन्थों में कर्म का बहुत ही सूक्ष्म विवेचन है।

लेखन और लेख-सामग्री

जैन-साहित्य के अनुसार लिपि का प्रारम्भ प्रागैतिहासिक है। प्रज्ञापना में १८ लिपियों का उल्लेख मिलता है। भगवान् ऋषभनाथ ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को १८ लिपियाँ सिखाईं, ऐसा उल्लेख विशेषावश्वकभाष्यवृत्ति, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र आदि में मिलता है। जैन-सूत्र वर्णित ७२ कलाओं में लेख-कला का पहला स्थान है। भगवान् ऋषभनाथ ने ७२ कलाओं का उपदेश किया तथा असि, मषि और

कृषि—ये तीन प्रकार के व्यापार चलाए। इनमें आये हुए लेख-कला और मषि शब्द लिखने की परम्परा को कर्म-युग के आरम्भ तक ले जाते हैं। नन्दी-सूत्र में तीन प्रकार का अक्षर-श्रुत बतलाया गया है। इसमें पहला संज्ञाक्षर है। इसका अर्थ होता है—अक्षर की आकृति—लिपि।

प्रागैतिहासिक काल में लिखने की सामग्री कैसी थी, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। राजप्रश्नीयसूत्र में पुस्तक रत्न का वर्णन करते हुए कम्बिका (ruler), मोंरा, गांठ, लिप्यासन (मषिपात्र), छंदन (ढक्कन), सांकली, मषि और लेखनी—लेख-सामग्री के इन उपकरणों की चर्चा की गई है। प्राज्ञापना में 'पोत्थारा' शब्द आता है जिसका अर्थ होता है—लिपिकार—पुस्तक-विज्ञान-आर्य। इसे शिल्पार्य में गिना गया है। इसी सूत्र में बताया गया है कि अर्ध-मागधी भाषा और ब्राह्मी लिपि का प्रयोग करने वाले भाषार्य होते हैं। भगवती सूत्र के आरम्भ में ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया गया है, उसकी पृष्ठभूमि में भी लिखने का इतिहास है। भाव-लिपि के पूर्व वैसे ही द्रव्य-लिपि रहती है, जैसे भाव-श्रुत के पूर्व द्रव्य-श्रुत होता है। द्रव्य-श्रुत श्रूयमाण शब्द और पठ्यमान शब्द—दोनों प्रकार का होता है। इससे सिद्ध है कि द्रव्य-लिपि द्रव्य-श्रुत से अतिरिक्त नहीं, उसी का एक अंश है। पाँच प्रकार की पुस्तकें बतलाई गई हैं—१. गण्डी, २. कच्छवी, ३. मुष्टि, ४. संपुट फलक, ५. सृपाटिका। हरिभद्रसूरि ने भी दशवैकालिक टीका में प्राचीन आचार्यों की मान्यता का उल्लेख करते हुए इन्हीं पुस्तकों का उल्लेख किया है। निशीथचूर्णि में भी इनका उल्लेख है। अनुयोगद्वार का पोत्थकम्म (पुस्तक-कर्म) शब्द भी लिपि की प्राचीनता का एक प्रबल प्रमाण है। टीकाकार ने पुस्तक का अर्थ ताड़-पत्र अथवा संपुटक-पत्र-संचय और कर्म का अर्थ उसमें वर्तिका आदि से लिखना किया है। इसी सूत्र में आए हुए पोत्थकार (पुस्तककार) शब्द का अर्थ टीकाकार ने 'पुस्तक के द्वारा जीविका चलाने वाला' किया है। जीवाभिगम के पोत्थार (पुस्तककार) शब्द का यही अर्थ होता है। भगवान् महावीर की पाठशाला में पढ़ने-लिखने की घटना भी तात्कालिक लेखन-प्रथा का एक प्रमाण है। वीर-निर्वाण की दूसरी शताब्दी में आक्रान्ता सम्राट् सिकन्दर के सेनापति निआर्क्स ने लिखा है—"भारतवासी लोग कागज बनाते थे।" ईस्वी के दूसरे शतक में ताड़-पत्र और चौथे में भोज-पत्र लिखने के व्यवहार में लाए जाते थे। वर्तमान में उपलब्ध लिखित ग्रन्थों में पांचवीं शताब्दी ई. में लिखे हुए पत्र मिलते हैं। इन तथ्यों के आधार पर हम जान सकते हैं कि भारत में लिखने की प्रथा प्राचीनतम है। किन्तु समय-समय पर इसके लिए किन-किन साधनों का उपयोग होता था, इसका दो हजार वर्ष पुराना रूप जानना अति कठिन है। मोटे तौर पर हमें यह मानना होगा कि भारतीय

वाङ्मय का भाग्य लम्बे समय तक कण्ठस्थ-परम्परा में ही सुरक्षित रहा है। जैन, बौद्ध और वैदिक—तीनों परम्पराओं के शिष्य उत्तराधिकार के रूप में अपने-अपने आचार्यों द्वारा ज्ञान का अक्षय-कोष पाते थे।

आगम के भेद-प्रभेद

आगम-पुरुष की कल्पना हुई, तब अंग-प्रविष्ट को उसके अंग-स्थानीय और बारह सूत्रों को उपांग-स्थानीय माना गया। पुरुष के जैसे दो पैर, दो जंघाएं, दो उरु, दो गात्रार्ध, दो बाहु, ग्रीवा और सिर—ये बारह अंग होते हैं, वैसे ही श्रुतपुरुष के आचार आदि बारह अंग होते हैं। इसलिए ये अंग-प्रविष्ट कहलाते हैं। कान, नाक, आंख, जंघा, हाथ और पैर—ये उपांग हैं। श्रुतपुरुष के भी औपपातिक आदि बारह उपांग हैं।

बारह अंगों और उनके उपांगों की व्यवस्था इस प्रकार है—

अंग	उपांग
आचार	औपपातिक
सूत्रकृत्	राजप्रश्नीय
स्थान	जीवाभिगम
समवाय	प्रज्ञापना
भगवती	सूर्यप्रज्ञप्ति
ज्ञाताधर्मकथा	अम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
उपासकदशा	चन्द्रप्रज्ञप्ति
अन्तकृद्दशा	कल्पिका
अनुत्तरोपपातिकदशा	काल्पावतंसिका
प्रश्नव्याकरण	पुष्पिका
विपाक	पुष्पचूलिका
दृष्टिवाद	वृष्णिदशा

दर्शवैकालिक और उत्तराध्ययन—ये दो मूल सूत्र माने जाते हैं। नन्दी और अनुयोगद्वार—ये दो चूलिका सूत्र हैं। व्यवहार, बृहत्कल्प, निशीथ और दशाश्रुतस्कन्ध—ये चार छेद सूत्र हैं।

इस प्रकार अंग-बाह्य-श्रुत की समय-समय पर विभिन्न रूपों में योजना हुई है।

आगमों का वर्तमान संस्करण देवर्द्धिगणी का है। अंगों के कर्ता गणधर हैं। अंग-बाह्य-श्रुत के कर्ता स्थविर हैं। उन सबका संकलन और संपादन करने

वाले देवर्द्धिगणी हैं। इसलिए वे आगमों के वर्तमान-रूप के कर्ता भी माने जाते हैं।

आगम का व्याख्यात्मक साहित्य

आगम के व्याख्यात्मक साहित्य का प्रारम्भ निर्युक्ति से होता है और वह 'स्तबक' और 'जोड़ों' तक चलता है।

निर्युक्तियाँ और निर्युक्तिकार—द्वितीय भद्रबाहु ने दस निर्युक्तियाँ लिखीं। इनका रचनाकाल वीर-निर्वाण की पांचवीं-छठी शताब्दी है। इनकी भाषा प्राकृत है। इनमें संक्षिप्त शैली के आधार पर अनेक विषय और पारिभाषिक शब्द प्रतिपादित हैं। ये भाष्य और चूर्णियों के लिए आधारभूत हैं। ये पद्यबद्ध व्याख्याएं हैं।

भाष्य और भाष्यकार—आगमों और निर्युक्तियों के आशय को स्पष्ट करने के लिए भाष्य लिखे गए। अब तक दस भाष्य उपलब्ध हैं।

चूर्णियां और चूर्णिकार—चूर्णियां गद्यात्मक हैं। इनकी भाषा प्राकृत या संस्कृत-मिश्रित प्राकृत है। आगम ग्रन्थों पर १५ चूर्णियां मिलती हैं।

टीकाएं और टीकाकार—आगमों के संस्कृत-टीकाकारों ने अनेक आगमों पर टीकाएं लिखीं।

आगम-साहित्य की समृद्धि के साथ-साथ न्यायशास्त्र के साहित्य का भी विकास हुआ। वैदिक और बौद्ध न्यायशास्त्रियों ने अपने-अपने तत्त्वों को तर्क की कसौटी पर कसकर जनता के सम्मुख रखने का यत्न किया, तब जैन न्यायशास्त्री भी इस ओर मुड़े। विक्रम की पांचवीं शताब्दी में न्याय का जो नया स्रोत बहा, वह बारहवीं में बहुत व्यापक हो गया।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में न्यायशास्त्रियों की गति कुछ शिथिल हो गई। आगम के व्याख्याकारों की परम्परा आगे भी चली। गुजराती-राजस्थानी-मिश्रित भाषा में आगमों पर स्तबक लिखे गए। आगम के सैकड़ों दुरूह स्थलों पर कुछ प्रकीर्ण व्यख्याएं लिखी गईं और कुछ आगमों पर पद्यात्मक व्याख्या रची गई।

इस प्रकार जैन-साहित्य आगम, आगम-व्याख्या-साहित्य और न्याय साहित्य से बहुत समृद्ध है।

परवर्ती प्राकृत साहित्य

विक्रम की दूसरी शती में आचार्य कुन्दकुन्द हुए। उन्होंने अध्यात्मवाद का एक नया स्रोत प्रवाहित किया। उनका झुकाव निश्चय-नय की ओर अधिक था।

है। कवि समयसुन्दरजी की रचनाओं का संग्रह अगरचन्दजी नाहटा ने अभी प्रकाशित किया है। फुटकर 'ढालों' का संकलन किया जाए, तो इतिहास को नई दिशाएं मिल सकती हैं।

राजस्थानी भाषाओं का प्राकृत और अपभ्रंश है। काल-परिवर्तन के साथ-साथ दूसरी भाषाओं का सम्मिश्रण हुआ है।

राजस्थानी साहित्य में जैन-शैली के लेखक जैन-साधु और यति अथवा उनसे सम्बन्ध रखने वाले लोग हैं। इनमें प्राचीनता की झलक मिलती है। अनेक प्राचीन शब्द और मुहावरे इसमें आगे तक चले आये हैं।

जैनों का संबंध गुजरात के साथ विशेष रहा है। अतः राजस्थानी जैन-शैली में गुजरात का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है।

तेरापंथ के आचार्य भिक्षु ने राजस्थानी साहित्य में एक नया स्रोत बहाया। अध्यात्म, अनुशासन, ब्रह्मचर्य, धार्मिक-समीक्षा, रूपक, लोक-कथा और अपनी अनुभूतियों से उसे व्यापकता की ओर ले चले। उन्होंने गद्य भी बहुत लिखा। उनकी सारी रचनाओं का परिमाण ३८,००० श्लोक के लगभग है। मारवाड़ी के ठेठ शब्दों में लिखना और उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना उनकी अपनी विशेषता है। उनकी वाणी का स्रोत क्रांति और शान्ति—दोनों धाराओं में बहा है।

नव पदार्थ, विनीत-अविनीत, व्रताव्रत, अनुकंपा, शील की नववाड़ आदि उनकी प्रमुख रचनाएं हैं।

तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य राजस्थानी भाषा के महाकवि थे। उन्होंने अपने जीवन में लगभग साढ़े तीन लाख श्लोक-प्रमाण गद्य-पद्य लिखे। उनकी कृतियों में—भगवती की जोड़, उत्तराध्ययन की जोड़, भिक्खु दृष्टान्त, आराधना, चौबीसी आदि उल्लेखनीय हैं। एक ही कृति भगवती की जोड़, जो भगवती सूत्र का पद्यानुवाद है, ६०,००० श्लोक-प्रमाण है। यह राजस्थानी भाषा का विशालतम ग्रंथ है।

उनकी लेखनी में प्रतिभा का चमत्कार था। वे साहित्य और अध्यात्म के क्षेत्र में अनिरुद्ध गति से चले। उनकी सफलता का स्वतः प्रमाण उनकी अमर कृतियाँ हैं। उनका तत्त्व-ज्ञान प्रौढ़ था। श्रद्धा, तर्क और व्युत्पत्ति की त्रिवेणी में आज भी उनका हृदय बोल रहा है। जिन-वाणी पर उनकी अटूट श्रद्धा थी। विचार-भेद की दुनिया के लिए वे तार्किक थे। साहित्य, संगीत, कला, संस्कृति—ये उनके व्युत्पत्ति-क्षेत्र थे। उनका सर्वतोमुखी व्यक्तित्व उनके युग-पुरुष होने की साक्षी भर रहा है।

मुड़े। उन्होंने पहले ही चरण में प्राकृत भाषा की तरह संस्कृत भाषा पर भी अधिकार जमा लिया।

प्रादेशिक-साहित्य

ई. पूर्व पांचवीं शताब्दी में जैन धर्म का अस्तित्व दक्षिण भारत में था। ई. पूर्व तीसरी शताब्दी में भद्रबाहु बारह हजार मुनियों के साथ दक्षिण भारत में गए। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य भी उनके साथ थे। उनके वहाँ जाने से धर्म बहु प्रभावी हो गया।

दिगम्बर-आचार्यों का प्रमुख विहार-क्षेत्र दक्षिण बन गया। दक्षिण की भाषाओं में उन्होंने विपुल साहित्य रचा।

कन्नड़ और तमिल साहित्य—कन्नड़ भाषा में कवि 'पोन्न' का शांतिपुराण, 'पंप' का आदिपुराण और भारत आज भी बेजोड़ माना जाता है। 'रत्न' का गदा-युद्ध भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। ईसा की दसवीं शती से सोलहवीं शती तक जैन महर्षियों ने काव्य, व्याकरण, शब्दकोश, ज्योतिष, वैद्यक आदि विविध विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे और कर्णाटक संस्कृति को पर्याप्त समृद्ध बनाया। दक्षिण भारत की पाँच द्रविड़-भाषाओं में से कन्नड़ एक प्रमुख भाषा है। उसमें जैन-साहित्य और साहित्यकार आज भी अमर हैं।

तमिल भी दक्षिण की प्रसिद्ध भाषा है। इसका जैन-साहित्य भी बहुत समृद्ध है। इसके पाँच महाकाव्यों में से तीन महाकाव्य चिन्तामणि, सिलप्पडिकारम् और वलैतापति—जैन कवियों द्वारा रचित हैं। 'नन्नोल' तमिल का विश्रुत व्याकरण है। कुरल और नालदियार जैसे महान् ग्रन्थ भी जैन महर्षियों की कृतियाँ हैं।

गुजराती साहित्य—उत्तर भारत श्वेताम्बर-आचार्यों का विहार-क्षेत्र रहा। उत्तर भारत की भाषाओं में दिगम्बर-साहित्य प्रचुर है, पर श्वेताम्बर-साहित्य की अपेक्षा वह कम है।

आचार्य हेमचन्द्र के समय से गुजरात जैन-साहित्य और संस्कृति से प्रभावित रहा है। आनन्दघनजी, यशोविजयजी आदि अनेक योगियों और महर्षियों ने इस भाषा में अनेक रचनाएं प्रस्तुत कीं।

राजस्थानी साहित्य—राजस्थानी में जैन-साहित्य विशाल मात्रा में है। इस सहस्राब्दी में राजस्थान जैन मुनियों का प्रमुख विहार-स्थल रहा है। यतिं, संविग्न, स्थानकवासी और तेरापंथी—सभी ने राजस्थानी में लिखा है। रास और चरितों की संख्या प्रचुर है। पूज्य जयमलजी का प्रदेशी राजा का चरित्र बहुत ही रोचक

प्रवचनसार, समयसार और पंचास्तिकाय—ये उनकी प्रमुख रचनाएं हैं। इनमें आत्मानुभूति की वाणी आज भी उनके अन्तर्-दर्शन की साक्षी है।

विक्रम की दसवीं शताब्दी में आचार्य नेमिचन्द्र चक्रवर्ती हुए। उन्होंने गोम्मटसार और लब्धिसार-क्षपणसार—इन दो ग्रन्थों की रचना की। ये बहुत ही महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। ये प्राकृत-शौरसेनी भाषा की रचनाएं हैं।

श्वेताम्बर आचार्यों ने मध्ययुग में जैन-महाराष्ट्री में लिखा। विक्रम की तीसरी शती में शिवशर्म सूरि ने कम्मपयडी, उमास्वाति ने जम्बूद्वीप समास लिखा। विक्रम की छठी शताब्दी में संघदास क्षमाश्रमण ने वसुदेवहिण्डी नामक एक कथा-ग्रन्थ लिखा, इसका दूसरा खण्ड धर्मसेनगणी ने लिखा। इसमें वासुदेव के पर्यटन के साथ-साथ अनेक लोक-कथाओं, चरित्रों, विविध वस्त्रों, उत्सवों और विनोद-साधनों का वर्णन किया गया है। जर्मन विद्वान् आल्सडोर्फ ने इसे बृहत्कथा के समकक्ष माना है।

विक्रम की सातवीं शताब्दी में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण हुए। विशेषावश्यक भाष्य इनकी प्रसिद्ध कृति है। यह जैनागमों की चर्चाओं का एक महान् कोष है। विशेषणवती, बृहत्-संग्रहणी और बृहत्-क्षेत्रसमास भी इनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

हरिभद्रसूरि विक्रम की आठवीं शती के विद्वान् आचार्य हैं। 'समराइच्च-कहा' इनका प्रसिद्ध कथा-ग्रन्थ है। संस्कृत-युग में भी प्राकृत-भाषा में रचना का क्रम चलता रहा है।

मध्यकाल में निमित्त, गणित, ज्योतिष, सामुद्रिक-शास्त्र, आयुर्वेद, मन्त्रविद्या, स्वप्न-विद्या, शिल्प-शास्त्र, व्याकरण, छन्द, कोश आदि विषयक अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं।

संस्कृत साहित्य

संस्कृत और प्राकृत—ये दोनों श्रेष्ठ भाषाएं हैं और ऋषियों की भाषाएं हैं। इस तरह आगम-प्रणेताओं ने संस्कृत-प्राकृत की समकक्षता स्वीकार करके संस्कृत का अध्ययन करने के लिए जैनों का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

संस्कृत भाषा तार्किकों के तीखे तर्क-बाणों के लिए तूणीर बन चुकी थी। इसलिए इस भाषा का अध्ययन करने वालों के लिए अपने विचारों की सुरक्षा खतरे में थी। अतः सभी दार्शनिक संस्कृत भाषा को अपनाने के लिए तेजी से पहल करने लगे।

जैनाचार्य भी इस दौड़ में पीछे नहीं रहे। वे समय की गति को पहचानने वाले थे, इसलिए उनकी प्रतिभा इस ओर चमकी और स्वयं इस ओर

हिन्दी साहित्य

विक्रम की दसवीं शताब्दी से जैन विद्वान् अपभ्रंश की ओर झुके। तेरहवीं शती में आचार्य हेमचंद्र ने अपने प्रसिद्ध व्याकरण सिद्ध-हेमशब्दानुशासन में इसका भी व्याकरण लिखा। उसमें उदाहरण-स्थलों में अनेक उत्कृष्ट कोटि के दोहे उद्धृत किए हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर, दोनों परम्पराओं के मनीषी इसी भाषा में पुराण, महापुराण, स्तोत्र आदि लिखते ही चले गए। महाकवि स्वयम्भू ने पद्मचरित लिखा। चतुर्मुखदेव, कवि रइधू, महाकवि पुष्पदंत के पुराण अपभ्रंश में हैं। योगीन्द्र का योगसागर और परमात्मप्रकाश संत-साहित्य के प्रतीक-ग्रंथ हैं।

अनेक जैन आचार्य, मुनि और बहुश्रुत मनीषी नए-नए साहित्य का सृजन कर हिन्दी साहित्य भंडार को भर रहे हैं। तेरापंथ के आचार्यश्री तुलसी तथा अनेक मुनियों ने इस दिशा में अभूतपूर्व योगदान किया है। जैन आगमों को हिन्दी में व्याख्यायित करने का उनका संकल्प क्रियान्वित हो रहा है और साथ-साथ सामयिक विषयों पर शताधिक ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। आज भी मनीषी मुनि इस ओर गतिशील हैं। जैन ध्यान-योग की विलुप्त परम्परा का संधान करने वाले अनेक ग्रन्थ हिन्दी में प्रकाश स्तम्भ बन चुके हैं।

अभ्यास

१. आगम-साहित्य का संक्षिप्त परिचय देते हुए बताएं कि इसे लिपिबद्ध कब, क्यों और किसके द्वारा किया गया?
२. आगम के व्याख्यात्मक साहित्य का परिचय दें।
३. प्राकृत के अतिरिक्त जैन साहित्य किन-किन भाषाओं में उपलब्ध हैं?

□□□

खण्ड ३
संस्कृति

१

जैन संस्कृति : मूल आधार

त्याग और तप

जैन संस्कृति व्रात्यों की संस्कृति है। व्रात्य शब्द का मूल व्रत है। उसका अर्थ है—संयम और संवर। वह आत्मा के सान्निध्य और बाह्य जगत् के प्रति अनासक्ति का सूचक है। व्रत का उपजीवी तत्त्व तप है। उसके उद्भव का मूल जीवन का समर्पण है।

जैन परम्परा तप को अहिंसा, समन्वय, मैत्री और क्षमा के रूप में मान्य करती है। भगवान् महावीर ने अज्ञानपूर्ण तप का उतना ही विरोध किया है, जितना कि ज्ञानपूर्ण तप का समर्थन। अहिंसा के पालन में बाधा न आए, उतना तप सब साधकों के लिए आवश्यक है। विशेष तप उन्हीं के लिए है—जिनमें आत्मबल या दैहिक विराग तीव्रतम हो। निर्ग्रन्थ शब्द अपरिग्रह और जैन शब्द कषाय-विजय का प्रतीक है। इस प्रकार जैन-संस्कृति आध्यात्मिकता, त्याग, सहिष्णुता, अहिंसा, समन्वय, मैत्री, क्षमा, अपरिग्रह और आत्म-विजय की धाराओं का प्रतिनिधित्व करती हुई विभिन्न युगों में विभिन्न नामों द्वारा अभिव्यक्त हुई है।

एक शब्द में जैन-संस्कृति त्याग-मूलक है। जैन-विचारधारा की बहुमूल्य देन संयम है।

दुःख-सुख को ही जीवन का ह्रास और विकास मत समझो। संयम जीवन का विकास है और असंयम ह्रास। असंयमी थोड़ों को व्यावहारिक लाभ पहुँचा सकता है, किन्तु वह छलना, क्रूरता और शोषण को नहीं त्याग सकता।

संयमी थोड़ों का व्यावहारिक हित न साध सके, फिर भी वह सबके प्रति निश्छल, दयालु और शोषण-मुक्त रहता है। मनुष्य-जीवन उच्च संस्कारी बने, इसके लिए उच्च वृत्तियाँ चाहिए; जैसे—

१. आर्जव या ऋजुभाव, जिससे विश्वास बढ़े।
२. मार्दव या दयालुता, जिससे मैत्री बढ़े।
३. लाघव या नम्रता, जिससे सहृदयता बढ़े।

४. क्षमा या सहिष्णुता, जिससे धैर्य बढ़े।

५. शौच या पवित्रता, जिससे एकता बढ़े।

६. सत्य या प्रामाणिकता, जिससे निर्भयता बढ़े।

७. माध्यस्थ्य या आग्रहहीनता, जिससे सत्य-स्वीकार की शक्ति बढ़े।

किन्तु इन सबको संयम की अपेक्षा है। 'एक ही साधै सब सधै'—संयम की साधना हो, तो सब सध जाते हैं, नहीं तो नहीं। जैन विचारधारा इस तथ्य को पूर्णता का मध्य-बिन्दु मानकर चलती है। अहिंसा इसी की उपज है, जो 'जैन विचरणा' की सर्वोपरि देन मानी जाती है।

अहिंसा और मुक्ति—श्रमण-संस्कृति की ये दो ऐसी आलोक-रेखाएं हैं, जिनसे जीवन के वास्तविक मूल्यों को देखने का अवसर मिलता है।

जब जीवन का धर्म अहिंसा या कष्ट-सहिष्णुता और साध्य-मुक्ति या स्वातंत्र्य बन जाता है, तब व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उन्नति रोके नहीं रुकती।

अहिंसा का विकास संयम के आधार पर हुआ है। अतः अहिंसा का उपदेश करुणा की भावना से उत्पन्न न होकर संसार से पवित्र रहने की भावना पर आधृत है। कार्य के आचरण से नहीं, अधिकतर पूर्ण बनने के आचरण से संबंधित है।

यह सच है कि अहिंसा के उपदेश में सभी जीवों के समान स्वभाव को मान लिया गया है परन्तु इसका आविर्भाव करुणा से नहीं हुआ है। भारतीय संन्यास में अकर्म का साधारण सिद्धान्त ही इसका कारण है।

सामान्य धारणा यह है कि जैन-संस्कृति निराशावाद या पलायनवाद की प्रतीक है। किन्तु यह चिन्तन पूर्ण नहीं है। जैन-संस्कृति का मूल तत्त्ववाद है। कल्पनावाद में कोरी आशा होती है। तत्त्ववाद में आशा और निराशा का यथार्थ अंकन होता है।

परिग्रह के लिए सामाजिक प्राणी कामनाएं करते हैं। जैन उपासकों का कामना-सूत्र है—

१. कब मैं अल्प-मूल्य एवं बहु-मूल्य परिग्रह का प्रत्याख्यान करूंगा।

२. कब मैं मुण्ड हो, गृहस्थपन छोड़, साधुव्रत स्वीकार करूंगा।

३. कब मैं अपश्चिम-मारणान्तिक-संलेखना यानी अन्तिम अनशन में शरीर को झोंसकर—जुटाकर और भूमि पर गिरी हुई वृक्ष की डाली की तरह अडोल रखकर मृत्यु की अभिलाषा न करता हुआ विचरूंगा।

जैनाचार्य धार्मिक विचार में बहुत ही उदार रहे हैं। उन्होंने अपने अनुयायियों को केवल धार्मिक नेतृत्व दिया। उन्हें परिवर्तनशील सामाजिक

व्यवस्था में कभी नहीं बांधा। समाज-व्यवस्था को समाजशास्त्रियों के लिए सुरक्षित छोड़ दिया। धार्मिक विचारों के एकत्व की दृष्टि से जैन-समाज है, किन्तु सामाजिक बंधनों की दृष्टि से जैन-समाज का कोई अस्तित्व नहीं है।

जैन-संस्कृति का रूप सदा व्यापक रहा है। उसका द्वार सबके लिए खुला रहा है। उस व्यापक दृष्टिकोण का मूल असांप्रदायिकता और जातीयता का अभाव है। व्यवहार-दृष्टिकोण में जैनों के सम्प्रदाय हैं पर उन्होंने धर्म को सम्प्रदाय के साथ नहीं बांधा। वे जैन-सम्प्रदायों को नहीं, जैनत्व को महत्त्व देते हैं। जैनत्व का अर्थ है—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र की आरधाना।

कभी-कभी एक विचार प्रस्फुटित होता है—जैन-धर्म के अहिंसा सिद्धांत ने भारत को कायर बना दिया, पर यह सत्य से बहुत दूर है। अहिंसक कभी-कायर नहीं होता। यह कायरता और उसके परिणामस्वरूप परतन्त्रता हिंसा के उत्कर्ष से, आपसी वैमनस्य से आयी और तब आयी, जब जैन-धर्म के प्रभाव से भारतीय मानस दूर हो रहा था।

भगवान् महावीर ने समाज के जो नैतिक मूल्य स्थिर किए, उनमें दो बातें सामाजिक-राजनैतिक दृष्टि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण थीं—

१. अनाक्रमण—संकल्पी हिंसा का त्याग।

२. इच्छा परिमाण—परिग्रह का सीमाकरण।

यह लोकतंत्र या समाजवाद का प्रधान सूत्र है। वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री आदित्यनाथ झा ने इस तथ्य को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है—"भारतीय जीवन में प्रज्ञा और चारित्र का समन्वय जैन और बौद्धों की विशेष देन है। जैन-दर्शन के अनुसार सत्य-मार्ग परम्परा का अन्धानुकरण नहीं है, प्रत्युत तर्क और उपपत्तियों से सम्मत तथा बौद्धिक रूप से संतुलित दृष्टिकोण ही सत्य-मार्ग है। इस दृष्टिकोण की प्राप्ति तब संभव है, जब मिथ्या विश्वास पूर्णतः दूर हो जाए। इस बौद्धिक आधार-शिला पर ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के बल से सम्यक् चारित्र को प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

"जैन-धर्म का आचारशास्त्र भी जनतंत्रवादी भावनाओं से अनुप्राणित है। जन्मतः सभी व्यक्ति समान हैं और प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्य और रुचि के अनुसार गृहस्थ या मुनि हो सकता है।"

"अपरिग्रह संबंधी जैन धारणा भी विशेषतः उल्लेखनीय है। आज इस बात पर अधिकाधिक बल देने की आवश्यकता है, जैसा कि प्राचीन काल के जैन विचारकों ने किया था। 'परिमित परिग्रह'—उनका आदर्श वाक्य था। जैन

विचारकों के अनुसार परिमित परिग्रह का सिद्धान्त प्रत्येक गृहस्थ के लिए अनिवार्य रूप से आचरणीय था। सम्भवतः भारतीय आकाश में समाजवादी समाज के विचारकों का यह प्रथम उद्घोष था।"

प्रत्येक आत्मा में अनन्त शक्ति के विकास की क्षमता, आत्मिक समानता, क्षमा, मैत्री, विचारो का अनाग्रह आदि के बीज जैन-धर्म ने ही बोये थे। महात्मा गांधी का निमित्त पा, आज वे केवल भारत के ही नहीं, विश्व की राजनीति के क्षेत्र में पल्लवित हो रहे हैं।

कला

जैन-परम्परा में कला शब्द बहुत ही व्यापक-अर्थ में व्यवहृत हुआ है। भगवान् ऋषभदेव ने अपने राज्यकाल में पुरुषों के लिए बहत्तर और स्त्रियों के लिए चौसठ कलाओं का निरूपण किया। टीकाकारों ने कला का अर्थ वस्तु-परिज्ञान किया है। इसमें लेख गणित, चित्र, नृत्य, गायन, युद्ध, काव्य, वेशभूषा, स्थापत्य, पाक मनोरंजन आदि अनेक परिज्ञानों का समावेश किया गया है।

धर्म भी एक कला है। यह जीवन की सबसे बड़ी कला है। जीवन के सारस्य की अनुभूति करने वाले तपस्वियों ने कहा है—"जो व्यक्ति सब कलाओं में प्रवर धर्म-कला को नहीं जानता, वह बहत्तर कलाओं में कुशल होते हुए भी अकुशल है।" जैन-धर्म का आत्मपक्ष धर्म-कला के उन्नयन में ही संलग्न रहा। बहिरंग-पक्ष सामाजिक होता है। समाज-विचार के साथ-साथ ललित कला का भी विस्तार हुआ।

चित्रकला

जैन-चित्रकला का श्री गणेश तत्त्व-प्रकाशन से होता है। गुरु अपने शिष्यों को विश्व-व्यवस्था के तत्त्व 'स्थापना' के द्वारा समझाते हैं। स्थापना तदाकार और अतदाकार दोनों प्रकार की होती है। तदाकार स्थापना के दो प्रयोजन हैं—तत्त्व-प्रकाशन और स्मृति। तत्त्व-प्रकाशन-हेतुक स्थापना के आधार पर चित्रकला और स्मृति-हेतुक स्थापना के आधार पर मूर्तिकला का विकास हुआ। ताड़पत्र और पत्तों पर ग्रंथ लिखे गए और उनमें चित्र चित्रित किये गए। विक्रम की दूसरी सहस्राब्दी में हजारों ऐसी प्रतियां लिखी गईं, जो कलात्मक चित्राकृतियों के कारण अमूल्य हैं।

ताड़पत्रीय या पत्रीय प्रतियों के पुट्ठों, चातुर्मासिक प्रार्थनाओं, कल्याण-मंदिर, भक्तामर आदि स्तोत्रों के चित्रों को देखे बिना मध्यकालीन चित्रकला का इतिहास अधूरा ही रहता है।

योगी मारा गिरिगुहा (रामगढ़ की पहाड़ी, सरगूजा) और सितन्न-वासल (पदुकोटै राज्य) के भित्ति-चित्र अत्यन्त प्राचीन और सुन्दर हैं।

चित्रकला की विशेष जानकारी के लिए **'जैन चित्र कल्पद्रुम'** देखना चाहिए।

लिपि-कला

अक्षर-विन्यास भी एक सुकुमार कला है। जैन साधुओं ने इसे बहुत ही विकसित किया। वे सौन्दर्य और सुन्दरता—दोनों दृष्टियों से इसे उन्नति के शिखर तक ले गए।

पन्द्रह सौ वर्ष पहले लिखने का कार्य प्रारम्भ हुआ और वह अब तक विकास पाता रहा है। लेखन-कला में यतियों का कौशल विशेष रूप से प्रस्फुटित हुआ है।

तेरापंथ के साधुओं ने भी इस कला में चमत्कार प्रदर्शित किया है। सूक्ष्म लिपि में यह अग्रणी है। कई मुनियों ने ग्यारह इंच लम्बे और पाँच इंच चौड़े पन्ने में लगभग अस्सी हजार अक्षर लिखे हैं। ऐसे पत्र आज तक अपूर्व माने जाते रहे हैं।

जैन स्तूप

भारतीय स्थापत्य-भवन निर्माण एवं मूर्ति कला क्षेत्र में जैन परम्पराएं अति प्राचीन हैं। मथुरा के पास स्थित कंकाली टीले का उत्खनन करके पुराविदों ने एक अति प्राचीन स्तूप के भग्नावशेष निकाले हैं, जो डॉ. फूहरर् के शब्दों में भारत में बनी प्राचीनतम इमारत है।

गोलाकार तल के गोल चबूतरे पर जैन पद्धति से ढोलनुमा इमारत बनी है, जिसमें अर्द्धगोलाकार प्रदक्षिणा-पथ, आड़ी पटरियाँ और चारों दिशाओं में तोरणद्वार बने हैं। वहीं मिले एक पेनल पर स्तूप की आकृति बनी है और पेनल पर कोट्टियाण, थानिय कुल और वैर शाखा के उल्लेख के साथ संवत् ९५ का लेख लिखा है।

स्तूप की खुदाई में सैंकड़ों मूर्ति, शिलालेख और कलात्मक उपकरण मिले हैं।

मूर्तिकला और स्थापत्य-कला

सबसे प्राचीन जैन-मूर्ति पटना के लोहर्नीपुर स्थान से प्राप्त हुई है। यह मूर्ति मौर्यकाल की मानी जाती है और पटना म्यूजियम में रखी हुई है। इसकी चमकदार पॉलिश अभी तक भी ज्यों की त्यों बनी है। मथुरा, लखनऊ, प्रयाग

आदि के म्यूजियमों में भी अनेक जैन-मूर्तियाँ मौजूद हैं। इनमें से कुछ गुप्त-कालीन हैं। मथुरा में चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान महावीर की एक मूर्ति मिली है जो कुमारगुप्त के समय में तैयार की गई थी। वास्तव में मथुरा में जैन-मूर्तिकला की दृष्टि से भी बहुत काम हुआ है।

खण्डगिरी और उदयगिरी में ई.पू. १८८-३० तक की शुंगकालीन मूर्ति-शिल्प के अद्‌भुत चातुर्य के दर्शन होते हैं। वहाँ की इस काल की कटी हुई सौ के लगभग जैन गुफाएं हैं, जिनमें मूर्ति-शिल्प भी है। दक्षिण भारत के अलगामले नामक स्थान में खुदाई में जैन-मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, उनका समय ई.पू. ३००-२०० के लगभग बताया जाता है। उन मूर्तियों की सौम्याकृति द्राविड़कला में अनुपम मानी जाती है। श्रवण बेलगोला की प्रसिद्ध जैन-मूर्ति तो संसार की अद्‌भुत वस्तुओं में से है। यह गोमटेश्वर बाहुबली की सत्तावन फुट ऊंची मूर्ति एक ही पत्थर में उत्कीर्ण है। इसकी स्थापना राजमल्ल नरेश के प्रधानमन्त्री तथा सेनापति चामुण्डराय ने ई. सन् ९८३ में की थी। यह अपने अनुपम सौन्दर्य और अद्‌भुत कान्ति से प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। यह विश्व को जैन-मूर्तिकला की अनुपम देन है।

मध्य भारत (वडवानी) में भगवान् ऋषभदेव की ८४ फुट ऊंची मूर्ति एशिया की सबसे बड़ी मूर्ति मानी जाती है।

जैन मूर्तिकला का विकास मथुरा-काल से हुआ।

जैन स्थापत्य-कला के सर्वाधिक प्राचीन अवशेष उदयगिरि, खण्डगिरि एवं जूनागढ़ की गुफाओं में मिलते हैं।

उत्तरवर्ती स्थापत्य की दृष्टि से चित्तौड़ का 'कीर्ति-स्तम्भ', आबू के मन्दिर एवं रणकपुर के जैन मन्दिरों के स्तम्भ भारतीय शैली के रक्षक रहे हैं।[1]

पर्व और त्यौहार

जैनों के मुख्य पर्व चार हैं—

१. अक्षय तृतीय
२. पर्युषण और दस लक्षण
३. महावीर-जयन्ती
४. दीपावली

अक्षय तृतीया पर्व का सम्बन्ध आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ से है। उन्होंने वैशाख सुदी तृतीया के दिन बारह महीनों की तपस्या का इक्षु-रस से पारणा किया। इसलिए वह इक्षु तृतीया या अक्षय तृतीया कहलाती है।

---

१. आबू आदि के विषय में विस्तृत चर्चा "जैनों के कुछ विशिष्ट स्थल" के अन्तर्गत आगे की गई है।

पर्युषण पर्व आराधना का पर्व है। भाद्र बदी १२ या १३ से भाद्र सुदी ४ या ५ तक यह पर्व मनाया जाता है। इसमें तपस्या, स्वाध्याय, ध्यान आदि आत्मशोधक प्रवृत्तियों की आराधना की जाती है। इसका अन्तिम दिन सम्वत्सरी कहलाता है। वर्षभर की भूलों के लिए क्षमा लेना और क्षमा देना इसकी विशेषता है। यह पर्व मैत्री और उज्ज्वलता का संदेशवाहक है।

दिगम्बर-परम्परा में भाद्र शुक्ला पंचमी से चतुर्दशी तक दसलक्षण पर्व मनाया जाता है। इसमें प्रतिदिन क्षमा आदि दस धर्मों में से एक-एक धर्म की आराधना की जाती है, इसे दस लक्षण पर्व कहा जाता है। दशलक्षण पर्व का समापन चतुर्दशी के दिन होता है जिसे "अनन्त चतुर्दशी" कहा जाता है।

महावीर जयन्ती चैत्र शुक्ला १३ को भगवान् महावीर के जन्म दिवस के उपलक्ष में मनाई जाती है।

दीपावली का सम्बन्ध भगवान् महावीर के निर्वाण से है। प्राचीनतम जैन ग्रंथों से यह बात स्पष्ट शब्दों में कही गई है कि कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि तथा अमावस्या के प्रभात के बीच सन्धि-वेला में भगवान् महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया था तथा इस अवसर पर देवों तथा इन्द्रों ने दीपमालिका सजाई थी।

आचार्य जिनसेन ने हरिवंशपुराण में स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि दीपावली का महोत्सव भगवान् महावीर के निर्वाण की स्मृति में मनाया जाता है। दीपावली की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यही प्राचीनतम प्रमाण है।

अभ्यास

१. जैन संस्कृति के मूल आधार को स्पष्ट करें।

२. जैन कलाओं पर विस्तार से प्रकाश डालें।

□□□

२

जैन धर्म का प्रसार

जैन धर्म का प्रभुत्व

भगवान् महावीर की जन्मभूमि, तपोभूमि और विहारभूमि बिहार था। इसलिए महावीर-कालीन जैन-धर्म पहले बिहार में पल्लवित हुआ। कालक्रम में वह बंगाल, उड़ीसा, उत्तर भारत, दक्षिण भारत, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रांत और राजपूताना में फैला। विक्रम की सहस्राब्दी के पश्चात् शैव, लिंगायत, वैष्णव आदि वैदिक सम्प्रदायों के प्रबल विरोध के कारण जैनधर्म का प्रभाव सीमित हो गया। अनुयायियों की अल्प संख्या होने पर भी जैन-धर्म का सैद्धांतिक प्रभाव भारतीय चेतना पर व्याप्त रहा। बीच-बीच में प्रभावशाली जैनाचार्य उसे उद्‌बुद्ध करते रहे। विक्रम की बारहवीं शताब्दी में गुजरात का वातावरण जैन-धर्म से प्रभावित था।

गुर्जर-नरेश जयसिंह और कुमारपाल ने जैन-धर्म को बहुत ही प्रश्रय दिया और कुमारपाल का जीवन जैन-आचार का प्रतीक बन गया था। सम्राट् अकबर भी हीरविजयसूरि से प्रभावित थे। अमेरिकी दार्शनिक विल ड्यूरेन्ट ने लिखा है—"अकबर ने जैनों के कहने पर शिकार छोड़ दिया था और कुछ नियत तिथियों पर पशु-हत्याएं रोक दी थीं। जैन-धर्म के प्रभाव से ही अकबर ने अपने द्वारा प्रचारित दीन-ए-इलाही नामक सम्प्रदाय में माँस-भक्षण के निषेध का नियम रखा था।"

जैन मंत्री, दण्डनायक और अधिकारियों के जीवन-वृत्त बहुत ही विश्रुत हैं। वे विधर्मी राजाओं के लिए भी विश्वासपात्र रहे हैं। उनकी प्रामाणिकता और कर्त्तव्यनिष्ठा की व्यापक प्रतिष्ठा थी। जैनत्व का अंकन पदार्थों से नहीं, किन्तु चारित्रिक मूल्यों से ही हो सकता है।

भगवान् महावीर के युग में जैन धर्म भारत के विभिन्न भागों में फैला। सम्राट् अशोक के पौत्र संप्रति ने जैन-धर्म का संदेश भारत से बाहर भी पहुँचाया। उस समय जैन-मुनियों का बिहार-क्षेत्र भी विस्तृत हुआ। श्री विश्वम्भरनाथ पांडे ने अहिंसक-परम्परा की चर्चा करते हुए लिखा है—"ईसवी

सन् की पहली शताब्दी में और उसके बाद के हजार वर्षों तक जैन-धर्म मध्यपूर्व के देशों में किसी-न-किसी रूप में यहूदी धर्म, ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म को प्रभावित करता रहा है।" प्रसिद्ध जर्मन इतिहास-लेखक बान क्रेमर के अनुसार मध्य-पूर्व में प्रचलित 'समानिया' सम्प्रदाय 'श्रमण' शब्द का अपभ्रंश है। इतिहास लेखक जी.एफ. मूर लिखता है कि 'हजरत ईसा के जन्म की शताब्दी से पूर्व इराक, स्याम और फिलिस्तीन में जैन-मुनि और बौद्ध भिक्षु सैकड़ों की संख्या में फैले हुए थे।' 'सियाहत नाम ए नासिर' का लेखक लिखता है कि इस्लाम धर्म के कलन्दरी तबके पर जैन-धर्म का काफी प्रभाव पड़ा था। कलन्दर चार नियमों का पालन करते थे—साधुता, शुद्धता, सत्यता और दरिद्रता। वे अहिंसा पर अखण्ड विश्वास रखते थे।

जैन-धर्म का प्रसार अहिंसा, शान्ति, मैत्री और संयम का प्रसार था। इसलिए उस युग को भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग कहा जाता है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार पी.सी. रायचौधरी के अनुसार—"यह धर्म धीरे-धीरे फैला, जिस प्रकार ईसाई-धर्म का प्रचार यूरोप में धीरे-धीरे हुआ। श्रेणिक, कुणिक, चद्रगुप्त, संप्रति, खारवेल तथा अन्य राजाओं ने जैन-धर्म को अपनाया। वे शताब्द भारत के हिन्दूशासन के वैभवपूर्ण युग थे, जिन युगों में जैन-धर्म-सा महान् धर्म प्रचारित हुआ।"

भगवान् महावीर के युग में भारत में गणतन्त्र और राजतन्त्र दोनों प्रकार की शासन-प्रणालियाँ प्रचलित थीं। अनेक राजा महावीर के भक्त थे। अनेक राजा जैन परम्परा में दीक्षित हुए। श्रेणिक, कूणिक, उदायि आदि राजाओं के पश्चात् नन्द राजाओं ने जैन धर्म को संरक्षण दिया। नन्दों के उत्तराधिकारी राजा जैन धर्म के प्रश्रय दाता रहे हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य दृढ़ जैन था। वह आचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण गया और उसने दक्षिण भारत में कर्नाटक प्रदेश की 'चन्द्रगिरि' पहाड़ी पर समाधिपूर्ण मरण प्राप्त किया।

सम्राट् अशोक का पुत्र कुणाल जैन धर्मावलम्बी था। वह उज्जयिनी प्रदेश का राज्यपाल था। महाराज अशोक का पुत्र कुणाल अंधा हो गया था। उसके पुत्र का नाम सम्प्रति था। सम्प्रति ने अपने पराक्रम से दक्षिणापथ, सौराष्ट्र आंध्र तथा द्रविड़ देशों पर विजय प्राप्त की थी। उसने अपने अधीनस्थ राजाओं को जैन धर्म की विशेषताओं से परिचित कराया और जैन मुनियों के विहार की देख-रेख करने का निर्देश दिया। जैन-मुनियों का विहार-क्षेत्र विस्तृत हो गया। संप्रति के प्रयास से ही जैन मुनि आंध्र, द्रविड़, महाराष्ट्र आदि सीमा-स्थित प्रदेशों में जाने-आने लगे। उसने ई.पू. २३२ से २९० तक लगभग ४२ वर्ष तक राज्य

किया। आचार्य सुहस्ती उसके धर्म गुरु थे। लगभग ६० वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हुई। जैन धर्म के उद्धारक के रूप में महाराज संप्रति का नाम प्रसिद्ध है। बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अशोक ने जो काम किया, उससे अधिक सम्प्रति ने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए किया।

सम्राट् सम्प्रति को "परम-आर्हत्" कहा गया है। उन्होंने अनार्य-देशों में श्रमणों का विहार करवाया था। भगवान् महावीर के काल में बिहार के लिए जो आर्य-क्षेत्र की सीमा थी, वह संप्रति के काल में बहुत विस्तृत हो गई थी।

सम्राट् संप्रति को भारत के तीन खण्डों का अधिपति कहा गया है। जयचंद्र विद्यालंकार ने लिखा है—'संप्रति को उज्जैन में जैन आचार्य सुहस्ती ने अपने धर्म की दीक्षा दी। उसके बाद सम्प्रति ने जैन-धर्म के लिए वही काम किया जो अशोक ने बौद्ध धर्म के लिए किया था। चाहे चन्द्रगुप्त के और चाहे संप्रति के समय में जैन-धर्म की बुनियाद तामिल भारत के नए राज्यों में भी जा जमी, इसमें संदेह नहीं। उत्तर-पश्चिम में अनार्य देशों में भी सम्प्रति ने जैन-प्रचारक भेजे और वहाँ जैन-साधुओं के लिए अनेक विहार स्थापित किए। अशोक और संप्रति दोनों के कार्य से आर्य संस्कृति एक विश्वशक्ति बन गई और आर्यावर्त का प्रभाव भारतवर्ष की सीमाओं के बाहर तक पहुँच गया। अशोक की तरह उसके पुत्र ने भी अनेक इमारतें बनवाईं। राजपूताना की कई जैन-इमारतें उसके समय की कही जाती हैं।" कुछ विद्वानों का अभिमत है कि जो शिलालेख अशोक के नाम से प्रसिद्ध हैं, उनमें से कुछ सम्राट् संप्रति ने लिखवाए थे। सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विद श्री सूर्यनारायण व्यास ने भी यह प्रमाणित किया है कि सम्राट् अशोक के नाम के लेख सम्राट् संप्रति के हैं।

उड़ीसा का राजा खारवेल भी कट्टर जैन धर्मावलम्बी था। उसका जन्म लगभग ई.पू. १९० में हुआ। पन्द्रह वर्ष की आयु में उन्हें युवराज-पद प्राप्त हुआ। २५ वर्ष की आयु में उनका राज्याभिषेक हुआ। उन्होंने लगभग १३ वर्ष तक राज्य किया।

वे कलिंग (उड़ीसा) के समर्थ शासक थे। इनका वंश 'चेति' था। उन्होंने पराक्रम से अनेक देशों को जीतकर अपने राज्य में मिलाया, राज्य प्राप्ति के तेरहवें वर्ष में श्रावक व्रत स्वीकार किए। उन्होंने केवल तेरह वर्ष तक राज्य किया, किन्तु कलिंग का प्रभाव सारे भारत पर व्यापक हो गया, शेष जीवन इन्होंने धर्माराधना में बिताया।

इनका इतिहास-प्रसिद्ध हाथीगुम्फा शिलालेख उड़ीसा प्रदेश के पुरी जिले में स्थित भुवनेश्वर से तीन मील दूरी पर उदयगिरि पर्वत पर बने हुए हाथीगुम्फा

मंदिर के मुख एवं छत पर उत्कीर्ण है। इसकी तिथि ई.पू. १५२ मानी जाती है। इस शिलालेख का प्रारम्भ अर्हतों और सिद्धों की वंदना से होता है।

उसमें यह भी लिखा गया कि ई.पू. १५३ में कुमारी पर्वत पर उन्होंने जैन मुनियों और श्रावकों का महा सम्मेलन किया और उसमें द्वादशांगी श्रुत के उद्धार के लिए प्रयत्न किया। खारवेल के पश्चात् भी उड़ीसा में लगभग सात शताब्दियों तक जैन धर्म का प्रभुत्व रहा।

इस प्रकार एक सहस्राब्दी तक उत्तर एवं दक्षिण भारत के विभिन्न स्थानों पर जैन मतावलम्बी राजे, मंत्री, कोटपाल, कोषाध्यक्ष आदि थे। गुजरात, सौराष्ट्र आदि प्रदेशों में उसके पश्चात् भी जैन धर्म का प्रभुत्व बना रहा।

जैन-धर्म भारत के विविध अञ्चलों में

बिहार

भगवान् महावीर के समय में उनका धर्म प्रजा के अतिरिक्त अनेक राजाओं द्वारा स्वीकृत था। वज्जियों के शक्तिशाली गणतन्त्र के प्रमुख राजा चेटक भगवान् महावीर के श्रावक थे। वे पहले से ही जैन थे। वे भगवान् पार्श्व की परम्परा को मान्य करते थे। वज्जी गणतन्त्र की राजधानी 'वैशाली' थी। वहाँ जैन-धर्म बहुत प्रभावशाली था।

मगध में भी जैन-धर्म प्रभावशाली था। मगध सम्राट श्रेणिक की रानी चेल्लणा चेटक की पुत्री थी। यह श्रेणिक को निग्रंथ धर्म का अनुयायी बनाने का सतत प्रयत्न करती थीं और अन्त में उसका प्रयत्न सफल हो गया। श्रेणिक का पुत्र कूणिक भी जैन था। जैन-आगमों में महावीर और कूणिक के अनेक प्रसंग हैं।

मगध-शासक शिशुनाग-वंश के बाद नंद-वंश का राज्य वर्तमान बम्बई के सुदूर दक्षिण गोदावरी तक फैला हुआ था। उस समय मगध और कलिंग में जैन-धर्म का प्रभुत्व था ही, परन्तु अन्यान्य प्रदेशों में भी उसका प्रभुत्व बढ़ रहा था।

नंद-वंश की समाप्ति हुई और मगध की साम्राज्यश्री मौर्य-वंश के हाथ में आई। उसका पहला सम्राट् चन्द्रगुप्त था। उसने उत्तर-भारत में जैन-धर्म का बहुत विस्तार किया। पूर्व और पश्चिम भी उससे काफी प्रभावित हुए। सम्राट् चन्द्रगुप्त अपने अन्तिम जीवन में मुनि बने और श्रुतकेवली भद्र-बाहु के साथ दक्षिण में गए थे। चन्द्रगुप्त के पुत्र बिंदुसार और उनके पुत्र अशोकश्री (सम्राट अशोक) हुए। अशोक के उत्तराधिकारी उनके पौत्र सम्प्रति थे।

बंगाल

राजनीतिक दृष्टि से प्राचीन-काल में बंगाल का भाग्य मगध के साथ जुड़ा हुआ था। नंदों और मौर्यों ने गंगा की उस निचली घाटी पर अपना अधिकार बनाए रखा। कुषाणों के समय में बंगाल उनके शासन से बाहर रहा, परन्तु गुप्तों ने उस पर अपना अधिकार फिर स्थापित किया। गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् बंगाल में छोटे -छोटे अनेक राज्य उठ खड़े हुए।

भगवान् महावीर वज्रभूमि (बीरभोम) में गए थे। उस समय वह अनार्य-प्रदेश कहलाता था। उससे पूर्व बंगाल में भगवान् पार्श्व का ही धर्म प्रचलित था।

भगवान् महावीर के सातवें पट्टधर श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु पौण्ड्रवर्धन (उत्तरी बंगाल) के प्रमुख नगर कोट्टपुर के सोमशर्मा पुरोहित के पुत्र थे।

उनके शिष्य स्थविर गोदास से गोदास-गण का प्रवर्तन हुआ। उसकी चार शाखाएं थीं—तामलित्तिया, कोडिवरिसिया, पुण्डबद्धणिया (पोंडवद्धणिया), दासीखब्बडिया।

तामलित्तियों का सम्बन्ध बंगाल की मुख्य राजधानी ताम्रलिप्ती से है। कोडिवरिसिया का सम्बन्ध राढ की राजधानी कोटि-वर्ष से है। पोंडबद्धणिया का सम्बन्ध पौंड्र—उत्तरी बंगाल से है। दासीखब्बडिया का सम्बन्ध खरवट से है। इन चारों बंगाली शाखाओं से बंगाल में जैन-धर्म के सार्वजनिक प्रसार की सम्यक् जानकारी मिलती है।

उड़ीसा

ई. पूर्व दूसरी शताब्दी में उड़ीसा में जैन-धर्म बहुत प्रभावशाली था। सम्राट् खारवेल का उदयगिरि पर्वत पर हाथीगुंफा का शिलालेख इसका स्वयंभू प्रमाण है। लेख का प्रारम्भ—'नमो अरहंताणं, नमो सव-सिधानं'—इस वाक्य से होता है।

उत्तर-प्रदेश

भगवान् पार्श्व वाराणसी के थे। काशी और कौशल—ये दोनों राज्य उनके धर्मोपदेश से बहुत प्रभावित थे। वाराणसी का अलक्ष्य राजा भी भगवान् महावीर के पास प्रव्रजित हुआ था। उत्तराध्ययन में प्रव्रजित होने वाले राजाओं की सूची में काशीराज के प्रव्रजित होने का भी उल्लेख है।

उत्तर भारत में भी जैन धर्म का प्रभुत्व बना रहा। कभी वह कम हो जाता और कभी बढ़ जाता। कुषाण सम्राटों के शासनकाल (ई. ७५-२५०) तक,

विशेषकर मथुरा जनपद में जैन-धर्म उन्नत और प्रभावशाली रहा। तीसरी शताब्दी के लगभग जब कुषाणों की पराजय हुई, तब जैन-धर्म का प्रभाव भी घट गया, किन्तु आगन्तुक भद्रक, अर्जुनायन आदि युद्धोपजीवी गणराज्य जैनों के प्रति सहिष्णु बने रहे। जैन मुनियों के विहरण में कोई बाधा नहीं आई।

गुप्तकाल का प्रारम्भ लगभग ई. ३२० माना जाता है। गुप्त-नरेश यद्यपि जैन नहीं थे, फिर भी वे जैन-धर्म के प्रति-सहिष्णु थे। उनका वर्चस्व छठी शताब्दी के मध्य तक रहा।

कन्नौज का प्रतापी सम्राट् हर्षवर्धन (ई. ६०६-६४७) का विशेष झुकाव जैन-धर्म की ओर नहीं था, फिर भी वह जैन विद्वानों का समर्थक और प्रतिष्ठापक था।

राजस्थान

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् मरुस्थल (वर्तमान राजस्थान) में जैन-धर्म का प्रभाव बढ़ गया था।

आचार्य रत्नप्रभसूरि वीर-निर्वाण की पहली शताब्दी में उपकेश या ओसियां में आए थे। उन्होंने वहाँ ओसियां के सवा लाख नागरिकों को जैन-धर्म में दीक्षित किया और उन्हें एक जैन-जाति (ओसवाल) के रूप में परिवर्तित कर दिया। यह घटना वीर-निर्वाण के ७० वर्ष बाद की है। अजमेर के निकट बडली (ग्राम) में वीर-निर्वाण संवत् ८४ का एक शिलालेख उपलब्ध हुआ है, उससे भी यहाँ जैन धर्म के व्यापक प्रसार का पता लगता है।

पंजाब (हरियाणा) और सिन्धु-सौवीर

भगवान् महावीर ने साधुओं के विहार के लिए चारों दिशाओं की सीमा निर्धारित की, उसमें पश्चिमी सीमा 'स्थूणा' (कुरुक्षेत्र) है। इससे जान पड़ता है कि पंजाब का स्थूणा तक का भाग जैन-धर्म से प्रभावित था। साढ़े पच्चीस आर्य-देशों की सूची में भी कुरु का नाम है।

सिंधु-सौवीर दीर्घकाल से श्रमण-संस्कृति से प्रभावित था। भगवान् महावीर महाराज उदायण को दीक्षित करने वहाँ पधारे थे।

मध्य-प्रदेश

ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी के लगभग बुन्देलखण्ड में जैन-धर्म बहुत प्रभावशाली था। आज भी वहाँ उनके अनेक चिह्न मिलते हैं।

राष्ट्रकूट-नरेश जैन-धर्म के अनुयायी थे। उनका कलचूरि-नरेशों से गहरा सम्बन्ध था। कलचूरि की राजधानी त्रिपुरा और रत्नपुर में आज भी अनेक प्राचीन जैन-मूर्तियाँ और खण्डहर प्राप्त हैं।

चन्देल राज्य के प्रधान नगर खजुराहो में मिले लेख तथा प्रतिमाओं के अध्ययन से जैन-मत के प्रचार का ज्ञान होता है। प्रतिमाओं के पादासनों पर खुदे लेख यह प्रमाणित करते हैं कि राजाओं के अतिरिक्त साधारण जनता भी जैन-मत में विश्वास रखती थी। मालवा अनेक शताब्दियों तक जैन-धर्म का प्रमुख-क्षेत्र था। व्यवहार-भाष्य में बताया गया है कि अन्यतीर्थिकों के साथ वाद-विवाद मालव आदि क्षेत्रों में करना चाहिए। इससे जाना जाता है कि अवन्तीपति चण्डप्रद्योत तथा विशेषत: सम्राट् सम्प्रति से लेकर भाष्य-रचनाकाल तक वहाँ जैन-धर्म प्रभावशाली रहा है।

सौराष्ट्र-गुजरात

सौराष्ट्र जैन-धर्म का प्रमुख केन्द्र था। भगवान् अरिष्टनेमि से वहाँ जैन परम्परा चल रही थी। सम्राट् सम्प्रति के राज्यकाल में वहाँ जैन-धर्म को अधिक बल मिला था। सूत्रकृतांग चूर्णि में सौराष्ट्र-वासी श्रावक का उल्लेख मगधवासी श्रावक की तुलना में किया गया है। जैन-साहित्य में 'सौराष्ट्र' का प्राचीन नाम 'सुराष्ट्र' मिलता है। विक्रम की दूसरी शताब्दी में दिगम्बर आचार्य धरसेन सौराष्ट्र के गिरिनगर की चन्द्रगुफा में निवास करते थे। उन्होंने षट्खण्डागम के रचयिता भूतबलि और पुष्पदन्त को श्रुताभ्यास करवाया।

सौराष्ट्र के दूसरे नगर वल्लभी में भी श्वेताम्बर-जैनों की दो आगम-वाचनाएं हुई थीं। ईसा की चौथी शताब्दी में जब आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में मथुरा में आगम-वाचना हो रही थी, उस समय आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व में वह वल्लभी में हो रही थी।

ईसा की पाँचवीं शताब्दी में फिर वहीं आगम-वाचना के लिए एक परिषद् आयोजित हुई। उसका नेतृत्व देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने किया।

गुजरात के चालुक्य, राष्ट्रकूट, चावडा, सोलंकी आदि राजवंशी भी जैन-धर्म के अनुयायी या समर्थक थे।

बम्बई-महाराष्ट्र

सम्राट् सम्प्रति से पूर्व जैनों की दृष्टि में महाराष्ट्र अनार्य-देश की गणना में था। उसके राज्यकाल में जैन साधु वहाँ विहार करने लगे। उत्तरवर्ती-काल में वह

जैनों का प्रमुख विहार-क्षेत्र बन गया था। जैन-आगमों की भाषा महाराष्ट्री-प्राकृत से बहुत प्रभावित है। कुछ विद्वानों ने प्राकृत-भाषा के रूप का 'जैन-महाराष्ट्री-प्राकृत' ऐसा नाम रखा है।

ईसा की आठवीं-नौवीं शताब्दी में विदर्भ पर चालुक्य राजाओं का शासन था। दसवीं शताब्दी में वहाँ राष्ट्रकूट राजाओं का शासन था। ये दोनों राजवंश जैन-धर्म के पोषक थे। उनके शासन-काल में वहाँ जैन-धर्म खूब फला-फूला।

नर्मदा तट

नर्मदा-तट पर जैन-धर्म के अस्तित्व के उल्लेख पुराणों में मिलते हैं। वैदिक आर्यों से पराजित होकर जैन-धर्म के उपासक लोग नर्मदा के तट पर रहने लगे। कुछ काल बाद वे उत्तर भारत में फैल गए थे। हैहय-वंश की उत्पत्ति नर्मदा-तट पर स्थित माहिष्मती के राजा कार्तवीर्य से मानी जाती है। भगवान् महावीर का श्रमणोपासक चेटक हैहय-वंश का ही था।

दक्षिण भारत

दक्षिण भारत में जैन-धर्म का प्रभाव भगवान् पार्श्व और महावीर से पहले ही हो चुका था। जिस समय द्वारका का दहन हुआ था, उस समय भगवान् अरिष्टनेमि पल्हव देश में थे। वह दक्षिणापथ का ही एक राज्य था। उत्तर-भारत में जब दुर्भिक्ष हुआ, भद्रबाहु दक्षिण में गए। यह कोई आकस्मिक संयोग नहीं, किन्तु दक्षिण भारत में जैन-धर्म के सम्पर्क का सूचक है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि ईसा की पहली शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक दक्षिण भारत में जैन-धर्म सबसे अधिक शक्तिशाली धर्म था। पांड्य, गंग, राष्ट्रकूट, कलचूरी और होयसल वंश के अनेक राजा जैन थे। पश्चिमी चालुक्य वंश के शासक जैन-धर्म के संरक्षक के रूप में विख्यात थे। राष्ट्रकूट वंश के राजा भी जैन-धर्म को पल्लवित करने तथा उसको संरक्षण देने में अग्रणी रहे हैं।

तमिल देश के चोलवंशीय शासक यद्यपि जैन नहीं थे, फिर भी उन्होंने जैन-धर्म को पर्याप्त सहयोग देकर उसका संरक्षण किया।

कलचूरि वंश के संस्थापक त्रिभुवनमल्ल विज्जल (११५६-११६७) के सभी दान-पात्रों में जैन-तीर्थंकर का चित्र अंकित मिलता है। वह स्वयं जैन था।

मैसूर के होयसल वंश के राजा जैन थे। विजयनगर के राजाओं की जैन-धर्म के प्रति सहिष्णुता रही है। उन्होंने अनेक स्थानों पर जैन मन्दिर बनवाए, मूर्तियाँ स्थापित कीं और जैन मुनियों को संरक्षण दिया।

१२वीं शती के अन्त से १८वीं के अन्त तक मुसलमानों के आक्रमण के कारण सभी धर्म-परंपराओं को प्रहार सहने पड़े। जैन-धर्म भी उससे अछूता नहीं रहा। फिर भी उत्तर भारत और दक्षिण भारत के अनेक अंचलों में जैन-धर्म के शासक, जैन-धर्म के संरक्षक या जैन-धर्म के पोषक राजा राज्य करते रहे और यह धर्म जनमानस को अहिंसा, सत्य आदि शाश्वत तत्त्वों की ओर आकृष्ट करता रहा।

विदेशों में जैन-धर्म

जैन-साहित्य के अनुसार भगवान् ऋषभ, पार्श्व और महावीर ने अनार्य देशों में विहार किया था। सूत्रकृतांग के एक श्लोक से अनार्य का अर्थ 'भाषा-भेद' भी फलित होता है। इस अर्थ की छाया में हम कह सकते हैं कि चार तीर्थंकरों ने उन देशों में भी विहार किया, जिनकी भाषा उनके मुख्य विहार-क्षेत्र की भाषा से भिन्न थी।

भगवान् ऋषभ ने बहली (बैक्ट्रिया, बलख), अंडबइल्ला (अटक प्रदेश), यवन (यूनान), सुवर्णभूमि (सुमात्रा), पण्हव आदि देशों में विहार किया। पण्हव का सम्बन्ध प्राचीन पार्थिया (वर्तमान ईरान का एक भाग) से है।

भगवान् अरिष्टनेमि दक्षिणापथ के मलय देश में गए थे। जब द्वारका-दहन हुआ था, तब अरिष्टनेमि पल्हव नामक अनार्य देश में थे।

भगवान् पार्श्वनाथ ने कुरु, कौशल, काशी, सुम्ह, अवन्ती, पुण्ड्र, मालव, अंग, बंग, कलिंग, पांचाल, मगध, विदर्भ, भद्र, दशार्ण, सौराष्ट्र, कर्णाटक, कोंकण, लाट, द्राविड़, काश्मीर, कच्छ, शाक, पल्लव, वत्स, आभीर आदि देशों में विहार किया था। दक्षिण में कर्णाटक, कोंकण, पल्लव, द्राविड़ आदि उस समय अनार्य माने जाते थे। शाक भी अनार्य प्रदेश है। इसकी पहिचान शाक्यदेश या शाक्य-द्वीप से हो सकती है। शाक्य भूमि नेपाल की उपत्यका में है। वहाँ भगवान् पार्श्व के अनुयायी थे। भगवान् बुद्ध का चाचा स्वयं भगवान् पार्श्व का श्रावक था। शाक्य-प्रदेश में भगवान् का विहार हुआ हो, यह बहुत सम्भव है। भारत और शाक्य-प्रदेश का बहुत प्राचीन-काल से सम्बन्ध रहा है।

भगवान् महावीर पूर्व में बंगाल की ओर वज्रभूमि, सुम्हभूमि, दृढ़भूमि आदि अनेक अनार्य-प्रदेशों में गए थे।

उत्तर-पश्चिम सीमाप्रांत एवं अफगानिस्तान में विपुल संख्या में जैन श्रमण विहार करते थे।

जैन श्रावक समुद्र पार जाते थे। उनकी समुद्र-यात्रा और विदेश-व्यापार के अनेक प्रमाण मिलते हैं। लंका में जैन श्रावक थे, इसका उल्लेख सिंहली साहित्य

में भी मिलता है। महावंश के अनुसार ई. पू. ४३० में जब अनुराधापुर बसा, तब जैन श्रावक वहाँ विद्यमान थे। वहाँ अनुराधापुर के राजा पांडुकाभय ने ज्योतिय निग्गंठ के लिए घर बनवाया। उसी स्थान पर गिरि नामक निग्गंठ रहते थे। राजा पांडुकाभय ने कुम्भण्ड निग्गंठ के लिए भी एक देवालय बनवाया था।

जैन श्रमण भी सुदूर देशों तक विहार करते थे। ई. पू. २५ में पांड्य राजा ने अगस्टस् सीजर के दरबार में दूत भेजे थे। उनके साथ श्रमण भी यूनान गए थे।

ईसा से पूर्व ईराक, शाम और फिलिस्तीन में जैन-मुनि और बौद्ध-भिक्षु सैकड़ों की संख्या में चारों ओर फैले हुए थे। पश्चिमी एशिया, मिश्र, यूनान और इथोपिया के पहाड़ों और जंगलों में उन दिनों अगणित भारतीय साधु रहते थे, जो अपने त्याग और अपनी विद्या के लिए प्रसिद्ध थे। ये साधु वस्त्रों तक का परित्याग किए हुए थे।

यूनानी लेखक मिस्र, एबीसीनिया, इथोपिया में दिगम्बर मुनियों का अस्तित्व बताते हैं।

आद्र देश का राजकुमार आद्र भगवान् महावीर के संघ में प्रव्रजित हुआ था। अरबिस्तान के दक्षिण में 'एडन' बन्दर वाले प्रदेश को 'आद्र-देश' कहा जाता था। कुछ विद्वान् इटली के एड्रियाटिक समुद्र के किनारे वाले प्रदेश को आद्र-देश मानते हैं।

इब्न-अन नजीम के अनुसार अरबों के शासन-काल में यहिया-इब्न-खालिद-बरमकी ने खलीफा के दरबार और भारत के साथ अत्यन्त गहरा सम्बन्ध स्थापित किया। उसने बड़े अध्यवसाय और आदर के साथ भारत के हिन्दू, बौद्ध और जैन विद्वानों को आमंत्रित किया।

इस प्रकार मध्य एशिया में जैन-धर्म या श्रमण-संस्कृति का काफी प्रभाव रहा था। उससे वहाँ के धर्म प्रभावित हुए थे। वानक्रेमर के अनुसार मध्यपूर्व में प्रचलित 'समानिया' सम्प्रदाय 'श्रमण' शब्द का अपभ्रंश है।

श्री विश्वम्भरनाथ पांडे ने लिखा है—"इन साधुओं के त्याग का प्रभाव यहूदी धर्मावलम्बियों पर विशेष रूप से पड़ा। इन आदर्शों का पालन करने वालों की, यहूदियों में एक खास जमात बन गई, जो 'ऐस्मिनी' कहलाती थी। इन लोगों ने यहूदी-धर्म के कर्मकाण्डों का पालन त्याग दिया। ये बस्ती से दूर जंगलों में या पहाड़ों पर कुटी बनाकर रहते थे। जैन-मुनियों की तरह अहिंसा को अपना खास धर्म मानते थे। मांस खाने से उन्हें बेहद परहेज था। वे कठोर और संयमी जीवन व्यतीत करते थे। पैसा या धन को छूने तक से इन्कार करते थे। रोगियों और दुर्बलों की सहायता को दिनचर्या का आवश्यक अंग मानते थे। प्रेम और

सेवा को पूजा-पाठ से बढ़कर मानते थे। पशु-बलि का तीव्र विरोध करते थे। शारीरिक परिश्रम से ही जीवन-यापन करते थे। अपरिग्रह के सिद्धान्त पर विश्वास करते थे। समस्त संपत्ति को समाज की संपत्ति समझते थे। मिश्र में इन्हीं तपस्वियों को 'थेरापूते' कहा जाता था। 'थेरापूते' का अर्थ 'मौनी-अपरिग्रही' है।"

कालकाचार्य सुवर्णभूमि (सुमात्रा) में गए थे। उनके प्रशिष्य श्रमण सागर भी अपने गण सहित वहाँ गए थे।

क्रौंचद्वीप, सिंहलद्वीप (लंका) और हंसद्वीप में भगवान् सुमतिनाथ की पादुकाएं थीं। पारकर देश और कासहृद में भगवान् ऋषभदेव की प्रतिमा थी।

इस संक्षिप्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि जैन-धर्म का प्रसार हिन्दुस्तान के बाहर देशों में भी हुआ था।

जैनों के कुछ विशिष्ट तीर्थ-स्थल

१. आबू

दक्षिणी राजस्थान के सिरोही जिले के अन्तर्गत आबू की रमणीक पहाड़ियां हैं। इसका प्राचीन नाम अर्बुद है।

आबू जैन मन्दिरों के लिए प्रख्यात है। उनमें दो प्रमुख हैं। भगवान् ऋषभ का मन्दिर जिसे सोलंकी-नरेश के मन्त्री विमलशाह ने ईसवी सन् १०३२ में बनवाया। भगवान् नेमि के मन्दिर के निर्माता थे वस्तुपाल और तेजपाल। ये दोनों सगे भाई थे। इनके पास अपार सम्पत्ति थी। इन्होंने पत्थर को उत्कीर्ण करने वाले कारीगरों को, पत्थर निकलने वाले टुकड़ों के बराबर चांदी देकर उनका उत्साह बढ़ाया। कारीगर पत्थर में जीवन उंडेलने में तत्पर हुए और आज भी यह मन्दिर अपनी उत्कीर्ण-कला का उत्कृष्ट नमूना है। माना जाता है कि इसमें करोड़ों रुपये खर्च हुए। इसका निर्माण ईस्वी सन् १२३२ में हुआ।

२. सम्मेद शिखर (पारसनाथ)

यह बिहार के हजारीबाग जिले का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी पहचान वर्तमान पारसनाथ हिल से की जाती है। यह पहाड़ी ईसरी स्टेशन से दो मील दूर है। यहाँ बीस तीर्थंकर संलेखनापूर्वक समाधि-मरण कर निर्वाण को प्राप्त हुए थे। इसे समाधिगिरि, समिदगिरि भी कहा जाता है।

३. शत्रुंजय

सौराष्ट्र में पालीताना स्टेशन से दो मील दूरी पर एक पर्वत-श्रृंखला है। वह शत्रुंजय के नाम से प्रसिद्ध है। इस पहाड़ी पर भगवान् ऋषभ का भव्य

मन्दिर है। जैन तीर्थों में यह आदि तीर्थ माना जाता है। इसका दूसरा नाम पुण्डरीक है। प्रतिवर्ष अक्षय तृतीया के दिन यहाँ 'बरसी तप' का पारणा करने के लिए हजारों तपस्वी उपासक-उपासिकाएं और अन्य हजारों यात्री आते हैं।

पहाड़ पर चढ़ने के लिए भव्य सोपान-मार्ग है। नगर बड़ी-बड़ी धर्मशालाओं से भरा पड़ा है। यहाँ सैकड़ों जैन साधु-साध्वियां हैं। महाराज कुमारपाल ने लाखों रुपये खर्च कर यहाँ के मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाया था। यहाँ से अनेक मुनि निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। थावच्चापुत्त का यहीं निर्वाण हुआ था।

४. श्रवणबेलगोल

जैनों का यह प्रसिद्ध तीर्थ कर्णाटक प्रांत के हासन जिले में है। यह चन्द्रगिरि और विंध्यगिरि, इन दो पर्वतों की तलहटी में एक सरोवर पर स्थित है। यह मैसूर नगर से ६२ मील की दूरी पर है। इसे गोम्मट तीर्थ कहा जाता है। यहाँ गोमटेश्वर बाहुबली की ५७ फुट (पाँच सौ धनुष्य) ऊंची मूर्ति है। इसकी स्थापना राजमल्ल नरेश के प्रधानमन्त्री तथा सेनापति चामुण्डराय ने कराई थी। विद्वानों ने स्थापना की तिथि २३ मार्च, सन् १०२८ निश्चित की है। यह नयनाभिराभ मूर्ति एक ही पत्थर में उत्कीर्ण है। यह विश्व का आठवां आश्चर्य माना जा सकता है। बारह वर्षों में एक बार इसका मस्तकाभिषेक होता है।

चामुण्डराय का घरेलू नाम 'गोम्मट' था। सम्भव है इसलिए उनके द्वारा निर्मित और स्थापित मूर्ति को भी 'गोम्मटेश्वर' कहा गया। सिद्धान्त-चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र ने चामुण्डराय का उल्लेख 'गोम्मटराय' के नाम से किया है और पंचसंग्रह ग्रन्थ का नाम 'गोम्मटसार' रखा। श्रवणबेलगोल में लगभग ५०० शिलालेख हैं। श्रवणबेलगोल तीन शब्दों से बना है। श्रवण का अर्थ है—जैन मुनि, बेल का अर्थ है—श्वेत और गोल का अर्थ है—सरोवर। श्रवणबेलगोल अर्थात् जैन मुनियों का धवल सरोवर।

५. राणकपुर

अरावली पर्वत-श्रृंखलाओं के मध्य राणकपुर (रणकपुर) नाम का गाँव है। यह राजस्थान के पाली जिले के अन्तर्गत है। यह फालना स्टेशन से लगभग २२ किलोमीटर की दूरी पर स्थित है।

माना जाता है कि नंदीपुर गांव में जिनेश्वर उपासक धरणाशाह को एक रात्रि में स्वप्न आया। उसमें उन्होंने 'नलिनी गुल्म' विमान देखा। उस विमान की

आकृति से प्रभावित होकर उन्होंने उसी आकृति का जिनालय बनवाने की प्रतिज्ञा ली। दूर-दूर से शिल्पी आमंत्रित किए गए। प्रारंभिक रेखाचित्र बने। इनमें से मुंडारा गांव के देपाक नामक शिल्पी का रेखाचित्र पसन्द किया गया और उसी के अनुसार विक्रम संवत् १४९५ में जिनालय की नींव डाली और १४९८ में मन्दिर तैयार हो गया। इसमें लगभग एक करोड़ रुपया व्यय हुआ। यह मन्दिर अपनी सानी का बेजोड़ मन्दिर है। इसमें २४ रंगमंडप, १८४ भूगृह, ८५ शिखर और १४४४ स्तम्भ हैं। आदिनाथ की मूर्ति की स्थापना इस प्रकार की गई है कि व्यक्ति मन्दिर में किसी भी स्थान पर, किसी भी कोण में खड़ा रहे, उसे प्रतिमा के दर्शन होते हैं। इसका प्रस्तर-शिल्प बहुत ही अनोखा और हृदयग्राही है।

इस मन्दिर के निर्माता धरणाशाह के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती प्रचलित है कि एक दिन धरणाशाह मंदिर का निर्माण देखने गए। एक दीपक जल रहा था। उसके तेल में एक मक्खी गिर गई। धरणाशाह ने तेल से सनी मक्खी निकाल कर अपनी जूती पर रख ली, जिससे कि मक्खी के शरीर पर लगा तेल जूती पर जाए, व्यर्थ न चला जाए। शिल्पियों ने यह देखा। वे आश्चर्यचकित रह गए। उनका मन संदेह से भर गया कि ऐसा कंजूस व्यक्ति इतना बड़ा जिनालय कैसे बनवा सकेगा? परीक्षा करने के लिए उन्होंने एक दिन धरणाशाह से कहा—नीवों में सर्वधातुओं का प्रयोग करना होगा क्योंकि इतना विशाल जिन-भवन पत्थर की नींव पर टिक नहीं पायेगा। शिल्पियों की बात सुनकर धरणाशाह ने विपुल मात्रा में 'सर्वधातु' एकत्रित कर उन्हें विस्मित कर दिया। धरणाशाह यह मानता था कि व्यर्थ एक पैसे भी खर्च न हो और आवश्यक खर्च में तनिक भी कमी न हो।

६. राजगृह (राजगिरि)

बिहारशरीफ से दक्षिण की ओर १३-१४ मील की दूरी पर स्थित राजगृह प्राचीन राजगिरि है। इसे गिरिव्रज भी कहा जाता है, क्योंकि यह पांच पहाड़ियों से घिरा हुआ है। इन पाँच पहाड़ियों के नाम ये हैं—विपुल, रत्न, उदय, स्वर्ण और वैभार। इनमें विपुल और वैभार पर्वत का बहुत महत्त्व है। अनेक मुनियों ने विपुलाचल पर तपस्या कर मोक्ष प्राप्त किया था। आज भी वहाँ अनेक गुफाएं हैं। यह पाँच पहाड़ियों में सबसे ऊंची पहाड़ी है।

वैभार पर्वत के नीचे गरम पानी का एक कुंड है। इसका वर्णन जैन आगम भगवती में भी आया है। आज भी वहाँ गरम पानी का स्रोत विद्यमान है। वह चर्मरोग-निवारण का उपाय बताया जाता है। हजारों लोग वहां नहाते हैं।

भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध ने राजगृह में अनेक चातुर्मास बिताए थे। महावीर प्रायः वहाँ के गुणशील चैत्य में ठहरते थे। वर्तमान में नबादा

स्टेशन से लगभग तीन मील की दूरी पर स्थित 'गुणावा' को प्राचीन गुणशील माना जाता है।

७. ऋषभदेवजी

राजस्थान के दक्षिणी अंचल में धुलेव नाम का कस्बा है। यह उदयपुर से ६४ किलोमीटर दूर उपत्यकाओं से घिरा हुआ है। यहाँ 'कोयल' नाम की नदी बहती है। यहीं ऋषभदेव का विशाल मन्दिर है। यह एक किलोमीटर के घेरे में स्थित पक्के पाषाण का मन्दिर है। माना जाता है कि पहले यहाँ ईंटों का बना हुआ मन्दिर था। वह टूट गया। फिर १४वीं-१५वीं शताब्दी में यह पाषाणमय मन्दिर बना। इस मन्दिर के गर्भगृह में भगवान् ऋषभदेव की पद्मासन में स्थित श्यामवर्णीय भव्य प्रतिमा है। इसकी ऊंचाई साढ़े तीन फुट है। इस मूर्ति पर केसर अधिक चढ़ाई जाती है, इसलिए इसे 'केसरियाजी' या 'केसरियानाथजी' भी कहते हैं। यह प्रतिमा बहुत ही चमत्कारिक है। इसलिए जैन, अजैन, भील तथा अन्य जाति के लोग भी यहाँ हजारों की संख्या में आते हैं और मनौती मनाते हैं। भील लोग इस मूर्ति को 'कालाजी' कहकर पुकारते हैं और उनके मन में इसके प्रति इतनी श्रद्धा और विश्वास है कि 'कालाजी की आण' को वे सर्वोपरि मानते हैं।

जैन-धर्म : विकास और ह्रास

विश्व की प्रत्येक प्रवृत्ति को उतार-चढ़ाव का सामना करना पड़ा है। कोई भी प्रवृत्ति केवल उन्नति और अवनति के बिन्दु पर अवस्थित नहीं रहती।

जैन धर्म के विकास के मुख्य हेतु हैं—

१. मध्यम मार्ग—जैन आचार्यों ने गृहस्थ के लिए अणुव्रतों का विधान कर उसकी सामाजिक अपेक्षाओं का द्वार बन्द नहीं किया।

२. समन्वय—जैन धर्म के भिन्न-भिन्न विचारों का सापेक्ष दृष्टि से समन्वय होने के कारण वह विभिन्न विचारधारा के लोगों को अपनी ओर आकृष्ट कर सका।

३. समाहार—जैन धर्म में जातिवाद की तात्विकता मान्य नहीं थी, इसलिए सभी जाति के लोग उसे अपनाते रहे।

४. परिवर्तन की क्षमता—जैन आचार्यों ने सामाजिक परम्परा को शाश्वत का रूप नहीं दिया। इसलिए जैन समाज में देश और काल के अनुसार परिवर्तन का अवकाश रहा। यह जनता के आकर्षण का सबल हेतु रहा।

५. सैद्धांतिक सहिष्णुता—दूसरे धर्मों में सिद्धान्तों को सहने की क्षमता के कारण जैन धर्म दूसरों की सहानुभूति अर्जित करता रहा।

६. जन-भाषा का प्रयोग।

७. अहिंसा का व्यवहार में प्रयोग।

८. प्रामाणिकता—जैन गृहस्थ अहिंसा-पालन के साथ-साथ कर्तव्य के प्रति बहुत जागरूक थे। वे देश के विकास और रक्षा के लिए अपना सर्वस्व समर्पित कर देते थे।

दक्षिण के जैन समाज ने जीविका (अन्नदान), शिक्षा (ज्ञानदान), चिकित्सा (औषधदान) और अहिंसा (अभयदान) के माध्यम से जैन-धर्म को जन-धर्म का रूप दे दिया था।

९. सशक्त और कुशल आचार्यों का नेतृत्व।

विक्रम की नवीं-दसवीं शताब्दी में इन स्थितियों में परिवर्तन आने लगा। फलतः जैन-धर्म का विकास अवरुद्ध हो गया।

ह्रास के मुख्य हेतु ये हैं—

१. आंतरिक पवित्रता और शक्ति की कमी, बाह्य कर्मकांडों की प्रचुरता।

२. व्यक्तिवादी मनोवृत्ति—दूसरों की हानि से मुझे क्या? मैं दूसरों के लिए क्यों कर्म बांधू? इस प्रकार के ऐकांतिक निवृत्तिवादी चिंतन ने परस्परता के बन्धन में शिथिलता ला दी।

दक्षिण भारत में जैन-धर्म के ह्रास के मुख्य तीन कारण हैं—

१. जैन जागृति करने वाले प्रभावशाली आचार्यों के कार्यकाल में बहुत बड़ा व्यवधान।

२. ऐसे नेतृत्व का अभाव जो राजनीति और धर्मनीति को साथ-साथ लेकर चल सके।

३. अन्य धर्मों के बढ़ते हुए प्रभाव की उपेक्षा और अपने आपको एकांततः आध्यात्मिक बनाए रखने की प्रवृत्ति।

दक्षिण के मुख्य दो प्रांतों में ह्रास के अन्यान्य कारण भी रहे हैं—

१. तमिलनाडु में ह्रास के कारण

१. शैव नयनार और वैष्णव आल्वारों का उदय।

२. उनके द्वारा जातिवाद का बहिष्कार कर अपने धर्म-संघ में नीची जाति वालों का प्रवेश।

३. राजधर्म को प्रभावित कर राजाओं को अपने मत के प्रति आकृष्ट करना।

४. जैन स्तुतियों का अनुकरण कर शैव स्तुतियों का निर्माण करना।

२. कर्नाटक में ह्रास के कारण

१. राष्ट्रकूट और गंगवंशीय राजाओं का अन्त।

२. वीर शैवमत के उदयकाल में जैन आचार्यों की उपेक्षा और उनके प्रभाव को रोक पाने की अक्षमता।

३. बसवेश्वर द्वारा प्ररूपित 'लिंगायत' धर्म के बढ़ते चरण को रोक न पाना।

४. अनेक राजाओं का शैव-मत में दीक्षित हो जाना।

विकास और ह्रास कालचक्र के अनिवार्य नियम हैं। इस विषय में कोई भी वस्तु केवल विकास या ह्रास की रेखा पर अवस्थित नहीं रहती। आरोह के बाद अवरोह और अवरोह के बाद आरोह चलता रहता है। जैन धर्म के अनुयायी-समाज की संख्या में ह्रास हुआ है। किन्तु भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित शाश्वत सत्यों का ह्रास नहीं हुआ है। उनके सापेक्षता, सह-अस्तित्व, अहिंसा, मानवीय एकता, निःशस्त्रीकरण, स्वतंत्रता और अपरिग्रह के सिद्धान्त विश्वमानस में निरन्तर विकसित होते जा रहे हैं।

अभ्यास

१. जैन धर्म का प्रसार देश-विदेशों में कहां-कहां हुआ तथा उसमें किन-किन व्यक्तियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा?

२. निम्नलिखित स्थलों का जैन तीर्थ-क्षेत्र की दृष्टि से परिचय दें : आबू, राणकपुर, श्रवणबेलगोला, राजगृह।

३. जैन धर्म के विकास और ह्रास के मुख्य कारणों को विस्तार से समझाएं।

□□□

३

चिन्तन के विकास में जैन आचार्यों का योग

श्रद्धावाद-हेतुवाद

चिंतन की तुलना सरिता के उस प्रवाह से की जा सकती है जिसका उद्गम छोटा होता है और गतिशील होने के साथ-साथ वह विशालकाय होता चला जाता है। भारतीय मानस श्रद्धा-प्रधान रहा है। उसमें तर्क-बीज की अपेक्षा श्रद्धा-बीज अधिक अंकुरित हुए हैं। इसीलिए यहाँ मौलिक चिंतक अपेक्षाकृत कम हुए हैं। धर्म के क्षेत्र में कुछ महान् साधक, अवतार या तीर्थंकर हुए हैं। वे हिमालय की भांति अत्यन्त महान् थे। उनकी महानता तक मौलिक चिंतक भी नहीं पहुंच पाते थे। फलतः उनके प्रति चिंतकों का श्रद्धावनत होना स्वाभाविक था। साधारण जन तो श्रद्धावनत था ही किंतु साधारण जन की श्रद्धा और चिंतक की श्रद्धा में एक अन्तर था। साधारण जन अपने श्रद्धेय की हर वाणी को श्रद्धा से स्वीकार करता था। चिंतक अपने श्रद्धेय की महान् आध्यात्मिक उपलब्धि के प्रति श्रद्धावनत होने पर भी उनके प्रत्येक वचन को श्रद्धा से स्वीकार करने का आग्रह नहीं करता था। आचार्य सिद्धसेन (लगभग विक्रम की चतुर्थ शताब्दी) जैन परम्परा में मौलिक चिन्तक हुए हैं। उनकी ज्ञान-गरिमा अगाध थी। वे भगवान् महावीर के प्रति अत्यन्त श्रद्धा-प्रणत थे, किन्तु साथ-साथ अपने स्वतन्त्र चिन्तन का भी प्रयोग करते थे। उन्होंने अनेक तथ्यों पर अपना स्वतन्त्र मत व्यक्त किया। उस समय के श्रद्धावादी आचार्यों और मुनियो ने उनके सामने तर्क उपस्थित किया—'जो तथ्य आगम-ग्रन्थों में प्रतिपादित हैं, उनके प्रतिकूल किसी भी सिद्धान्त की स्थापना कैसे की जा सकती है?' आचार्य सिद्धसेन ने इस तर्क का सीधा खण्डन भी नहीं किया और उनके मत का समर्थन भी नहीं किया। उन्होंने स्याद्वाद की शैली से एक नया चिन्तन प्रस्तुत किया। उन्होंने बताया कि महावीर ने दो प्रकार के तत्त्वों का प्रतिपादन किया है—हेतुगम्य, अहेतुगम्य।

अहेतुगम्य तत्त्व चिंतन और तर्क की सीमा से परे होते हैं। उन्हें समझने के लिए तर्क का उपयोग नहीं हो सकता। वे श्रद्धा के विषय हैं। हम अतीन्द्रिय-तत्त्व

और अतीन्द्रिय-ज्ञान को स्वीकार करते हैं। तर्क इन्द्रिय ज्ञान की परिधि में होता है। गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा—"भंते! जैसे हम श्वास लेते हैं, वैसे ही क्या पृथ्वीकाय के जीव भी श्वास लेते हैं?" भगवान् ने इसका स्वीकारात्मक उत्तर दिया। इन्द्रिय के द्वारा यह गम्य नहीं है, इसलिए यह तर्क का विषय भी नहीं है। किन्तु महावीर ने क्या ऐसे तत्त्वों का प्रतिपादन नहीं किया, जो इंद्रियगम्य हैं और जिनकी व्याख्या तर्क के द्वारा की जा सकती है? आचार्य सिद्धसेन ने यह चिन्तन प्रस्तुत किया कि जो व्यक्ति अहेतुगम्य तत्त्वों का आगम-प्रामाण्य के द्वारा और हेतुगम्य तत्त्वों का तर्क-प्रामाण्य के द्वारा प्रतिपादन करता है, वह आगम के हृदय को यथार्थ समझता है और उनका यथार्थ प्रतिपादन करता है। जो व्यक्ति हेतुगम्य और अहेतुगम्य दोनों तत्त्वों को केवल आगम-प्रामाण्य से समझने का प्रयत्न और प्रतिपादन करता है, उसने आगम के यथार्थ को नहीं समझा और उनके प्रतिपादन की यथार्थ पद्धति भी उसे प्राप्त नहीं है।

इस विचार का बीज-वपन निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने किया था। उनका युग तर्कशास्त्र के विकास का प्रारम्भिक युग था। इसलिए उन्होंने आगम और दृष्टान्त—इन दो शब्दों का प्रयोग किया था— आगमगम्य तत्त्व आगम के द्वारा और दृष्टान्तगम्य तत्त्व दृष्टान्त के द्वारा जानने चाहिए। आचार्य सिद्धसेन तर्कशास्त्र के विकासकर्ताओं में अग्रणी थे। इसलिए उन्होंने दृष्टान्त के स्थान पर हेतुवाद का प्रयोग किया है।

आचार्य सिद्धसेन ने स्वतंत्र चिंतन और हेतुवाद का जो मूल्यांकन किया, वह सबको मान्य नहीं हुआ। फलतः जैन परम्परा में दो धाराएं निर्मित हो गईं—सिद्धांतवादी और तर्कवादी।

सिद्धान्तवादी आगमिक प्रतिपादन को शब्दशः और अक्षरशः स्वीकार करते थे। तर्कवादी आगम के हेतुगम्य तत्त्वों की तार्किक समीक्षा भी करते थे और उनके साथ नया चिंतन भी जोड़ते थे। सिद्धान्तवादियों ने अपनी सारी शक्ति आगमिक वचनों के समर्थन में लगाई, जबकि तार्किक विद्वानों की शक्ति अपने समसामयिक दार्शनिकों के तर्कों को समझने और उनकी जैन-पद्धति से मीमांसा करने में लगी। उन्होंने दूसरे दर्शनों से कुछ लिया और उन्हें कुछ देने का प्रयत्न भी किया। यह समाचार की वृत्ति सत्य को अनेकांत दृष्टि से देखने पर ही प्राप्त हो सकती थी। आचार्य सिद्धसेन ने सत्य को व्यापक दृष्टि से देखा तभी उन्हें यह दिखाई दिया कि विश्व के किसी भी दर्शन में जो सुप्रतिपादित है, वह महावीर के वचन का ही बिन्दु है। वे महावीर को एक व्यक्ति के रूप में नहीं देखते हैं। उनके लिए महावीर एक आत्मा है। आत्मा ही परम सत्य है। जहाँ कहीं भी सत्य के कण दिखाई देते हैं, वे सब आत्मा की ज्योति के ही स्फुलिंग

हैं। आचार्य हेमेन्द्र ने आचार्य सिद्धसेन के अभिमत को सहज भाषा में प्रस्तुत किया है—"जिस किसी समय में, जिस किसी रूप में और जिस किसी नाम से, आप प्रकट हों, यदि आप वीतराग हैं, तो आप मेरे लिए एक ही हैं। मैं वीतराग के प्रति प्रणत हूँ; देश, काल तथा नाम और रूप के प्रति प्रणत नहीं हूँ।"

जैन धर्म यथार्थवादी है। पौराणिक काल में अपने इष्टदेव का अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन करने की होड़-सी लगी थी। फलतः जितने भी महापुरुष हुए, उनका मानवीय रूप दैवी चमत्कारों से आवृत्त हो गया। यह स्थिति यथार्थवाद के अनुकूल नहीं थी। आचार्य समन्तभद्र ने इस पर तीव्र प्रहार किया। उन्होंने इन चमत्कारों को महानता का मानदण्ड मानने से अपनी असहमति प्रकट की। उन्होंने महावीर को चमत्कारों के आवरण से निकालकर यथार्थवाद के आलोक में देखने का प्रयत्न किया। उनका प्रसिद्ध श्लोक है—

देवागमनभोयान-चामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते, नातस्त्वमसि नो महान्॥

"भगवन्! देवताओं का आना, आकाश-विहार, छत्र-चामर आदि विभूतियाँ ऐन्द्रजालिक व्यक्तियों के भी हो सकती हैं। आपके पास देवता आते थे। आप छत्र, चामर आदि अनेक यौगिक विभूतियों से सम्पन्न थे। आप इसलिए महान् नहीं। आप इसलिए महान् हैं कि आपने सत्य को अनावृत किया था।"

आचार्य हेमचन्द्र ने भी चिन्तन की इसी धारा को विकसित किया। उन्होंने कहा—"आपके चरण-कमल में इन्द्र लोटते थे", इस बात का दूसरे दार्शनिक खण्डन कर सकते हैं या अपने इष्टदेव को भी इंद्रपूजित कह सकते हैं, किन्तु आपने जो यथार्थवाद का निरूपण किया, उसका वे निराकरण कैसे करेंगे।

यथार्थवाद में सत्य का स्वीकार श्रद्धा से नहीं होता। न व्यक्ति के प्रति श्रद्धा और न सिद्धान्त के प्रति श्रद्धा। दोनों की परीक्षा की जाती है। आचार्य हरिभद्र ने इस सत्य को निरपेक्ष शब्दों में अभिव्यक्त किया है। वे कहते हैं—"महावीर के प्रति मेरा कोई पक्षपात नहीं है और कपिल आदि दार्शनिकों से मेरा कोई द्वेष नहीं है। मैं इस विचार का व्यक्ति हूँ कि जिसका विचार युक्तियुक्त हो, उनका अनुगमन करना चाहिए। आचार्य हेमचन्द्र ने इस वास्तविकता को बहुत ही स्पष्ट शब्दों में उजागर किया है। उन्होंने लिखा है—"भगवन्! श्रद्धा से आपके प्रति हमारा पक्षपात नहीं है। अन्य दार्शनिकों के प्रति द्वेष के कारण हमारी अरुचि नहीं है। हमने आप्तत्व की परीक्षा की है। उस परीक्षा में आप खरे उतरते हैं; इसलिए हमने आपका अनुगमन किया है।"

प्राचीनता और नवीनता

पुरानी और नयी पीढ़ी का संघर्ष बहुत पुराना है। पुराने व्यक्ति और पुरानी कृति को मान्यता प्राप्त होती है। नये व्यक्ति और नये कृति को मान्यता प्राप्त करनी होती है। मनुष्य स्वभाव से इतना उदार नहीं है कि वह सहज ही किसी को मान्यता दे दे। नयी पीढ़ी में मान्यता प्राप्त करने की छटपटाहट होती है और पुरानी पीढ़ी का अपना अहं होता है, अपना मानदण्ड होता है, इसलिए वह नयी पीढ़ी को नये मानदण्डों के आधार पर मान्यता देने में सकुचाती है। यह संघर्ष साहित्य, आयुर्वेद और धर्म—सभी क्षेत्रों में रहा है।

महाकवि कालिदास को अपने काव्य और नाटक के प्रति पुराने विद्वानों द्वारा उपेक्षापूर्ण व्यवहार किये जाने पर यह कहने के लिए बाध्य होना पड़ा—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते, मूढः परप्रत्ययनेयवृत्तिः॥

"पुराना होने मात्र से कोई काव्य प्रकृष्ट नहीं होता और नया होने मात्र से कोई काव्य निकृष्ट नहीं होता। साधुचेता पुरुष परीक्षा के बाद ही किसी काव्य को प्रकृष्ट या निकृष्ट बतलाते हैं और जो मूढ़ होता है, वह बिना सोचे-समझे पुराणता का गीत गाता रहता है।"

आचार्य वाग्भट्ट ने अष्टांगहृदय का निर्माण किया। आयुर्वेद के धुरंधर आचार्यों ने उसे मान्य नहीं किया। वाग्भट्ट को भी पुरानी पीढ़ी के तिरस्कार का पात्र बनना पड़ा। उसी मनःस्थिति में उन्होंने यह लिखा—"वायु की शांति के लिए तेल, पित्त की शांति के लिए घी और श्लेष्म की शांति के लिए मधु पथ्य है। यह बात चाहे ब्रह्मा कहें या ब्रह्मा का पुत्र, इसमें वक्ता का क्या अन्तर आएगा? वक्ता के कारण द्रव्य की शक्ति में कोई अन्तर नहीं आता, इसलिए आप मात्सर्य को छोड़ मध्यस्थ दृष्टि का अवलंबन लें।"

प्राचीनता और नवीनता के प्रश्न पर महाकवि कालिदास और वाग्भट्ट का चिन्तन बहुत महत्त्वपूर्ण है। किन्तु इस विषय में आचार्य सिद्धसेन की लेखनी ने जो चमत्कार दिखाया है, वह प्राचीन भारतीय साहित्य में दुर्लभ है। उनका चिन्तन है कि कोई व्यक्ति नया नहीं है और कोई पुराना नहीं है। जिसे हम पुराना मानते हैं, एक दिन वह भी नया था और जिसे हम नया मानते हैं, वह भी एक दिन पुराना हो जाएगा। आज जो जीवित है, वह मरने के बाद नयी पीढ़ी के लिए पुरानों की सूची में आ जाता है। पुराणता अवस्थित नहीं है, इसलिए पुरातन व्यक्ति की कही हुई बात पर भी बिना परीक्षा किए कौन विश्वास करेगा?

आचार्य सिद्धसेन ने भगवान् महावीर की अभय की भावना को आत्मसात् कर लिया था। वे सत्य के प्रकाशन में सकुचाते नहीं थे। मुक्त-समीक्षा और प्राचीनता की युक्तिसंगत आलोचना के कारण उनका विरोध बढ़ रहा था। वे इस स्थिति से परिचित थे, किन्तु स्वतंत्रचेता व्यक्ति इस प्रकार की स्थिति से घबराता नहीं। उनका अभय स्वर इस भाषा में प्रस्फुटित हुआ—

"पुराने पुरुषों ने जो व्यवस्था निश्चित की है, क्या वह चिन्तन करने पर उसी रूप में सिद्ध होगी? नहीं भी हो सकती है। उस स्थिति में मृत पुरखों की जमी हुई प्रतिष्ठा के कारण उस असिद्ध व्यवस्था का समर्थन करने के लिए मेरा जन्म नहीं हुआ है। इस व्यवहार से यदि मेरे विद्वेषी बढ़ते हैं, तो भले ही बढ़ें।"

"व्यवस्थाएं या मर्यादाएं अनेक प्रकार की हैं और वे परस्पर विरोधी भी हैं। उनका शीघ्र ही निर्णय कैसे किया जा सकता है? फिर भी 'यह मर्यादा है, यह नहीं है,' इस प्रकार का एकपक्षीय निर्णय करना पुरातन के प्रेम से जड़ बने हुए व्यक्ति के लिए ही उचित हो सकता है, किसी परीक्षक के लिए नहीं।

"पुरातन प्रेम के कारण आलसी बना हुआ व्यक्ति जैसे-जैसे यथार्थ का निश्चय नहीं कर पाता, वैसे-वैसे वह निश्चय किए हुए व्यक्ति की भांति प्रसन्न होता है। वह कहता है, हमारे पूर्वज ज्ञानी थे। उन्होंने जो कुछ कहा, वह मिथ्या कैसे हो सकता है? मैं मन्दगति हूँ, उसका आशय नहीं समझ सकता, यह मेरी अल्पता है। किन्तु गुरुजनों की कही हुई बात अन्यथा नहीं हो सकती। ऐसा निश्चय करने वाला व्यक्ति आत्म-नाश की ओर दौड़ता है।"

"शास्त्रकार हमारे जैसे ही मनुष्य थे। उन्होंने मनुष्यों के लिए ही मनुष्यों के व्यवहार और आचार निश्चित किए हैं। जो लोग परीक्षा करने में आलसी हैं, वे ही यह कह सकते हैं कि उनकी थाह नहीं पायी जा सकती, उनका पार नहीं पाया जा सकता। किन्तु परीक्षक व्यक्ति उन्हें अगाध मानकर कैसे स्वीकार करेगा? वह परीक्षापूर्वक ही उन्हें स्वीकार कर सकता है।"

"एक शास्त्र असम्बद्ध और अस्त-व्यस्त रचा हुआ होता है, फिर भी वह पुरातन पुरुषों के द्वारा रचित है, यह कहकर उसकी प्रशंसा करते हैं। आज का बना हुआ शास्त्र सम्बद्ध और संगत है, फिर भी नवीन होने के कारण उसे नहीं पढ़ते। यह मात्र स्मृति का मोह है, परीक्षा का विवेक नहीं है।"

अल्पवया शिशु की बात युक्तिसंगत हो सकती है और पुराने पुरुषों की कही हुई बात दोषपूर्ण हो सकती है; इसलिए इमें परीक्षक बनना चाहिए। नवीनता की उपेक्षा और प्राचीनता का मोह हमारे लिए उचित नहीं है—यह विक्रम की पाँचवीं शती का चिन्तन आज के वैज्ञानिक युग में और अधिक मूल्यवान् बन गया है।

काल हेतुक अवरोध और उनके फलित

भारतीय चिन्तन का यह व्यापक रूप रहा है कि पुरातन काल सतयुग था, वर्तमान युग कलिकाल है। इसमें प्रकृष्टता निकृष्टता की ओर चली जाती है। इस चिन्तन के आधार पर भारतीय जनता का विश्वास दृढ़ हो गया है कि प्राचीन काल में जो अच्छाइयाँ, क्षमताएं और विशेषताएं थीं, वे इस कलिकाल में समाप्त हो चुकी हैं और रही-सही समाप्त होती जा रही हैं—इस चिन्तनधारा ने एक विचित्र प्रकार की हीन भावना उत्पन्न कर दी। लगभग पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व कुछ जैन मुनि यह मानने लगे थे कि वर्तमान में धर्म नहीं है, व्रत नहीं है और चरित्र विच्छिन्न हो गया है। वर्तमान में जो जैन शासन चल रहा है वह ज्ञान और दर्शन के आधार पर चल रहा है। किन्तु आज कोई साधु नहीं है। चिन्तन की इस धारा ने विकास का द्वार अवरुद्ध कर दिया। मुनिजन यह मानकर चलने लगे कि इस दुषमाकाल में विशिष्ट साधना और विशिष्ट उपलब्धि नहीं हो सकती। इस धारणा का प्रभाव भी हुआ। साधना के पथ में अभिनव उन्मेष लाने की मनोवृत्ति शिथिल हो गई। जब यह मान लिया जाता है कि आज विशिष्टता की उपलब्धि नहीं हो सकती, फिर उसके लिए प्रयत्न करने की स्फुरणा भी नहीं रहती। कुछ मनीषी मुनियों का ध्यान इस हीनभावना की मनोवृत्ति और उसके फलितों पर गया। उन्होंने इसका प्रतिवाद किया। भाष्यकार संघदासगणी ने कहा—"जो मुनि यह कहते हैं कि वर्तमान में साधुत्व नहीं है, उन्हें श्रमण-संघ से बहिष्कृत कर देना चाहिए।" आचार्य रामसेन ने इसका सशक्त समर्थन किया कि वर्तमान में ध्यान हो सकता है, उसका विच्छेद नहीं हुआ है।

कुछ विच्छित्तियों के बारे में किसी आचार्य ने कुछ नहीं कहा। यह बहुत ही विमर्शनीय है। विच्छेदों की चर्चा श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के आचार्यों ने की है। तुलनात्मक दृष्टि से श्वेताम्बर आचार्यों ने अधिक की है। दिगम्बर-परम्परा में ध्यान, कायोत्सर्ग और प्रतिमा के अभ्यास की परम्परा दीर्घकाल तक चली। दिगम्बर आचार्यों ने योग-विषयक ग्रन्थ रचे। श्वेताम्बर परम्परा में ध्यान का अभ्यास सुदूर अतीत में ही कम हो गया था। श्वेताम्बर आचार्यों में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण, हरिभद्रसूरि, अचार्य हेमचन्द्र, उपाध्याय यशोविजयजी आदि कुछेक विद्वान् ही योग ग्रन्थों के निर्माता हुए हैं। आचार्यश्री तुलसी ने योग पर **'मनोनुशासनम्'** नाम का ग्रन्थ लिखा। उसके निर्माण की अवधि में उन्होंने कहा—"यौगिक उपलब्धियों के विच्छेद की बात साधक के मन में पहले से ही न बिठाई जाती, तो आज तक जैन परम्परा में योग का अधिक विकास हुआ होता।"

साधना करने वाले सब व्यक्तियों का अध्यवसाय समान नहीं होता। उनकी क्षमता भी समान नहीं होती। गति में तारतम्य होता है, किन्तु लक्ष्य समान होता है। कौन कितना आगे बढ़ सके, यह उस पर निर्भर है। पहले ही हम उसे अवरोध-पट्ट दिखा दें कि इससे आगे नहीं जा सकते, तो उसके चरण प्रारम्भ में ही ठिठक जाते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने कलिकाल के निमित्त से निर्मित किए गए अवरोधों को तोड़ने के लिए महत्त्वपूर्ण चिन्तन प्रस्तुत किया। उन्होंने लिखा कि—"सुषमाकाल में साधक लम्बी तपस्या के बाद फल प्राप्त करते थे। यह कलिकाल ही ऐसा है, जिसमें साधक अल्पकालीन तपस्या से ही फल प्राप्त कर लेता है। फिर कलिकाल क्या बुरा है? हमें कृतयुग से क्या प्रयोजन?

"लोग कहते हैं कि कलिकाल में लोग बहुत उच्छृंखल और दुष्ट होते हैं। क्या कृतयुग में ऐसे लोग नहीं थे? यह सच है कि उस युग में भी ऐसे लोग थे। फिर हम कलिकाल पर व्यर्थ ही क्यों कुपित होते हैं?"

अध्यात्म का उन्मेष

भगवान् महावीर का दर्शन आत्मा का दर्शन है। उसके आदि, मध्य और अंत में सर्वत्र आत्मा ही आत्मा है। उसकी गहराइयों में जाने का प्रयत्न अध्यात्म है। इस बिन्दु को दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द (विक्रम की प्रथम शताब्दी) ने सर्वाधिक विकसित किया। वे जैन परम्परा में अध्यात्म के मुख्य प्रवक्ता थे। भगवान् महावीर ने मोक्ष के चार मार्ग बतलाए—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप। इनकी व्याख्या अनेकों आचार्यों ने की। वे सब व्याख्याएं व्यवहारनय पर आश्रित हैं। व्यवहारनय स्थूल और बुद्धिगम्य दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। निश्चयनय का दृष्टिकोण सूक्ष्म और आत्मगम्य है। अध्यात्म का प्रवक्ता निश्चयनय का आलम्बन लेकर चलता है। आचार्य कुन्दकुन्द की अनेक व्याख्याएं और स्थापनाएं निश्चयनय पर अवलम्बित हैं। उन्होंने निश्चयनय के आधार पर कहा—"आत्मा को जानना ही सम्यक् ज्ञान है, उसे देखना ही सम्यक् दर्शन है और उसमें रमण करना ही सम्यक् चारित्र है।"

उन्होंने व्यवहारनय को अस्वीकार नहीं किया और सामाजिक जीवन में उसको अस्वीकार किया भी नहीं जा सकता। तत्त्व के गहन पर्यायों तक हर आदमी नहीं पहुँच सकता। उसकी पहुँच तत्त्व के कुछेक स्थूल पर्यायों तक होती है। उसे वास्तविक सत्य तक ले जाने के लिए स्थूल सत्य का आलम्बन लेना आवश्यक होता है।

व्यवहार की भूमिका पर जीने वाले धार्मिक लोग स्वर्ग के प्रलोभन और नर्क के भय से ही धर्म की बात सोचते हैं। उनकी दृष्टि पुण्य और पाप तक

पहुँचती है। परमार्थदर्शी की दृष्टि (निश्चयनय) में आत्मा ही सब कुछ है। आचार्य कुन्दकुन्द का तर्क है कि "अशुभ और शुभ दोनों ही कर्म जीव को बांधते हैं, मुमुक्षु व्यक्ति के लिए दोनों ही वांछनीय नहीं हैं।"

विक्रम की सातवीं शताब्दी में भी जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने पुण्य और पाप को इसी कोण से देखा। उन्होंने सुख-दुःख की मीमांसा करते हुए लिखा—"पुण्य का फल दुःख है क्योंकि वह कर्म का उदय ही है। जैसे कर्म का उदय होने के कारण पाप का फल दुःख होता है।"

विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी में आचार्य भिक्षु ने पुण्य और पाप की निश्चयनय से मीमांसा की। उन्होंने लिखा—पुण्य वांछनीय नहीं है। उसकी इच्छा करने से भी पाप का बंध होता है।

जैसे-जैसे न्यायशास्त्र या तर्कशास्त्र का विकास होता गया, वैसे-वैसे साम्प्रदायिक अभिनिवेश और वाद-विवाद बढ़ता गया। जैन आचार्यों के सामने लोकैषणा और लोकसंग्रह का प्रश्न गौण था, अहिंसा का प्रश्न मुख्य। वे तर्क के क्षेत्र में प्रवेश करके भी अहिंसा को नहीं छोड़ सकते थे। उन्होंने तर्क पर अध्यात्म के अंकुश को रखना सदा पसंद किया। आचार्य सिद्धसेन महान् तार्किक थे। उन्होंने जैन परम्परा को तार्किक दृष्टि से समृद्ध किया था। फिर भी विवाद और वितण्डा उन्हें काम्य नहीं थे। अहिंसा या अध्यात्म के सिद्धान्त में विश्वास करने वाला इसी भाषा में सोचेगा और बोलेगा। उन्होंने अपने समय की स्थिति का विश्लेषण करते हुए लिखा है—"श्रेय किसी दूसरी दिशा में है और हमारे धुरंधर वादी (तर्क के आधार पर वाद-विवाद करने वाले) किसी दूसरी दिशा में जा रहे हैं। किसी भी मुनि ने वाक्-युद्ध को शिव (मोक्ष) का उपाय नहीं बतलाया है।" सिद्धसेन, समंतभद्र, अकलंक आदि आचार्यों ने अनेकांत के बीज को विकसित किया वैसे ही हरिभद्रसूरि ने समाधि-योग का बीज विकसित किया। महर्षि पतंजलि के योगदर्शन की प्रसिद्धि के बाद प्रत्येक दर्शन की साधना-पद्धति योग के नाम से प्रसिद्ध हो गई। जैन धर्म की साधना-पद्धति योग के नाम से प्रसिद्ध हो गई। जैन धर्म की साधना-पद्धति का नाम मोक्षमार्ग था। हरिभद्रसूरि ने मोक्षमार्ग को योग के रूप में प्रस्तुत किया। इस विषय में **योगविंशिका, योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु, योगशतक** उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। उन्होंने योग की परिभाषा इस प्रकार की—"धर्म की समग्र प्रवृत्ति, मोक्ष के साथ योग कराती है, इसलिए वह योग है।" इसमें महर्षि पतंजलि की **'योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः'**, गीता की **'समत्वं योग उच्चयते'**, **'योगः कर्मसु कौशलम्'** इन सब परिभाषाओं की समन्विति है।

आत्मा का अनुभव उन व्यक्तियों को होता है, जो ध्यान की गहराई में उतरते हैं। ऐसे व्यक्ति बहुत कम होते हैं। साधारण जन अनुगमन करते हैं। अनुगमन करने वालों में न अपना अनुभव होता है और न किसी सत्य का साक्षात्कार। इसलिए वे अपनी अनुभूति से नहीं चलते। वे दूसरों की अनुभूति को मानकर चलते हैं। धर्म के क्षेत्र में ऐसे लोगों की बहुलता होती है, तब अध्यात्म की ज्योति वाद-विवाद की राख से ढक जाती है। जैन आचार्यों ने समन्वय की धारा को प्रवाहित कर अध्यात्म की ज्योति को प्रज्वलित रखने का महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किया है। अनेकान्त की दृष्टि और स्याद्वाद की भाषा उन्हें प्राप्त थी। उन्होंने उसका उपयोग कर जनता को बताया कि अध्यात्म सबका एक है। यह दिखाई देने वाला भेद निरूपण का है। जितने निरूपण के प्रकार हैं, उतने ही नय (दृष्टिकोण) हैं। नय सापेक्ष (relative) होते हैं। आप एक नय को दूसरे नय से निरपेक्ष कर देखते हैं, तब दोनों नयों में विरोध प्रतिभासित होता है। दो नयों को समन्वित कर देखते हैं, तब वे दोनों एक-दूसरे के पूरक रूप में दिखाई देते हैं।

सिद्धसेन, समन्तभद्र, अकलंक, हरिभद्रसूरि, देवनंदी, हेमचंद्र, यशोविजयजी आदि मनीषियों ने सब दर्शनों का समन्वय कर अध्यात्म का निर्विवाद दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उन्होंने जैन-शास्त्रों में चर्चित विषयों की सांख्य, बौद्ध आदि दर्शनों से तुलना की और उनमें चर्चित विषयों की जैन दर्शन से तुलना की। जैन आचार्यों ने अनेकान्तवादी होने के कारण दूसरे दर्शनों के दृष्टिकोण को मुक्त-भाव से अपनाया। इससे उनके दर्शन की आधारहीनता प्रकट नहीं होती, उनकी समन्वय-भावना ही प्रकट होती है।

हरिभद्रसूरि ने 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में परस्पर-विरोधी प्रतिभासित होने वाले दार्शनिक तत्त्वों का अद्भुत समन्वय किया है। उनका वह ग्रन्थ समन्वय-ग्रन्थों में अद्वितीय है। उनका निश्चित सिद्धान्त था कि अध्यात्मचेता विद्वान् के लिए कोई भी सिद्धान्त अपना या पराया नहीं होता। जो सिद्धान्त प्रत्यक्ष और अनुमान से अबाधित होता है, वही उसका अपना सिद्धान्त होता है। यह दृष्टिकोण अध्यात्म के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण उन्मेष है।

व्यवहार जगत् नाम और रूप से आक्रान्त होता है। अध्यात्म में गुण की ही प्रतिष्ठा होती है। आचार्य हेमचन्द्र ने सोमनाथ के मन्दिर में शिवलिंग के समक्ष चिन्तन की मुक्तधारा प्रवाहित की। उससे उनके प्रतिस्पर्धी भी नतमस्तक हो गए। उन्होंने कहा—

"भवबीजाङ्कुर जनना, रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णु वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥"

"भवबीज के अंकुर को पैदा करने वाले राग और द्वेष जिनके क्षीण हो चुके हैं, उस वीतराग आत्मा को मैं नमस्कार करता हूँ, फिर उसका नाम ब्रह्मा, विष्णु, महादेव या जिन कुछ भी हो।"

वीतरागता और अनेकान्त, ये दोनों अध्यात्म के प्रकाश-स्तम्भ हैं। वीतरागता आत्मा का शुद्ध रूप है। उसकी अनुभूति का क्षण ही आत्मोपलब्धि का क्षण है। अनेकांत सत्य के साक्षात्कार का सशक्त माध्यम है।

पौराणिक काल में धर्म की धारणाएं बदल गईं। उसका मुख्य रूप पारलौकिक हो गया। वह वर्तमान से कटकर भविष्य से जुड़ गया। जनमानस में यह धारणा स्थिर हो गई कि धर्म से परलोक सुधरता है, स्वर्ग मिलता है, मोक्ष मिलता है। इस धारणा ने जनता को धर्म की वार्तमानिक उपलब्धियों से वंचित कर भविष्य के सुनहले स्वप्नों के जगत् में प्रतिष्ठित कर दिया।

भगवान् महावीर ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था—"धर्म का फल वर्तमान काल में ही होता है। जिस क्षण में उसका आचरण किया जाता है, उसी क्षण में कर्म का निरोध या क्षय होता है। धर्म का मुख्य फल यही है।" पुण्यवादी धारा के प्रवाह में यह व्याख्या अगम्य हो रही थी तब उमास्वाति ने एक चिन्तन प्रस्तुत किया—"स्वर्ग के सुख परोक्ष हैं, अतः उनके बारे में तुम्हें विचिकित्सा हो सकती है। मोक्ष का सुख उनसे भी अधिक परोक्ष है, अतः उसके विषय में भी तुम संदिग्ध हो सकते हो। किन्तु धर्म से प्राप्त होने वाला शांति का सुख प्रत्यक्ष है। इसे प्राप्त करने में तुम स्वतंत्र हो। यह अर्थ-व्यय से प्राप्त नहीं होता, किन्तु आत्मानुभूति में प्रवेश करने से प्राप्त होता है।"

आज यह प्रश्न पूछा जाता है कि इतने धर्मों के होने पर भी मनुष्य इतना अशान्त क्यों? इतना क्रूर क्यों? इतना अनैतिक क्यों? उपासना-प्रधान धर्म के पास इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है। संयम-प्रधान धर्म इन प्रश्नों का उत्तर दे सकता है। आचार्य हेमचंद्र ने धर्म की इसी स्थिति पर चिन्तन किया और उन्होंने अनुभव की भाषा में लिखा—हे भगवन्! तुम्हारी पूजा करने की अपेक्षा तुम्हारे आदेशों का पालन करना अधिक महत्त्वपूर्ण है। तुम्हारे आदेशों का पालन करने वाला सत्य को प्राप्त होता है उनका पालन नहीं करने वाला भटक जाता है।" प्रश्न उपस्थित हुआ, वीतराग का आदेश क्या है? आचार्य ने उत्तर दिया—"उनका आदेश है संवर—मन का संवरण, वाणी का संवरण, काया का संवरण और श्वास का संवरण।"

साधन-शुद्धि

आध्यात्मिक जगत् का साध्य है—आत्मा की पवित्रता और उसका साधन भी वही है। साध्य और साधन की एकता के विचार को आचार्य भिक्षु ने जो

सैद्धान्तिक रूप दिया, वह उनसे पहले नहीं मिलता। शुद्ध साध्य के लिए साधन भी शुद्ध होने चाहिए, इस विचार को उनकी भाषा में जो अभिव्यक्ति मिली, वह उनसे पहले नहीं मिली।

आचार्य भिक्षु ने दो शताब्दी पूर्व कहा था—"शुद्ध साध्य का साधन अशुद्ध नहीं हो सकता और शुद्ध साधन का साध्य अशुद्ध नहीं हो सकता। मोक्ष साध्य है और उसका साधन है संयम। वह संयम के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।"

साम्यवादी विचारधारा यह है—लक्ष्य की पूर्ति के लिए साधन की शुद्धि का विचार आवश्यक नहीं है। लक्ष्य यदि अच्छा है तो उसकी पूर्ति के लिए बुरे साधनों का प्रयोग भी आवश्यक हो तो वह करना चाहिए। एक बार थोड़ा अनिष्ट होता है और आगे इष्ट अधिक होता है। गांधीवादी विचार यह है कि जितना महत्त्व लक्ष्य का है उतना ही साधन का। लक्ष्य की पूर्ति येनकेन-प्रकारेण नहीं, किन्तु उचित साधनों के द्वारा ही करनी चाहिए।

आचार्य भिक्षु के समय में भी साधन-शुद्धि के विचार को महत्त्व न देने वाली मान्यता थी। उसके अनुयायी कहते थे—प्रयोजनवश धर्म के लिए भी हिंसा का अवलम्बन लिया जा सकता है। एक बार थोड़ी हिंसा होती है, किन्तु आगे उससे बहुत धर्म होता है।

आचार्य भिक्षु ने इसे मान्यता नहीं दी। उन्होंने कहा—बाद में धर्म या पाप होगा, इससे वर्तमान अच्छा या बुरा नहीं बनता। कार्य की कसौटी वर्तमान ही है।

यह साध्य और साधन की संगति है। इनकी विसंगति तब होती है जब या तो साध्य अनात्मिक होता है या साधन।

हृदय-परिवर्तन

शक्ति के दबाव और बाहरी प्रभाव से रिक्त मानस में जो आत्मौपम्य (सभी प्राणियों को आत्मा के समान समझने का दृष्टिकोण) का भाव जागता है, वह हृदय-परिवर्तन है। शक्ति और प्रभाव से दबकर जो हिंसा से बच जाता है, वह हिंसा का प्रयोग भले न करे, किन्तु उसमें हृदय की पवित्रता नहीं है, इसलिए उसे हृदय-परिवर्तन नहीं कहा जा सकता।

अहिंसा का आचरण वही कर सकता है जिसका हृदय बदल जाए। अहिंसा का आचरण किया जा सकता है किन्तु कराया नहीं जा सकता। अहिंसक वही हो सकता है जो अपने को बाहरी वातावरण से सर्वथा अप्रभावित रख सके।

आक्रमण के प्रति आक्रमण और शक्ति-प्रयोग के प्रति शक्ति-प्रयोग कर हम हिंसा के प्रयोगात्मक रूप को टालने में सफल हो सकें, यह सम्भव है, वैसा कर हम हृदय को पवित्र कर सकें या करा सकें, यह सम्भव नहीं है। आचार्य भिक्षु ने कहा—शक्ति के प्रयोग से जीवन की सुरक्षा की जा सकती है, पर वह अहिंसा नहीं है। अहिंसा का अंकन जीवन या मरण से नहीं होता, उसकी अभिव्यक्ति हृदय की पवित्रता से होती है।

नैतिकता

भगवान् महावीर ने गृहस्थ के लिए जो आचार-संहिता निर्धारित की, उसमें नैतिकता का मुख्य स्थान है। गृहस्थ सामाजिक प्राणी है। वह समाज में जीता है। उसका व्यवहार समाज को प्रभावित करता है। अध्यात्म वैयक्तिक है। उसका व्यवहार में पड़ने वाला प्रतिबिम्ब वैयक्तिक नहीं होता, वह सामाजिक हो जाता है। धार्मिक व्यक्ति अपने अन्तःकरण में आध्यात्मिक रहे और व्यवहार में पूरा अधार्मिक, यह द्वैध अध्यात्म का लक्षण नहीं है, अध्यात्म आन्तरिक वस्तु है। उसे हम नहीं देख सकते। उसका दर्शन व्यवहार के माध्यम से होता है। जिस व्यक्ति का व्यवहार शुद्ध, निश्छल और करुणापूर्वक होता है, वह व्यक्ति आध्यात्मिक है। उसका व्यवहार अध्यात्म को बाह्य जगत् में प्रतिबिम्बित कर देता है। किन्तु जैसे-जैसे धर्म के क्षेत्र में बहिर्मुखी भाव बढ़ता गया, वैसे-वैसे धार्मिक का व्यक्तित्व विरूप बनता गया—एक रूप उपासना के समय का और दूसरा रूप सामाजिक व्यवहार के समय का। एक ही व्यक्ति उपासना के समय वीतराग की प्रतिमूर्ति बन जाता है और दुकान या कार्यालय में क्रूर बन जाता है। आचार्यश्री तुलसी ने धर्म के क्षेत्र में पनप रही इस द्विरूपता पर चिन्तन कर धर्मक्रांति की आवाज उठाई। उसकी क्रियान्विति के लिए अणुव्रत का कार्यक्रम प्रस्तुत किया। उसकी पृष्ठभूमि में उनका चिन्तन शाश्वत होने के साथ-साथ बहुत ही युगीन है। अनैतिक का मूल हेतु वैषम्य है। साम्य की स्थिति का निर्माण किए बिना नैतिकता को विकसित नहीं किया जा सकता।

सर्वधर्म-समभाव और शास्त्रज्ञ

उपाध्याय यशोविजयजी ने शास्त्रज्ञ की पहचान के लिए तीन मानदण्ड प्रस्तुत किए—अनेकांत, मध्यस्थभाव और उपशम—कषाय की शांति। उन्होंने कहा—"जो व्यक्ति मोक्ष को दृष्टि में रखते हुए अनेकान्त चक्षु से सब दर्शनों की तुल्यता को देखता है, वही शास्त्रज्ञ है।"

जिसमें राग-द्वेष के उपशमन की साधना नहीं होती, वह मध्यस्थ या तटस्थ नहीं हो सकता। मध्यस्थ भाव की प्राप्ति किए बिना कोई भी शास्त्रज्ञ नहीं हो सकता। उपाध्यायजी की भाषा में मध्यस्थ भाव ही शास्त्र का अर्थ है। वह मध्यस्थ भाव से ही सही रूप में जाना जाता है।

शास्त्रज्ञ लोग धर्मवाद के स्थान पर विवाद को महत्त्व दे रहे थे। उनको लक्ष्य कर कहा गया—

"शमार्थं सर्वशास्त्राणि, विहितानि मनीषिभिः।
स एव सर्वशास्त्रज्ञः, यस्य शांत सदा मनः॥

"मनीषियों ने शास्त्रों का निर्माण शान्ति के लिए किया। सब शास्त्रों को जानने वाला वही है, जिसका मन शान्त है।"

सारांश यह है—धर्म के नाम पर अशान्ति को उभारने वाला शास्त्रज्ञ नहीं हो सकता। जो स्वयं अशान्त है, वह भी शास्त्रज्ञ नहीं हो सकता।

अभ्यास

१. 'श्रद्धावाद-हेतुवाद' की दृष्टि से आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने जो नया चिन्तन दिया, उसे अपने शब्दों में प्रस्तुत करें।
२. "प्राचीनता और नवीनता का संघर्ष सभी क्षेत्रों में चलता है" इसे प्रकट करते हुए किन्हीं दो विचारक आचार्यों के विचारों के आधार पर उस संघर्ष का समाधान प्रस्तुत करें।
३. "कलियुग में सब कुछ बुरा ही होगा"—इस विचार को किसने चुनौती दी?
४. अध्यात्म के मुख्य उन्मेष कौन-कौन से हैं?
५. "धर्म का फल वर्तमान काल में ही होता है"—इस चिन्तन को किन आचार्यों ने किस प्रकार पुष्ट किया?
६. "सर्वधर्म-समभाव रखने पर ही व्यक्ति सही अर्थ में शास्त्रज्ञ हो सकता है"—इसे सिद्ध करें।

□□□

परिशिष्ट

पारिभाषिक शब्द-कोष

अचरम — देखें 'चरम'।

अचित्त महास्कन्ध — केवलज्ञानी (सर्वज्ञ) जीव द्वारा विशेष परिस्थिति में एक स्वाभाविक क्रिया की जाती है जिसे 'केवली समुद्घात' कहते हैं, इस दौरान उनके आत्म-प्रदेश समूचे लोक में व्याप्त होते हैं। उस समय आत्मा से छूटे हुए पुद्गलों का जो एक स्कन्ध समूचे लोक में व्याप्त हो जाता है, वह अचित्त महास्कन्ध कहलाता है।

अधर्म-द्रव्य (अधर्मास्तिकाय) — धर्मास्तिकाय की तरह स्थिति (अगति) का लोक-व्यापी अनिवार्य माध्यम। छह मूलभूत द्रव्यों में एक है। देखें, धर्म-द्रव्य।

अध्यवसाय — आत्मा के वे 'परिणाम' जो सूक्ष्म स्तर पर चेतना और कर्म के संयुक्त प्रभाव को प्रकट करते हैं। अध्यवसाय 'चित्त' के पूर्व का स्तर है।

अनन्तकाय — एक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं, उन्हें अनन्त-काय कहते हैं। जमीकंद (प्याज, लहसुन आदि), पफूंदी, काई, शेवाल आदि अनन्तकाय हैं।

अनुमान (प्रमाण) — साधन (हेतु) से साध्य का जो ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहा जाता है। अनुमान तर्क का कार्य है।

अनवस्था दोष — अप्रामाणिक नए-नए धर्मों की ऐसी कल्पनाएं करना जिनका कहीं अन्त न आए। जैसे—जीव की गति के लिए गतिमान् वायु की, उसकी गति के लिए किसी दूसरे गतिमान् पदार्थ की, उसके लिए फिर तीसरे गतिमान् पदार्थ की कल्पना करना। इस प्रकार चलते चलें, आखिर हाथ कुछ न लगे—निर्णय कुछ भी न हो, वह अनवस्था है।

अन्तर मुहूर्त — २ समय से लेकर ४८ मिनट में एक समय कम तक का सारा काल-मान अन्तर्मुहूर्त कहलाता है।

अन्वय सम्बन्ध — जिसके होने पर अन्य का होना होता है, उनका सम्बन्ध अन्वयी-सम्बन्ध कहलाता है। जिसके न होने

पर, अन्य का न होना होता है, वह व्यतिरेकी सम्बन्ध कहलाता है।

अपर्यवसित — पर्यवसान का अर्थ है अन्त। जिसका अन्त न हो, वह अपर्यवसित कहलाता है। जिसका अन्त हो, वह सपर्यवसित कहलाता है।

अपवर्तन — उद्वर्तना से विपरीत अवस्था (देखें उद्वर्तना)। बंधे हुए कर्मों की स्थिति और रस को अपवर्तन में पुरुषार्थ (प्रयत्न) द्वारा कम (मंद) किया जाता है।

अपोह — जिसके द्वारा संशय के कारणभूत विकल्प का निराकरण किया जाता है, वह अपोह है। अपोह में गहन चिन्तन अपेक्षित होता है।

अभव्य जीव — जैन दर्शन के अनुसार संसार में दो प्रकार के जीव हैं—मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता रखने वाले और न रखने वाले। पहले प्रकार के भव्य और दूसरे प्रकार के अभव्य जीव कहलाते हैं।

अभिनिवेश — मिथ्या आग्रह।

अभेदोपचार — किन्हीं दो (वस्तु, पर्याय/आदि) में किसी अपेक्षा-विशेष से एकत्व का अध्यारोप करना अभेदोपचार कहलाता है। 'अभेद' का अर्थ है—एकत्व और 'उपचार' का अर्थ है—अध्यारोप करना।

अर्पितानर्पित — 'अमुक अपेक्षा से होना' अर्पित है, 'अमुक अपेक्षा से न होना' अनर्पित है। स्याद्वाद में अपेक्षा दृष्टि से आधार पर वस्तु-धर्म की विवक्षा की जाती है। यह 'अर्पितानर्पित' पद्धति है।

अवग्रह — देखें, ईहा।

अवधिज्ञान (अवधिज्ञानी) — इन्द्रियों की सहायता के बिना सीधे चेतना द्वारा दूर-स्थित मूर्त पदार्थों को जान लेना अवधिज्ञान है और अवधिज्ञान-प्राप्त व्यक्ति अवधिज्ञानी कहलाता है।

अविद्या — वेदांत दर्शन के अनुसार ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है। यह बोध विद्या है। इससे विपरीत बोध अविद्या है।

अविनाभावी विशेष प्रकार का संबंध—जिसके बिना जिसकी सिद्धि न हो उसे अविनाभावी संबंध कहते हैं, जैसे—जहाँ-जहाँ धुआं है, वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य है। अथवा जहाँ-जहाँ वर्षा है, वहाँ-वहाँ मेघ अवश्य हैं।

अविभागी जिसके विभाग न हो सके, वह अंश अविभागी (indivisible) कहलाता है। प्रदेश, परमाणु और समय अविभागी हैं।

असंख्यात जैन गणित के अनुसार संख्याएं तीन प्रकार की हैं—संख्यात, असंख्यात और अनन्त। असंख्यात अनन्त से कम और संख्यात से अधिक है।

असंयममय जिस प्रवृत्ति में हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि का प्रयोग हो, वह 'असंयम-मय' कहलाती है।

असात वेदनीय जिस कर्म के उदय से दुःख, पीड़ा, वेदना आदि का संवेदन हो, वह कर्म असात वेदनीय कर्म कहलाता है।

अस्तिकाय जो द्रव्य अनेक सूक्ष्म विभागों (प्रदेशों) का है और जो आकाश (space) में विस्तार (extension) बनाए रखता है, अस्तिकाय है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से अस्ति का अर्थ है—प्रदेश और काय का अर्थ है—समूह।

अस्तित्व होना, विद्यमानता (existence)।

अस्तित्व-विषयक वस्तु के मूल अस्तित्व के विषय में (ontological)।

अस्ति-धर्म धर्म यानी गुण या स्वभाव। जो 'अस्तित्व'—सूचक गुण है वह अस्ति-धर्म है। देखें, नास्तिधर्म। अग्नि में 'उष्णता' अस्ति-धर्म है।

अहेतुगम्य जिस पदार्थ को किसी हेतु यानी तर्क के द्वारा नहीं जाना जा सकता।

आत्मवाद जो आत्मा (चैतन्य-लक्षण-युक्त) के स्वतन्त्र त्रैकालिक अस्तित्व का स्वीकार करे, वह सिद्धान्त।

आगम जैन धर्म के मूल शास्त्र आगम कहलाते हैं। आगमों में भगवान् महावीर की वाणी को उनके

प्रमुख ज्ञानी शिष्यों (गणधरों) द्वारा गुम्फित किया जाता है।

आप्त — जो यथार्थ ज्ञान के धारक हैं और यथार्थ प्रतिपादन करते हैं, वे आप्त कहलाते हैं। जैन दर्शन 'वीतराग' को ही आप्त मानता है।

आलय विज्ञान — चेतना-सन्तति। बौद्ध दर्शन के अनुसार चेतना की जो सन्तति यानी श्रृंखला है, वह आलय-विज्ञान कहलाता है।

आवलिका — यह काल-सूचक एक अति सूक्ष्म नाप है। ४८ मिनट में १,६७,७७,२१६ आवलिकाएं होती हैं।

आवश्यक कर्म — श्रावक व साधु को अपने व्रत की रक्षा के लिए नित्य छह क्रिया करनी आवश्यक हैं।

जो इन्द्रिय के वश्य (अधीन) नहीं है उसे आवश्यक कहते हैं। ऐसे संयमी के रात व दिन में करने योग्य कार्यों का नाम आवश्यक है।

आस्तिक — सामान्यतया ईश्वर में विश्वास रखने वाला व्यक्ति आस्तिक कहलाता है, पर व्यापक दृष्टि से चिन्तन करने पर आत्मा, परमात्मा, परलोक, धर्म, पुण्य-पाप आदि लोकोत्तर तत्त्वों में विश्वास रखने वाला आस्तिक है।

आश्रव — कर्म ग्रहण करने वाले आत्मा के परिणाम आस्रव कहलाते हैं। ये चेतना की वे अवस्थाएं हैं जो कर्म-बंधन के लिए जिम्मेदार हैं। इन्हें 'आस्रव-द्वार' भी कहा जाता है क्योंकि ये कर्म के प्रवेश के लिए खुले द्वार हैं। देखें 'परिणाम'।

आस्रव-चतुष्टय — मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद और कषाय—ये चार आस्रव-चतुष्टय कहलाते हैं।

ईहा — इन्द्रिय और वस्तु के संबंध होते ही 'सत्ता' (है) का बोध होना 'अवग्रह' है। अवग्रह द्वारा जाने हुए पदार्थ के स्वरूप का निश्चय करने के लिए विमर्श करने वाले ज्ञानक्रम का नाम ईहा है।

उत्पाद — चेतन व अचेतन दोनों ही द्रव्य अपनी जाति को कभी नहीं छोड़ते। फिर भी अन्तरंग और बहिरंग

	निमित्त से प्रति-समय अपने आप में जो नवीन अवस्था की प्राप्ति होती है उसे उत्पाद कहते हैं। देखें, व्यय।
उदय	कर्म जब भोगे जाते हैं, तब उनकी अवस्था को 'उदय' कहते हैं।
उदीरणा	कर्म की एक अवस्था जिससे निर्धारित समय से पूर्व कर्मों को उदय में लाया जाता है। उदीरणा में अपवर्तना होना जरूरी है। उदीरणा पुरुषार्थ या अन्य निमित्त से भी हो सकती है। उदीरणा की प्रक्रिया से जीव विशेष पुरुषार्थ द्वारा निर्धारित समय से पूर्व उनसे मुक्त हो सकता है।
उद्वर्तना	कर्म की अवस्था जिसमें कर्म की स्थिति और अनुभाग में वृद्धि होती है। अर्थात् जिससे बंधे हुए कर्मों का काल-मान बढ़ जाता है और रस (विपाक) तीव्र बन जाता है, वैसा प्रयत्न उद्वर्तना की अवस्था के लिए जिम्मेवार है।
उपादान कारण (Material Cause)	जो कारण स्वयं कार्य रूप में परिणत हो जाता है, वह उपादान कारण कहलाता है। जैसे घड़े का उपादान कारण मिट्टी है।
उपादेय	ग्रहण करने योग्य, हितकर। देखें, हेय।
उपनिषद्	वैदिक परम्परा के मौलिक ग्रन्थ, जो वेदों के बाद ऋषियों द्वारा रचे गए।
ऊर्ध्व-प्रचय और तिर्यक्-प्रचय	वस्तु में दो प्रकार के धर्म हैं—क्रमवर्ती और अक्रमवर्ती या सहवर्ती। क्रमवर्ती को ऊर्ध्व प्रचय और अक्रमवर्ती को तिर्यक प्रचय कहते हैं। ऊर्ध्व प्रचय 'काल' की अपेक्षा से है, तिर्यक्-प्रचय क्षेत्र (आकाश) की अपेक्षा से है।
ओघ-संज्ञा	अनुकरण की प्रवृत्ति अथवा अव्यक्त चेतना या सामान्य उपयोग, जैसे—लताएं वृक्ष पर चढ़ती हैं। यह वृक्षारोहण का ज्ञान ओघ-संज्ञा है।
करण-वीर्य	वीर्य का अर्थ है—आत्म-शक्ति। लब्धि-वीर्य को काम में लेकर आत्मा उपयुक्त पुद्गलों (शरीर आदि) के संयोग से जो सामर्थ्य पैदा करता है, उसे

करण-वीर्य या क्रियात्मक-शक्ति कहा जाता है। करण-वीर्य में जीव और पुद्गल की मिली-जुली शक्ति है। देखें, लब्धि-वीर्य।

कर्मवाद — जो आत्मा द्वारा किए गए शुभ-अशुभ कर्मों के फलस्वरूप आत्मा के साथ बंधने वाले कर्म नामक पुद्गल विशेष का वास्तविक अस्तित्व स्वीकार करे, वह सिद्धांत।

कषाय — क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कषाय हैं। जीव में कषाय के 'परिणाम' मोह-कर्म के उदय के कारण निरन्तर बने रहते हैं। कषाय 'आस्रव' है।

काय-गुप्ति — शरीर की क्रियाओं का संयम करना काय-गुप्ति है। जैसे—चलना, हिलना-डुलना आदि का निरोध कर स्थिर रहना।

केवलज्ञान, केवली — सम्पूर्ण निरावरण ज्ञान यानी सर्वज्ञता 'केवल ज्ञान' है और केवल-ज्ञान प्राप्त व्यक्ति केवली कहलाते हैं।

क्रियावाद — जो मोक्ष के लिए प्ररूपित साधना-पद्धति में विश्वास करे, वह सिद्धांत। प्राचीन युग में क्रियावाद आस्तिकवाद का ही पर्यायवाची था।

क्षयोपशम — चार घात्य कर्मों के विपाक-उदय के अभाव को क्षयोपशम कहते हैं। क्षयोपशम में प्रदेशोदय होता है, विपाकोदय का अभाव होता है या मन्द विपाकोदय ही होता है। जो कर्म उदय-आवलिका में प्रविष्ट हो चुके हैं उनका क्षय होता है और जो उदय में नहीं आए हैं उनका विपाक-उदय न होना अर्थात् उपशम होना। यह उपशम क्षय के द्वारा उपलक्षित है, अतएव क्षयोपशम कहलाता है।

क्षीणदोषयति — जो मुनि राग-द्वेष आदि दोषों को क्षीण कर चुके हैं यानी वीतराग बन चुके हैं, वे वैदिक परम्परा में क्षीणदोषयति कहलाते हैं।

गति — जीव संसार में विभिन्न पर्यायों (अवस्थाओं) में जन्म ग्रहण करता रहता है। कभी वह मनुष्य बनता है, कभी पशु आदि। इन अवस्थाओं को मुख्य रूप से चार प्रकार में बाँटा गया है, जिसे 'गति' कहते हैं।

	मृत्यु के बाद जीव मुनष्य, देव, नारक या तिर्यंच (पशु, पक्षी, कीट-पतंग या स्थावर जीव आदि)—इन चार गतियों में से किसी एक गति में जाता है और जन्म लेता है।
गवेषणा	जिस ज्ञान के द्वारा अपने अपूर्व अस्तित्व की खोज की जाती है। वह गवेषणा है। गहराई से छानबीन करना गवेषणा है।
गुण	द्रव्य के सहभावी धर्म को गुण कहते हैं। गुण सदा द्रव्य के पास रहता है।
गुणस्थान	देखें, भूमिकाएं
घात्य-कर्म	जो कर्म आत्मा के मूल स्वभाव ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा और चारित्र तथा शक्ति को हानि पहुँचाते हैं, वे घात्यकर्म कहलाते हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—ये चार घात्य कर्म हैं शेष चार अघात्य हैं।
चरम	अन्तिम या उत्कृष्ट। जो चरम नहीं है, वह अचरम है।
जल्प	प्रमाण और तर्क के द्वारा स्वपक्ष का स्थापन और परपक्ष का खण्डन होने पर और सिद्धान्त के अनुकूल होने पर भी यदि छल, जाति और निग्रह-स्थान का प्रयोग किया जाय, तो वह जल्प कहा जाता है।
जीवच्छरीर	सजीव शरीर। जब तक आत्मा (जीव) शरीर में है, तब तक जीवच्छरीर कहलाता है।
ज्ञेय	जानने योग्य या जिसे जानते हैं, वह वस्तु।
तज्जीव-तच्छरीरवाद	जो सिद्धान्त जीव और शरीर को एक मानता है, जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता।
तिर्यक्-प्रचय	देखें, ऊर्ध्व-प्रचय।
तिर्यग्-लोक	लोक तीन प्रकार का है—तिरछा, ऊंचा और नीचा। तिर्यग् लोक (तिरछा लोक) अठारह सौ योजना ऊंचा और असंख्य द्वीप-समुद्र-परिणाम विस्तृत है। असंख्य द्वीप-समुद्र तिर्यक् समभूमि पर तिरछे अवस्थित हैं। अतः उसको तिर्यग् लोक कहते हैं। यह पूरे लोक के मध्य में हैं।

त्रस संसारी जीव का एक प्रकार जो गमनागमन करने में सक्षम है। हित की प्रवृत्ति एवं अहित की निवृत्ति के निमित्त गमन करने वाले जीव त्रस कहलाते हैं।

त्रस-नाड़ी पूरे लोक का मध्यवर्ती वह भाग जहाँ गमनशील प्राणी जन्म लेते हैं, उसे त्रस-नाड़ी कहते हैं। त्रस-नाड़ी चौदह रज्जू लम्बी होती है, पर उसकी गहराई और चौड़ाई केवल एक रज्जू है।

त्रिविध दुःख योग दर्शन के अनुसार दुःख के तीन प्रकार हैं—१. आध्यात्मिक, २. आधिभौतिक, ३. आधिदैविक।

दलिक वे कर्म जो पुरुषार्थ-विशेष के द्वारा परिवर्तित हो सकते हैं।

देश किसी भी वस्तु का बुद्धि द्वारा परिकल्पित एक विभाग या अंश 'देश' कहलाता है। देश वस्तु से सदा संलग्न होता है।

द्रव्य विश्व के मौलिक पदार्थ (ultimate substances) जिन्हें अन्य पदार्थ में बदला नहीं जा सकता। जैन दर्शन ने छह द्रव्य माने हैं—धर्म द्रव्य (गति-माध्यम), अधर्म द्रव्य (स्थिति-माध्यम), आकाश, काल, पुद्गल और जीव।

द्रव्य कर्म आत्मा के साथ बंधनेवाले कर्म-पुद्गल 'द्रव्य-कर्म' कहलाते हैं। (देखें, भाव-कर्म)।

द्रव्य इन्द्रिय देखें, भाव इन्द्रिय।

द्रव्यार्थिक नय नय का अर्थ है दृष्टिकोण। जब वस्तु को केवल द्रव्य की दृष्टि से देखा जाता है, तब उस दृष्टिकोण को द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। द्रव्य ही जिसका प्रयोजन हो, वह द्रव्यार्थिक है। पर्याय (अंश) को गौण करके जो इस लोक में द्रव्य (अंश) को ग्रहण करता है, वह द्राव्यार्थिक नय है। देखें, पर्यायार्थिक नय।

द्विप्रदेशी (द्वयणुक) स्कन्ध जिस पुद्गल में दो परमाणु होते हैं, वह द्विप्रदेशी या द्वयणुक स्कन्ध कहलाता है। इसी प्रकार त्रिप्रदेशी, चतुःप्रदेशी आदि स्कन्ध होते हैं। देखें, स्कन्ध।

धर्म-दर्शन धर्म का दर्शन (Philosophy of Religion) धर्म-दर्शन है। धर्म लोकोत्तर तत्त्व में मान्यता की सूचक प्रणाली है।

धर्म-द्रव्य (धर्मास्तिकाय) लोक-व्यापी गति का अनिवार्य माध्यम जो अभौतिक और अचेतन (अजीव) द्रव्य है। किसी भी प्रकार की गति में यह अनिवार्यतया सहायक होता है। छह मूलभूत द्रव्यों में से एक है।

ध्रौव्य शाश्वत। अनादिकालीन पारिणामिक स्वभाव का न उत्पाद होता है और न व्यय किन्तु वह स्थिर रहता है। इसलिए उसे ध्रुव कहा जाता है। तथा इस ध्रुव का भाव या कर्म ध्रौव्य कहलाता है। जैसे मिट्टी के पिण्ड और घटादि अवस्थाओं में मिट्टी का अन्वय बना रहता है। देखें, उत्पाद और व्यय।

नय अनन्त धर्मात्मक होने से वस्तु जटिल है। उसका सम्पूर्ण ज्ञान, "प्रमाण" और अंश "नय" कहलाता है। नय सात हैं—नैगम, संग्रह, ऋजुसूत्र, समभिरूढ़, निश्चय, व्यवहार, एवं भूत।

नास्तिक जो आस्तिक नहीं है, वह नास्तिक है। देखें आस्तिक।

नास्ति-धर्म धर्म यानि गुण या स्वभाव। जो "नास्तित्व" सूचक गुण है, वह नास्तिक-धर्म है। देखें, अस्ति-धर्म। अग्नि में "शीतता" नास्ति-धर्म है।

निकाचित वे कर्म जो किसी भी पुरुषार्थ के द्वारा परिवर्तित नहीं हो सकते। उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा, आदि किसी भी "करण" का प्रयोग जिसमें संभव नहीं है।

निगोद सूक्ष्म एकेन्द्रिय तथा अनन्तकाय वनस्पति के जीव निगोद कहलाते हैं। निगोद के जीव एक मुहूर्त ४८ मिनट में) ६५५३६ भव (जन्म-मृत्यु) कर लेते हैं। यह जीव की न्यूनतम विकसित अवस्था है।

निरोध बौद्ध दर्शन में प्रतिपादित आर्य-सत्यों में चौथा।

निर्जरा कर्मों में आंशिक विच्छेद के कारण होने वाली आत्मा की निर्मल अवस्था। उपचार से निर्जरा में निमित्तभूत क्रिया—तपस्या को भी निर्जरा कहा जाता है।

परम अस्तिवादी परम आस्तिक। आत्मा और मोक्ष की परम वास्तविकता को स्वीकार करने वाले।

परिणाम परिणमन को परिणाम भी कहते हैं, जो जीव आदि द्रव्यों की सूक्ष्म अवस्थाएं हैं, जिनमें सूक्ष्म परिवर्तन घटित होता रहता है। जैसे जीव के विभिन्न परिणाम होते हैं—कर्म बंधन के, कर्म को रोकने आदि।

परिणमन परिवर्तन। प्रत्येक द्रव्य में सतत चलने वाली परिवर्तन को परिणमन कहते हैं।

पर्याय शाब्दिक अर्थ है—अवस्था का परिवर्तन। पूर्व आकार (अवस्था) के परित्याग और उत्तर आकार की उपलब्धि को पर्याय कहते हैं। पर्याय सदा बदलती रहती है। यह द्रव्य का बदलने वाला धर्म है। पर्याय द्रव्य और गुण—दोनों की होती है।

पर्यायार्थिक नय जब वस्तु को केवल पर्याय की दृष्टि से देखा जाता है, तब उस दृष्टिकोण को पर्यायार्थिक नय कहा जाता है। देखें, द्रव्यार्थिक नय।

पलायनवाद संसार के कर्त्तव्यों से विमुख होकर भाग छूटना—संन्यासी बन जाना।

पुद्गल जैन दर्शन में भौतिक तत्त्व (physical order of existence) के लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द जिसमें समस्त जड़ पदार्थ (matter) और सभी प्रकार की जड़ ऊर्जाओं का समावेश हो जाता है।

पृथ्वीकायिक जीव जैन दर्शन के अनुसार पृथ्वी यानी मिट्टी, खनिज पदार्थ आदि "जीव" होते हैं। इन जीवों को पृथ्वीकायिक जीव की संज्ञा दी गई है—पृथ्वी है काया जिसकी, वह पृथ्वीकायिक।

पौद्गलिक पुद्गल का और पुद्गल से सम्बन्धित। देखें, पुद्गल।

प्रतिलेखन जैन साधु प्रतिदिन अपने पास रखी हुई सभी वस्तुओं—वस्त्र, पात्र आदि का निरीक्षण करते हैं, इसे प्रतिलेखन कहते हैं। निरीक्षण का उद्देश्य है, वस्तुओं में कोई जीव-जन्तु हो, तो उसे देखकर सावधानीपूर्वक हटाना।

प्रदेश द्रव्य का निरंश अवयव। किसी भी द्रव्य का वह संलग्न सूक्ष्म अंश जिसे दो भागों में विभाजित नहीं

किया जा सकता। यह प्रत्येक द्रव्य की क्षेत्रीय इकाई है। भूमिति के बिन्दु (point) के साथ इसकी तुलना की जा सकती है।

प्रदेश-उदय कर्म जब उदय अवस्था को प्राप्त होते हैं, तो पहले प्रदेश-उदय होता है, फिर विपाक-उदय। प्रदेश-उदय में कर्म का नाम मात्र उदय होता है। उसका फल तो विपाक उदय में ही मिलता है। देखें, उदय।

प्रमाण यथार्थ ज्ञान को प्रमाण कहा जाता है।

प्रमेय प्रमाण के विषय को प्रमेय कहते हैं। यथार्थ ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। जो पदार्थ ज्ञान का विषय है वह प्रमेय है।

प्रागभाव (प्राग् + अभाव) अभाव का एक भेद। कार्य का अपनी उत्पत्ति से पहले न होना उसका प्रागभाव है।

बन्ध आत्मा के साथ बन्धे हुए कर्म जो उसे संसारावस्था में बांधे रखते हैं।

भव जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त मनुष्य, देव आदि जिस "गति" में आत्मा रहती है वह एक "भव" कहलाता है।

भाव-इन्द्रिय नाक, कान आदि इन्द्रियों की बाहरी और भीतरी पौद्गलिक रचना (आकार-विशेष) द्रव्येन्द्रिय कहलाती है, इससे विपरीत आत्मा को जानने की योग्यता और प्रवृत्ति भावेन्द्रिक कहलाती है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न स्पर्श आदि विषयों को जानने की शक्ति तथा अर्थ को ग्रहण करने वाला आत्मा का व्यापार (प्रवृत्ति) भावेन्द्रिय के अन्तर्गत आते हैं।

भाव-कर्म कर्म-बंध में हेतुभूत आत्मा की अवस्था भाव कर्म कहलाते हैं। भाव-कर्म द्रव्य-कर्म के बंधन का मूल कारण है। द्रव्य कर्म अजीव है, भाव कर्म जीव (आत्मा की ही अवस्था है)।

भाषा (चार प्रकार—सत्य, असत्य, मिश्र, व्यवहार) जीव जो वाणी बोलता है, वह चार प्रकारों में से किसी एक प्रकार की हो सकती है—

१. सत्य भाषा—सत्य (यथार्थ) बात बोलना।

२. असत्य भाषा—असत्य (अयथार्थ) बात बोलना।

३. मिश्र भाषा—सत्य और असत्य का मिश्रित रूप मिश्र भाषा कहलाती है, जो कपटपूर्वक बोली जाती है।

४. व्यवहार भाषा—जो सत्य, असत्य न हो। जैसे—आदेश, उपदेश देना।

भूमिका (गुणस्थान) आध्यात्मिक विकास के विभिन्न स्तर गुणस्थान कहलाते हैं। इन्हें अध्यात्म की भूमिकाएं भी कहा जाता है। ये चौदह हैं। पहली चार भूमिकाएं असंयमी जीवों की, पांचवीं संयतासंयत की और छठी से चौदहवीं तक संयत जीवों की होती है।

मन गुप्ति राग, द्वेष आदि कलुष भावों से मन को हटा लेना मनोगुप्ति है। मानसिक चिन्तन, स्मृति, कल्पना आदि में प्रवृत्त न होना।

मार्ग बौद्ध दर्शन में प्रतिपादित अष्टांगिक साधना-पथ।

मार्गणा जिन-प्रवचन दृष्ट जीव जिन भावों के द्वारा खोजे जाते हैं, उन्हें मार्गणा कहते हैं।

मीमांसा "अवग्रह" के द्वारा गृहीत अर्थ विशेष रूप से जिसके द्वारा विचारा जाता है, उसे मीमांसा कहते हैं। सामान्य भाषा में इसका अर्थ है—गहराई से चिन्तन करना।

मोक्ष सब कर्मों से मुक्त आत्मा की अवस्था मोक्ष है।

यथार्थ ज्ञान जैसी वस्तु है, उसे उसी रूप में जानना।

युक्ति न्याय-संगत या तर्क-संगत विचार।

योजन दूरी मापने का प्राचीनकालीन माप। सामान्यतः १ योजन के ८ मील होते हैं। पर जो शाश्वत-कालीन क्षेत्र आदि हैं, उनके माप सामान्य से १००० गुने होते हैं। अतः उस सन्दर्भ में योजन ८००० मील होता है।

रज्जू विशाल दूरी नापने का एक माप जो जैन विश्व-विज्ञान में प्रयुक्त हुआ है। आधुनिक विज्ञान जो 'प्रकाश-वर्ष' का प्रयोग लम्बी दूरियों के मापने

के लिए करता है, उसके साथ यह तुलनीय होता है। एक रज्जू के असंख्यात योजन होते हैं।

रूपी मूर्त। जिस पदार्थ में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श हो, वह रूपी और न हो, वह अरूपी कहलाता है। पुद्गल द्रव्य रूपी है, शेष पाँच द्रव्य अरूपी हैं।

लब्धि-वीर्य वीर्य का अर्थ है—आत्म-शक्ति। अन्तराय कर्म के द्वारा इसका निरोध होता है। जब अन्तराय-कर्म का विलय (आंशिक) किया जाता है, तब भीतर की शक्ति प्रकट हो सकती है। देखें, करण-वीर्य।

लेश्या आत्मा के वे परिणाम जो विशेष प्रकार के रंगीन पुद्गलों के प्रभाव से बनते हैं। लेश्या का शुभत्व और अशुभत्व रंग पर आधारित है। कृष्ण (काला), नील और कापोत (कबूतरी) रंग अशुभ लेश्या को उत्पन्न करते हैं, जबकि तेजस (लाल), पद्म (पीला) और शुक्ल (सफेद) रंग शुभ लेश्या को उत्पन्न करते हैं।

लोकवाद जो लोक—सभी द्रव्यों के समूह रूप विश्व की वास्तविक सत्ता—को शाश्वत माने, वह सिद्धान्त।

लोक-संज्ञा लौकिक कल्पनाएं अथवा व्यक्त चेतना या विशेष उपयोग। अर्थात् विशेष अवबोध को लोक-संज्ञा कहते हैं, जिसका तात्पर्य है विभागात्मक ज्ञान—इन्द्रिय ज्ञान और मानस ज्ञान।

लोकायत मत नास्तिक दर्शन की एक विचारधारा जो आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करती है।

वचन-गुप्ति असत्य भाषण आदि से निवृत्त होना अथवा मौन धारण करना वचनगुप्ति है।

वस्तु-वृत्त वस्तु के गुण-धर्म या स्वभाव, लक्षण आदि।

वाद हार-जीत के अभिप्राय से की गई किसी विषय सम्बन्धी चर्चा वाद कहलाता है।

विजातीय सम्बन्ध आत्मा और कर्म (पुद्गल) दो स्वतन्त्र द्रव्य हैं, दोनों विजातीय हैं। उनका सम्बन्ध "विजातीय सम्बन्ध" कहलाता है।

वितण्डा स्वपक्ष की स्थापना किये बिना, केवल पर-पक्ष का खण्डन करना वितण्डा है।

विपाक-उदय जब कर्म उदय में आते हैं (अर्थात् भोगे जाते हैं), तब वे दो प्रकार से उदय में आते हैं—पहले प्रदेश-उदय अर्थात् सत्ता (अबाधा काल) की समाप्ति पर कर्मों का आत्म-प्रदेश में भोगा जाना। उसके पश्चात् वे विपाक-उदय में आते हैं, जिसमें वे अपना फल देते हैं। विशेष पुरुषार्थ के द्वारा विपाक-उदय न होने दिया जाय, तो बिना फल-भुक्ति भी आत्मा कर्म से मुक्त हो जाती है। क्षयोपशम में यही प्रक्रिया होती है। देखें, क्षयोपशम।

वीतराग जो राग और द्वेष—दोनों को समाप्त कर देते हैं, वे वीतराग कहलाते हैं।

वैभाविक दशा जो अपना स्वभाव न हो, अन्य निमित्तों के कारण जो दशा घटित हो, वह वैभाविक दशा है। जैसे—आत्मा का स्वभाव है—कर्म-मुक्त दशा और जन्म-मृत्यु या संसार है वैभाविक दशा।

वैभाविक परिवर्तन (पर्याय) जीव के निमित्त से पुद्गल में और पुद्गल के निमित्त से जीव में जो परिवर्तन होता है वह वैभाविक परिवर्तन कहलाता है।

व्यय पूर्व अवस्था के त्याग को व्यय कहते हैं। जैसे घट की उत्पत्ति होने पर पिण्ड रूप आकार का त्याग हो जाता है। देखें, उत्पाद।

व्युत्पत्तिमान जिस शब्द की व्युत्पत्ति अर्थवान् हो, वह व्युत्पत्तिमान शब्द है।

शरीर-नाम-कर्म आठ कर्मों में एक है नाम-कर्म, जिसके उदय से जीव शरीर-सम्बन्धी विभिन्न सामग्री प्राप्त करता है। नाम-कर्म का एक भेद है 'शरीर-नाम-कर्म' जिससे शरीर प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, औदारिक शरीर नाम कर्म के उदय से औदारिक शरीर, वैकिय शरीर नाम कर्म के उदय से वैक्रिय शरीर आदि।

श्रमण प्राचीन काल से भारत में प्रचलित संस्कृति और परम्परा जो वेदों में विश्वास नहीं रखती थी। ब्राह्मण

	या वैदिक संस्कृति और परम्परा इसकी विरोधी थी। जैन और बौद्ध धर्म श्रमणों की देन है।
श्रेय	अपना कल्याण या आत्म-कल्याण
संक्रमण	पुरुषार्थ आदि के द्वारा बंधे हुए कर्मों की प्रकृति समान जातीय प्रकृति में रूपान्तरित की जाती है। उसे संक्रमण कहते हैं। जैसे—'असात-वेदनीय' कर्म को 'सात-वेदनीय' में रूपान्तरित कर देना।
संघात	एकत्रीकरण, मिलन (association, fusion)।
संज्ञा	वृत्तियाँ (instincts) जो चेतना में आन्तरिक स्तर पर सदैव विद्यमान रहती हैं।
सत् (Reality)	सत् अस्तित्व का सूचक है। उत्पाद व्यय व ध्रौव्य इन तीनों की युगपत् अवस्थिति सत् है। जो वास्तविक है वह सत् है। जो अवास्तविक है वह असत् है।
सन्तति	लम्बी शृंखला या प्रवाह रूप से चलने वाली परम्परा।
संवर	कर्म-पुद्गलों का निरोध करने वाली आत्मा की अवस्था।
संसार-मोक्ष	सांसारिक दशा से मुक्त होने की स्थिति।
सपर्यवसित	देखें, अपर्यवसित।
सप्रदेशी	जिसके "प्रदेश" होते हैं, वे सप्रदेशी कहलाता है। देखें, प्रदेश।
समय	काल का सूक्ष्तम अविभागी (अविभाज्य) अंश "समय" कहलाता है। असंख्यात समयों की एक आवलिका होती है। देखें, आवलिका।
समय-क्षेत्र	मनुष्य-लोक। लोक के जिस हिस्से में व्यावहारिक काल (दिन, रात आदि) होता है, वह क्षेत्र समय-क्षेत्र कहलाता है।
समुदाय	बौद्ध दर्शन में प्रतिपादित आर्य-सत्यों में दूसरा।
साधन	जिससे लक्ष्य प्राप्त किया जाता है।
साध्य	जिसे प्रापत करना है, वह लक्ष्य।
स्कन्ध	परमाणुओं के एकीभाव को स्कन्ध कहते हैं। दो परमाणुओं के मिलने से बनने वाला स्कन्ध द्वि-प्रदेशी

स्कन्ध कहलाता है। इसी प्रकार असंख्यात प्रदेशी, अनन्त प्रदेशी स्कन्ध होते हैं।

स्थावर संसारी जीवों का एक प्रकार जिनमें चलने-फिरने की क्षमता नहीं है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व वनस्पतिकाय के एकेन्द्रिय जीव अपने स्थान पर स्थित रहने के कारण स्थावर कहलाते हैं।

स्थावर-नाड़ी त्रस-नाड़ी के अतिरिक्त लोक का भाग स्थावर नाड़ी कहलाता है। देखें—त्रस-नाड़ी।

स्थिति जब कर्म बंधते हैं तो उसी समय इनकी स्थिति (कालावधि) भी निर्धारित होती है, उसे "स्थिति" या स्थिति-बंध कहा जाता है। जितनी स्थिति होती है, उतने समय तक वे कर्म जीव के साथ रहते हैं, बाद में आत्मा से अलग हो जाते हैं।

स्यात् इसका अर्थ है "किसी एक अपेक्षा से"। यह अव्यय है, जो स्याद्वाद में प्रयुक्त होता है।

स्वयंजात अपने आपसे आविर्भूत, किसी अन्य के द्वारा बनाया हुआ नहीं।

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष जो प्रत्यक्ष ज्ञान केवल आत्मानुभूति का ही विषय बन सकता है, वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है। उसे दूसरों को अनुभव नहीं कराया जा सकता।

हान बौद्ध दर्शन में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द जिसका अर्थ है—मोक्ष।

हेतुगम्य जो किसी हेतु या तर्क द्वारा जाना जा सकता है।

हेय छोड़ने योग्य, अहितकर। देखें, उपादेय।

□□□